प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१० प्रथम संस्करण १०,०००

मूल्य तीन रुपये पचीस पैसे

मुद्रक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )

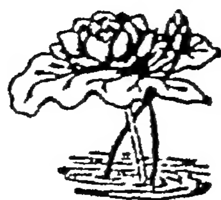
# प्रथम खण्ड

श्रीहरि

# प्रथम संस्करणका नम्र निवेदन

हमारे परम श्रद्धेय तथा गीता-ज्ञान-पिपासुओंके सुपरिचित स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा अत्यन्त सरल एवं सुबोधगम्य भाषा-शैलीमें लिखित यह 'गीताका कर्मयोग' छोटी-छोटी कड़ियोंके रूपमें 'कल्याण'में प्रकाशित होता आ रहा है। अनेक परमार्थ-पथ-पथिक भाई-बहिनोंके विशेष आग्रहपर उसीका विस्तृत एवं संशोधित संस्करण पुस्तकके रूपमें आपके हाथोंमें है। भगवत्-प्राप्तिका उद्देश्य रखनेवाले साधकोंसे मेरा नम्र निवेदन है कि कर्मयोगकी उपादेयताको भलीभाँति हृदयङ्गम करनेके लिये प्रस्तुत पुस्तकका गहराईसे अध्ययन करें। इससे उन्हें अपने साधन-पथमें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हो सकती है।

—प्रकाशक



# विषय-सूची



## तीसरा अध्याय

ॐ श्रीपरमात्मने नम

# अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

*अर्जुन उवाच*

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

*श्रीभगवानुवाच*

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम
तृतीयोऽध्याय ॥ ३ ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

# गीताका कर्मयोग

## प्राक्कथन

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

'हे प्रभो! वैदिक ( ऋक्, साम और यजुः ) मत, साङ्ख्ययोग, कर्मयोग, शैवमत, वैष्णवमत आदि भिन्न-भिन्न मार्गोंमें 'यह श्रेष्ठ है, यह हितकर है' इस प्रकार रुचिवैचित्र्यके कारण अनेक प्रकारके सीधे और टेढ़े मार्गोंको अपनानेवाले मनुष्योंके लिये आप ही एकमात्र प्राप्तव्य स्थान हैं, जैसे सम्पूर्ण नदियोंका प्रापणीय स्थान समुद्र है।'

श्रीभगवान्‌ने गीतामें प्रकृति और पुरुष—दोनोंको अनादि बतलाया है—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' ( १३ । १९ )। तात्पर्य है कि इन दोनोंमेंसे किसीकी भी उत्पत्ति नहीं हुई है। ये दोनों अनादिकालसे हैं, अतः इन दोनोंका भेद भी अनादिकालसे है। इस भेदके ज्ञानको ही 'विवेक' कहते हैं। [illegible] पुरुष प्रकृति ( असत् )से [illegible] है और जन्म-मरणमें बँध जाता है। [illegible] यह विवेक ही बोधके रूपमें [illegible] हो जाता है।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शरीरमे रहता हुआ भी यह पुरुष शरीरसे पर अर्थात् सम्बन्धरहित है—'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः' ( गीता १३ । २२ ); और शरीरमे रहता हुआ भी वास्तवमे न तो कुछ करता है तथा न लिप्त ही होता है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' ( गीता १३ । ३१ ) । यह पुरुषकी वस्तुस्थिति है । इस वस्तुस्थितिका बोध करनेके लिये भगवान्‌ने ( गीता ३ । ३ में ) दो प्रकारकी निष्ठाएँ बतलायी है—साङ्ख्यनिष्ठा ( ज्ञानयोग ) और योगनिष्ठा ( कर्मयोग ) ।

प्रकृतिमें निरन्तर क्रिया होती रहती है । वह किसी भी अवस्थामे कभी अक्रिय नहीं रहती । महाप्रलयकी अवस्थामें भी प्रकृति निरन्तर क्रियाशील रहती है, इसीलिये महाप्रलयका अन्त और सृष्टिका आरम्भ होता है । इसी प्रकार सुषुप्ति, समाधि आदिकी अवस्थाओमे भी सूक्ष्मरूपसे निरन्तर क्रिया होती रहती है । जब स्वय ( पुरुष ) प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब वह प्रकृतिके वशमें होकर उसमे होनेवाली क्रियाओको अपनेमें आरोपित कर लेता है ( गीता ३ । २७ ) । इसलिये कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामे ( जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा एवं समाधितकमे भी ) क्षणमात्रके लिये भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता ।* कारण कि प्रकृतिजनित गुणोके वशमें होकर सभी मनुष्योको कर्म करनेके लिये

---

* न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
( गीता ३ । ५ )
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
( गीता १८ । ११ )

बाध्य होना पड़ता है ( गीता ३ । ५ ) । इसीलिये मनुष्योंमें स्वभावसे ही कर्म करनेका एक वेग विद्यमान रहता है । हठपूर्वक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करने अथवा अपने लिये कर्म करनेपर वह वेग शान्त नहीं होता ( गीता ३ । ४ ) । यदि कुछ समयके लिये शान्त हो भी जाता है, तो वह वेग मनुष्यको पुनः कर्मोंमें प्रवृत्त कर देता है ।* जब मनुष्य अपने लिये क्रिया करता है अर्थात् कामना, ममता, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमानको साथ रखकर क्रिया करता है, तब वह क्रिया 'कर्म' बनकर मनुष्यको बाँध देती है— 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' । कारण कि प्राकृत पदार्थ और क्रियामात्रका सम्बन्ध सदैव 'पर' के साथ है, 'स्व' के साथ बिल्कुल नहीं । 'स्व' नित्य अपरिवर्तनशील और अविनाशी है, परन्तु पदार्थ तथा क्रियाएँ नित्य परिवर्तनशील और आदि-अन्तवाली हैं । इन प्राकृत पदार्थों और क्रियाओंसे विवेक-विचारके द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद करना ज्ञानयोग है और क्रियाओंके द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद करना कर्मयोग है ।

## कर्मयोगका तत्त्व

किये जाते हैं, तब 'योग' अपने लिये होता है। कारण कि दूसरोंके लिये ही सब कर्म करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी ओर हो जाता है, जिससे संसार ( शरीर )से माना हुआ सम्बन्ध टूट जाता है और स्वरूपके साथ अपनी जो स्वतःसिद्ध एकता है, उसका अनुभव हो जाता है। इस एकताका नाम 'योग' है। परन्तु जब अपने लिये कर्म किये जाते हैं, तब 'योग' नहीं होता, प्रत्युत 'भोग' होता है। भोगसे संसार ( शरीर )का सम्बन्ध दृढ होता है।

स्थूलशरीरकी स्थूलसंसारके साथ, सूक्ष्मशरीरकी सूक्ष्मसंसारके साथ और कारणशरीरकी कारणसंसारके साथ स्वतःसिद्ध एकता है; इसलिये स्थूलशरीरसे होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारणशरीरसे होनेवाली 'स्थिरता' ( समाधि )*— तीनोंका ही सम्बन्ध संसारके साथ है, अपने साथ नहीं। इसलिये इन तीनोंको संसारकी सेवाके लिये ही करना है, अपने लिये नहीं।

अपना हित दूसरोंके लिये कर्म करनेसे होता है, अपने लिये कर्म करनेसे नहीं, क्योंकि दूसरोंके हितमें ही अपना हित निहित है।

---

* जबतक प्रकृतिका सम्बन्ध रहता है, तबतक दो अवस्थाएँ रहती हैं, क्योंकि परिवर्तनशील होनेसे प्रकृति कभी एकरूप नहीं रहती। अतएव समाधि और व्युत्थान—ये दोनों अवस्थाएँ प्रकृतिके सम्बन्धसे ही होती हैं। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर सहज समाधि अथवा सहजावस्था होती है, जिससे कभी व्युत्थान नहीं होता। इसलिये सहजावस्थाको सबसे उत्तम कहा गया है—

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा।
कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा॥

दूसरोंके हितसे अपना हित अलग मानना ही भूल है। व्यक्तिगत हितकी इच्छा रहनेसे व्यक्तित्व नहीं टूटता। मनुष्य अपने हितके लिये जो कुछ करता है, वह सब संसारद्वारा प्रदत्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके संगठनसे ही करता है। अतः कर्म संसारकी सामग्रीसे करना और हित अकेले चाहना न्याययुक्त नहीं है। संसारके हितका भाव होनेसे अपना हित निश्चितरूपसे स्वतः हो जाता है।

## कर्म अपने लिये क्यों न करें ?

कर्म अपने लिये क्यों न करें ? इसमें पहला कारण यह है कि स्वयं चेतन परमात्माका अंश है और कर्म जड़ हैं। स्वयं नित्य-निरन्तर रहता है, पर कर्मका तथा उसके फलका आदि और अन्त होता है। इसलिये अपने लिये कर्म करनेसे आदि-अन्तवाले कर्म और फलसे अपना सम्बन्ध जुड़ता है। कर्म और फलका तो अन्त हो जाता है, पर उनका सङ्ग भीतर रह जाता है, जो जन्म-मरणका कारण होता है—'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गीता १३। २१)।

दूसरा कारण यह है कि स्वयं सत्-स्वरूप है, इसलिये उसमें कभी कोई कमी नहीं आती—'नाभावो विद्यते सतः' (गीता २। १६)। कमी आनेपर ही कुछ पानेकी इच्छा होती है और कुछ पानेकी इच्छा होनेसे ही कर्म करनेमें प्रवृत्ति होती है। जिसमें कभी कोई कमी नहीं आती, उसपर करनेका दायित्व नहीं आता अर्थात् उसे अपने लिये कुछ करना नहीं है।

तीसरा कारण यह है कि जैसे कितना ही चतुर कारीगर क्यो न हो, पर औजारोके बिना वह कार्य नहीं कर सकता, वैसे ही शरीर आदिकी सहायताके बिना स्वयं कोई क्रिया नहीं कर सकता। स्वयमें ( स्वरूपमें ) प्रकृतिके सम्बन्धके बिना सासारिक क्रिया करनेकी किञ्चिन्मात्र भी सामर्थ्य, योग्यता नहीं है। अतः अपने लिये कुछ नहीं करना है—यह विधान हो गया; क्योकि जो स्वयं कुछ नहीं कर सकता, उसपर करनेका दायित्व नहीं आता।

## कर्मयोगकी खास बात—

कर्मयोगकी खास बात है—कर्मोसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर अपने स्वरूपमें स्थिति होना। वास्तवमें स्वरूपमें स्थिति स्वतःसिद्ध है। क्रियाओ और पदार्थोके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही अपने स्वरूपका साक्षात् अनुभव नहीं होता। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी योगमार्ग है, उन सबमें 'योग' ही मुख्य है। यदि योग न हो तो केवल कर्म होगे, कर्मयोग नहीं होगा। ऐसे ही योग न हो तो केवल शास्त्रीय ज्ञान होगा, ज्ञानयोग नहीं होगा।

## 'योग'का तात्पर्य—

गीतामें 'योग' शब्दकी व्याख्या भगवान्‌ने दो प्रकारसे की है—

( १ ) समताको योग कहते हैं—**'समत्वं योग उच्यते'** ( २। ४८ )।

( २ ) दुःख-संयोगके वियोगको योग कहते हैं— 'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' ( ६ । २३ ) ।

परमात्मा 'सम' हैं— 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' ( गीता ५ । १९ ); अतः समतासे परमात्मामें स्थिति होती है, जिसे 'योग' कहते हैं । संसारका सम्बन्ध ही 'दुःखसंयोग' है; अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'योग' समता या परमात्माके नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है *। कर्मयोगमें 'योग'का ही महत्त्व है, 'कर्म' का नहीं । इसलिये भगवान्‌ने कहा है कि कर्मयोगी सुकृत-दुष्कृत दोनोंका त्याग कर देता है, इसलिये कर्मोंमें योग ही कुशलता है— 'योगः कर्मसु कौशलम्' ( गीता २ । ५० ) ।

दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्मयोग होता है और अपने लिये कर्म करनेसे कर्मभोग होता है । जो सदाके लिये मिलता है और सबको मिलता है, वह 'योग' होता है । परन्तु जो कभी मिलता है, कभी नहीं मिलता और किसीको मिलता है, किसीको नहीं मिलता,

* पातञ्जलयोगदर्शन समाधिको 'योग' मानता है, पर गीता परमात्माके नित्यसिद्ध सम्बन्धको ही 'योग' मानती है । पातञ्जलयोगदर्शनका 'योग' शब्द 'युज् समाधौ' धातुसे और गीतोक्त 'योग' शब्द 'युजिर् योगे' धातुसे निष्पन्न है । जीवमात्रका परमात्मासे नित्य-सम्बन्ध है, परन्तु संसारसे माने हुए सम्बन्धके कारण वह उस नित्य-सम्बन्धसे विमुख हो गया है, उसे भूल गया है । अतः संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद 'विवेक-विचार'से करनेपर ज्ञानयोग और 'सेवा'से करनेपर कर्मयोग होता है । इस प्रकार संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक परमात्माके 'नित्ययोग' अर्थात् नित्य-सम्बन्धका, जो अनादिकालसे नित्यसिद्ध है, अनुभव करनेका नाम 'योग' है ।

वह 'भोग' होता है। योगमे भगवान्‌से सम्बन्ध जुडता है और भोगमे संसारसे सम्बन्ध जुडता है। योग तो नित्य रहता है, पर भोगका नाश हो जाता है। जबतक भोग है, तबतक योगका अनुभव नहीं होता। भोगका सर्वथा त्याग होनेपर ही योगका अनुभव होता है।

## अधिकारी—

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये तीन योग बतलाये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग*। इन तीनोंके सिवा अन्य कोई कल्याणका मार्ग नहीं है अर्थात् अन्य सब उपाय इन्हींके अन्तर्गत आ जाते हैं†। जो लोग संसारमें

---

* स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंका संसारके साथ अभिन्न सम्बन्ध है। इसलिये इन तीनोंको संसारकी सेवामें लगा दे—यह कर्मयोग हुआ, स्वयं इनसे असङ्ग हो जाय—यह ज्ञानयोग हुआ, और स्वयंको भगवान्‌के अर्पित कर दे—यह भक्तियोग हुआ। इन तीनों योगोंको सिद्ध करनेके लिये अर्थात् अपना उद्धार करनेके लिये मनुष्यको तीन शक्तियाँ प्राप्त हैं—करनेकी शक्ति ( बल ), जाननेकी शक्ति ( ज्ञान ) और माननेकी शक्ति ( विश्वास )। करनेकी शक्ति संसारकी सेवा करनेके लिये है, जो कर्मयोग है, जाननेकी शक्ति अपने स्वरूपको जाननेके लिये है, जो ज्ञानयोग है और माननेकी शक्ति भगवान्‌को अपना और अपनेको भगवान्‌का माननेके लिये है, जो भक्तियोग है।

† योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
( श्रीमद्भा० ११। २०। ६ )

(१) लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(३ । ३)

(२) यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
(५ । ५)

(३) ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
(१३ । २४)

कर्मयोगी कामना मिटानेके उद्देश्यसे दूसरोंके लिये कर्म करता है। इस प्रकार कर्म करते-करते जब वह सर्वथा निष्काम हो जाता है, तब वह सिद्ध हो जाता है। फिर उसके कर्म दग्ध अर्थात् अकर्म हो जाते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४ । १९)

## कर्मयोगमें निष्कामता—

कर्मयोगमें कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं; क्योंकि जड होनेके कारण कर्म स्वयं निष्काम या सकाम नहीं हो सकते। कर्म कर्ताके अधीन होते हैं, इसलिये कर्मोंकी अभिव्यक्ति कर्तासे ही होती है। निष्काम कर्ताके द्वारा ही निष्काम कर्म होते हैं, जिसे कर्मयोग कहते हैं। अतः चाहे 'कर्मयोग' कहो या 'निष्काम-कर्म'—दोनोंका अर्थ एक ही होता है। सकाम कर्मयोग होता ही नहीं। निष्काम होनेसे कर्ता कर्मफलसे असङ्ग रहता है; परन्तु जब कर्तामें सकामभाव

आ जाता है, तब वह कर्मफलसे बँध जाता है ( गीता ५ । १२ )। सकामभाव तभी नष्ट होता है, जब कर्ता कोई भी कर्म अपने लिये नहीं करता, प्रत्युत सम्पूर्ण कर्म दूसरोंके हितके लिये ही करता है। इसलिये कर्ताका भाव नित्य-निरन्तर निष्काम रहना चाहिये। कर्तामें जितना निष्कामभाव होगा, उतना ही कर्मयोगका सही आचरण होगा। कर्ताके सर्वथा निष्काम होनेपर कर्मयोग सिद्ध हो जाता है।

## कर्तव्यका स्वरूप—

कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसे सुखपूर्वक कर सकते हैं, जिसे अवश्य करना चाहिये अर्थात् जो करनेयोग्य है और जिसे करनेसे उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य होती है। जो नहीं कर सकते, उसे करनेकी जिम्मेवारी किसीपर नहीं है और जिसे नहीं करना चाहिये, उसे करना ही नहीं है। जिसे नहीं करना चाहिये, उसे न करनेसे दो अवस्थाएँ स्वतः आती हैं—निर्विकल्प अवस्था अर्थात् कुछ न करना अथवा जिसे करना चाहिये, उसे करना।

कर्तव्य सदा निष्कामभावसे एवं परहितकी दृष्टिसे किया जाता है। सकामभावसे किया गया कर्म बन्धनकारक होता है, इसलिये उसे करना ही नहीं है। निष्कामभावसे किया जानेवाला कर्म फलकी कामनासे रहित होता है, उद्देश्यसे रहित नहीं। उद्देश्यरहित चेष्टा तो पागलकी होती है। फल और उद्देश्य—दोनोंमें अन्तर होता है। फल उत्पन्न और नष्ट होनेवाला होता है, पर उद्देश्य नित्य होता है। उद्देश्य नित्यप्राप्त परमात्माके अनुभवका होता है, जिसके लिये मनुष्यजन्म हुआ है। अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे उस

परमात्माका अनुभव नहीं होता । सकामभाव, प्रमाद, आलस्य आदि रहनेसे अपने कर्तव्यका पालन कठिन प्रतीत होता है ।

## कर्मयोगमें परिश्रम और पराश्रयका अभाव—

वास्तवमें कर्तव्य-कर्मका पालन करनेमें परिश्रम नहीं है । कर्तव्य-कर्म सहज, स्वाभाविक होता है, क्योंकि यह स्वधर्म है । परिश्रम तब होता है, जब अहंता, आसक्ति, ममता, कामनासे युक्त होकर अर्थात् 'अपने लिये' कर्म करते हैं । इसलिये भगवान्‌ने राजस कर्मको परिश्रमयुक्त बतलाया है* ।

जैसे भगवान्‌के द्वारा प्राणिमात्रका हित होता है, वैसे ही भगवान्‌की शक्ति भी प्राणिमात्रके हितमें निरन्तर लगी हुई है । जिस प्रकार आकाशवाणीकेन्द्रके द्वारा प्रसारित विशेष शक्तियुक्त ध्वनि सब जगह फैल जाती है, पर रेडियोके द्वारा जिस नंबरपर उस ध्वनिसे एकता ( सजातीयता ) होती है, उस नंबरपर वह ध्वनि पकड़में आ जाती है । इसी प्रकार जब कर्मयोगी स्वार्थभावका त्याग करके केवल संसारमात्रके हितके भावसे ही समस्त कर्म करता है, तब भगवान्‌की सर्वव्यापी हितैषिणी शक्तिसे उसकी एकता हो जाती है और उसके कर्मोंमें विलक्षणता आ जाती है । भगवान्‌की शक्तिसे एकता होनेसे

---

* यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
( गीता १८ । २४ )

'जो कर्म भोगोंको चाहनेवाले पुरुषके द्वारा अहंकार अथवा परिश्रमपूर्वक किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ।'

उसमें भगवान्‌की शक्ति ही काम करती है और उस शक्तिके द्वारा ही लोगोका हित होता है। इसलिये कर्तव्य-कर्म करनेमे न तो कोई बाधा लगती है और न परिश्रमका अनुभव ही होता है।

कर्मयोगमें पराश्रयकी भी आवश्यकता नहीं है। जो परिस्थिति प्राप्त हो जाय, उसीमें कर्मयोगका पालन करना है। कर्मयोगके अनुसार किसीके कार्यमें आवश्यकता पडनेपर सहायता कर देना 'सेवा' है; जैसे—किसीकी गाडी खराब हो गयी और वह उसे धक्का देनेका प्रयत्न कर रहा है; अतः हम भी इस काममें उसकी सहायता करें, तो यह सेवा है। जो जान-बूझकर कार्यको खोज-खोजकर सेवा करता है, वह कर्म करता है, सेवा नहीं; क्योंकि ऐसा करनेसे उसका उद्देश्य पारमार्थिक न रहकर लौकिक हो जाता है। सेवा वह है, जो परिस्थितिके अनुरूप की जाय। कर्मयोगी न तो परिस्थिति बदलता है और न परिस्थिति ढूँढता है। वह तो प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करता है। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग ही कर्मयोग है।

### शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी सेवा—

जैसे संसार 'पर' है, वैसे ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि भी 'पर' अर्थात् दूसरे ही हैं; अतः कर्मयोगी इन्हे अपना न मानकर इनकी भी सेवा करता है। शरीरको निद्रालु, आलसी, प्रमादी, निकम्मा और भोगी न बनने देना 'शरीर' की सेवा है। इन्द्रियोको सांसारिक भोगोंमें न लगने देना 'इन्द्रियों'की सेवा है। मनको किसीका अहित सोचनेमें, विषयोके चिन्तनमें तथा व्यर्थ चिन्तनमें न लगने देना 'मन'की सेवा है। बुद्धिको दूसरोंके कर्तव्यपर विचार

न करने देना, दूसरा क्या करता है. क्या नहीं—यह न सोचने देना 'बुद्धि'की सेवा है। वास्तवमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें ममता-आसक्ति न रखना ही इनकी सबसे बड़ी सेवा है। इसलिये कहा है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
(गीता ५। ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके द्वारा भी आसक्तिका त्याग करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके साथ 'केवलैः' ( ममतारहित–अकेले ) पदका प्रयोग करके भगवान् यह कहते हैं कि इन्हे अपना नहीं मानना है। ये संसारकी हैं और संसारसे ही मिली है, इसलिये इन्हें संसारकी ही सेवामें लगा देना है। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें किञ्चित् भी ममता ( अपनापन ) न रहना ही 'अन्तःकरणकी शुद्धि' है।

## समाज और विश्वकी सेवा—

प्राणिमात्रके हितके उद्देश्यसे कर्मयोगीके लिये बुराईका त्याग करना जितना आवश्यक है, उतना भलाई करना आवश्यक नहीं है। भलाई करनेसे केवल समाजका हित होता है; परंतु बुराईरहित होनेसे विश्वमात्रका हित होता है। कारण यह है कि भलाई करनेमें सीमित क्रियाओं और पदार्थोंकी प्रधानता रहती है; परन्तु बुराईरहित होनेमें भीतरका असीम भाव प्रधान रहता है। यदि

भीतरसे बुरा भाव दूर न हुआ हो और बाहरसे भलाई करे तो इससे अभिमान पैदा होगा, जो आसुरी-सम्पत्तिका मूल है। भलाई करनेका अभिमान तभी पैदा होता है, जब भीतर कुछ-न-कुछ बुराई हो। जहाँ अपूर्णता (कमी) होती है, वहीं अभिमान पैदा होता है। परन्तु जहाँ पूर्णता है, वहाँ अभिमानका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

गहराईसे देखा जाय तो नाशवान् वस्तुओंकी सहायताके बिना भलाई नहीं की जा सकती। जिन वस्तुओंसे हम भलाई करते है, वे वस्तुएँ हमारी है ही नहीं, प्रत्युत उन्हींकी हैं, जिनकी हम भलाई करते है। फिर भी यदि भलाईका अभिमान होता है, तो यह नाशवान्‌का सङ्ग है। जबतक नाशवान्‌का सङ्ग है, तबतक 'योग'की सिद्धि नहीं होती। मैंने भलाई की—यह अभिमान बुराईसे भी अधिक भयंकर है; क्योंकि यह भाव मैं-पनमे बैठ जाता है। कर्म और फल तो मिट जाते हैं, पर जबतक मैं-पन रहता है, तबतक मैं-पनमें बैठा हुआ भलाईका अभिमान नहीं मिटता। दूसरी बात, बुराईको तो हम बुराईरूपसे जानते ही है, पर भलाईको बुराईरूपसे नहीं जानते। इसलिये भलाईके अभिमानका त्याग करना बहुत कठिन है; जैसे—लोहेकी हथकड़ीका तो त्याग कर सकते है, पर सोनेकी हथकड़ीका त्याग नहीं कर सकते; क्योकि वह गहनारूपसे दीखती है। इसलिये बुराईरहित होकर ही भलाई करनी चाहिये। वास्तवमें बुराईका त्याग होनेपर विश्वमात्रकी भलाई अपने-आप होती है, करनी नहीं पडती। इसलिये बुराईरहित महापुरुष यदि हिमालयकी एकान्त गुफामे भी बैठा हो, तो भी उसके द्वारा विश्वका बहुत हित होता है।

## कर्मयोगका सिद्धान्त–

हमारे पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सामर्थ्य, योग्यता, विद्या, धन, जमीन आदि जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब हमें समष्टि संसारसे ही मिली हैं, हमारी व्यक्तिगत नहीं है। प्रत्यक्ष है कि इन मिली हुई वस्तुओंपर हमारा कोई अधिकार नहीं चलता। इन वस्तुओंको हम अपने इच्छानुसार न तो रख सकते हैं और न उनमें कोई परिवर्तन ही कर सकते हैं। इन्हें न तो हम अपने साथ लाये हैं और न साथ ले जा ही सकते हैं। ये वस्तुएँ अपने लिये भी नहीं हैं; क्योंकि इनके मिलनेपर भी 'और मिले' यह इच्छा रहती है। यदि ये अपने लिये होतीं तो इनके मिलनेके बाद और कुछ पानेकी इच्छा न होती। वास्तवमें ये वस्तुएँ हमें दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये ही मिली हैं, अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं। संसारसे प्राप्त शरीरादि वस्तुओंसे हमने अभीतक अपने लिये ही कर्म किये हैं और अपने सुख-भोगके लिये ही उनका उपयोग किया है, इसलिये संसारका हमपर ऋण है। कोई भी मनुष्य दूसरोंकी सहायता लिये बिना जी नहीं सकता—यह भी दूसरोंका ऋण है। इस ऋणको उतारनेके लिये हमें केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करने हैं। फलकी कामना रखकर कर्म करनेसे पुराना ऋण तो उतरता नहीं, नया ऋण और उत्पन्न हो जाता है*।

* इसीलिये भगवान‌ने गीतामें जगह-जगह कर्मफलकी कामना-आसक्तिके त्यागपर जोर दिया है, जैसे—'मा फलेषु कदाचन,' 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' ( २। ४७ ), 'कृपणाः फलहेतवः' ( २। ४९ ), 'फलं त्यक्त्वा मनीषिणः' ( २। ५१ ), 'न मे कर्मफले स्पृहा' ( ४। १४ ), 'त्यक्त्वा

ऋणसे मुक्त होनेके लिये नया जन्म लेना पडता है । परन्तु दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे पुराना ऋण समाप्त हो जाता है, और फलकी कामना न रखनेसे नया ऋण उत्पन्न नहीं होता । ऋण-मुक्त होनेपर मनुष्य जन्म-मरणसे छूट जाता है । इसलिये भगवान् कहते हैं—

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।**
**मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥** ( गीता २ । ४७ )

तात्पर्य है कि मनुष्यको केवल कर्म करनेका अधिकार है । पुराने कर्मोंके फलस्वरूप मिली हुई सामग्रीपर तथा नये ( अभी किये जानेवाले ) कर्मोंके फलस्वरूप आगे मिलनेवाली सामग्रीपर भी उसका कोई अधिकार नहीं है । इसलिये मनुष्यको कर्मोंके फलका हेतु भी नहीं बनना चाहिये*, और कर्म न करनेमें उसकी आसक्ति भी नहीं होनी चाहिये ।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

जड चेतनहि ग्रंथि परि गई । जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥
( मानस ७ । ११६ । २ )

शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानना ही जड़-चेतनकी ग्रन्थि है । यह ग्रन्थि मिथ्या इसलिये है कि जड परिवर्तनशील है और चेतन अपरिवर्तनशील; अतः दोनोंकी कभी एकता हो ही नहीं सकती । चेतनने ही शरीरमें मैं-मेरापन करके इस ग्रन्थिको उत्पन्न किया है ।

---

कर्मफलासङ्गम्' ( ४ । २० ), 'युक्तः कर्मफल त्यक्त्वा' ( ५ । १२ ), 'अनाश्रितः कर्मफलम्' ( ६ । १ ), 'सर्वकर्मफलत्यागम्' ( १२ । ११ ); 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' ( १८ । ६ ), 'सङ्ग त्यक्त्वा फल चैव' ( १८ । ९ ), 'यस्तु कर्मफलत्यागी' ( १८ । ११ ), इत्यादि ।

* कर्मोंमें और कर्म करनेकी सामग्रीमे जो अपनापन होता है, वह कर्मफलका हेतु हो जाता है ।

मैं-मेरापन वास्तवमें है नहीं, केवल माना हुआ है *। परन्तु संयोगजन्य सुखकी लालसा रहनेके कारण इस ग्रन्थिको तोड़ना कठिन प्रतीत होता है। अत. इस मैं-मेरेपनकी ग्रन्थिको तोड़नेका सुगम उपाय है—दूसरोंको सुख पहुँचाना। दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपने सुखका त्याग सुगमतासे हो जाता है। जैसे, माँ और बालक—दोनो भूखे हो और अन्न मिल जाय, तो माँ पहले बालकको अन्न देगी। बालकको भूखा रखकर पहले माँ अन्न खा ले—ऐसा सम्भव नहीं। इससे सिद्ध होता है कि दूसरेको सुख देनेसे अपने सुखका त्याग स्वतः होता है। माँमें तो ममता रहती है। यदि ममता और स्वार्थ न हो एवं केवल दूसरेके हितका भाव और चेष्टा हो, तो यह 'कर्मयोग' हो जायगा। दूसरेको सुख-आराम कैसे मिले? दूसरेका हित कैसे हो?—इस प्रकार दूसरोंके हितमें रति (प्रीति) होनेसे यदि सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति चाहें तो सगुण ब्रह्मकी और यदि निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति चाहे तो निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।† इसके विपरीत जबतक सांसारिक सुख लेनेकी वृत्ति

* प्रकृति और पुरुष—दोनों अलग-अलग हैं। जब पुरुष अपनेको प्रकृतिके अंश—शरीरमें मिला देता है, तब 'अहंता' (मैं-पन) उत्पन्न होती है, और जब शरीरको अपनेमें मिला लेता है, तब 'ममता' (मेरापन) उत्पन्न होती है। अहंता होनेपर शरीर 'सत्य' प्रतीत होता है और ममता होनेपर शरीर 'प्रिय' प्रतीत होता है। इसलिये अहंता होनेसे वह अपनेको शरीर मान लेता है और ममता होनेसे शरीरको अपना मान लेता है।

† सगुण ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये कहा गया है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता ॥ (गीता १२ । ४)

और निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये कहा गया है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण ·· सर्वभूतहिते रताः ॥ (गीता ५ । २५)

नहीं मिटेगी, तबतक कितना ही पढ़-लिख लें, कितने ही चतुर और समझदार बन जायँ, कितने ही व्याख्यानदाता बन जायँ, कितनी ही पुस्तकें लिख लें, पर ग्रन्थि-भेदन नहीं होगा।

कर्मयोगका स्वरुप है—सेवा। केवल सेवारूपसे कर्तव्य-कर्म करनेपर शरीरादिसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जाता है। कारण कि सेवा करनेकी सामग्री, योग्यता, शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिकी संसारके साथ एकता है। अतः इन्हे संसारकी ही सेवामें अर्पित कर देनेसे इनका प्रवाह संसारकी ओर ही हो जाता है, जिससे इनसे माना हुआ सम्बन्ध स्वतः छूट जाता है। कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करके सेवा करनेसे 'मै सेवक हूँ' ऐसा अभिमान भी नहीं रहता, प्रत्युत मै-पन सेवारूप ही हो जाता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके साथ-साथ मै-पन भी संसारकी सेवामे लग जाता है। परन्तु ज्ञानयोगमें 'मै शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हूँ'—इस रूपमे मै-पन सूक्ष्मरूपसे अपने साथ रहता है। अतः कर्मयोगमें मै-पनका त्याग सुगमतासे हो जाता है।

मिली हुई सामग्रीका त्याग करना कर्मयोगीके लिये जितना सुगम पड़ता है, उतना ज्ञानयोगीके लिये नहीं। ज्ञानयोगकी दृष्टिसे किसी वस्तुको मायामात्र समझकर ऐसे ही उसका त्याग कर देना कठिन पडता है, परन्तु वही वस्तु किसीके काम आती हुई दिखायी दे, तो उसका त्याग करना सुगम पडता है। दूसरी बात, मायामात्र समझकर त्याग करनेमें ( यदि तेजीका वैराग्य न हो तो ) जिन वस्तुओंमे हमारी सुखबुद्धि नहीं है उन खराब वस्तुओंका त्याग तो सुगमतासे हो जाता है, पर जिनमें हमारी सुखबुद्धि है, उन अच्छी वस्तुओंका त्याग कठिनतासे होता है। परन्तु दूसरेके काम आती

देखकर जिन वस्तुओंमें हमारी सुखबुद्धि है, उन वस्तुओंका त्याग सुगमतासे हो जाता है, जैसे—भोजनके समय थालीमेंसे रोटी निकालनी पड़े तो ठंडी, बासी और रूखी रोटी ही निकालेंगे। परन्तु यदि वही रोटी किसी दूसरेको देनी हो तो अच्छी रोटी ही निकालेंगे, खराब नहीं।

आजकल लोगोंमे प्रायः यह बात प्रचलित है कि मनुष्यके लिये ही यह सब संसार है, इसलिये सासारिक भोगोको भोगना चाहिये। यह बिल्कुल उल्टी बात है। वास्तवमें संसार मनुष्यके लिये नहीं है, प्रत्युत मनुष्य संसारके लिये है। कारण कि व्यष्टि ही समष्टिका होता है, समष्टि व्यष्टिका नहीं होता; जैसे—लहरें ही समुद्रकी होती हैं, समुद्र लहरोका नहीं होता। चौरासी लाख योनियोमें जितने जीव हैं, वे सब कर्मफल भोगनेके लिये मानो जेलखानेमें पड़े कैदी हैं। कैदियोके प्रबन्ध और हितके लिये जैसे अफसर रहता है, वैसे ही मनुष्य संसारके प्रबन्ध और हितके लिये है। संसारकी सेवाके लिये ही मनुष्यका आना हुआ है। यदि प्याऊपर बैठा व्यक्ति यह सोचे कि जल मेरे लिये ही है अथवा मुनीम यह सोचे कि धन मेरे लिये ही है, तो यह कितनी मूर्खताकी बात होगी! ऐसे ही सांसारिक भोगोको अपना और अपने लिये मानना मूर्खता ही है। कर्मयोगमें सासारिक भोगोका अथवा व्यक्तिगत सुखका सर्वथा त्याग होता है। इसलिये कर्मयोगको 'त्याग'के नामसे कहा जाता है (गीता १८।१—१२)।

## मनुष्यके लिये कर्मयोगकी आवश्यकता—

मनुष्यको कर्मसङ्गी कहा गया है—'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते' (गीता १४।१५)। वह कर्मसङ्गसे ही बँधता है, कर्मसे नहीं। इसलिये कर्मसङ्गसे मुक्त होनेके लिये मनुष्यको असङ्ग होना

है। कारण कि जो सङ्गी है, उसे ही असङ्ग होना है। असङ्ग होनेके लिये कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना अनिवार्य है। कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद तभी होगा, जब कर्म अपने लिये न किये जायँ, प्रत्युत दूसरोंके लिये ही किये जायँ। इसलिये 'अपने लिये कुछ नहीं करना है'—इस कर्मयोगकी प्रणालीको अपनाना मनुष्यमात्रके लिये आवश्यक है।

मनुष्ययोनि कर्मप्रधान है; अतएव मनुष्यके लिये कर्मयोग मुख्य है। मनुष्यमें कर्म करनेकी एक स्वाभाविक रुचि विद्यमान रहती है। कारण यह है कि वह कुछ-न-कुछ पाना चाहता है। अतः कुछ-न-कुछ पानेके लिये वह मृत्युपर्यन्त आसक्तिपूर्वक कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। कुछ पानेकी आशाके कारण कर्मोंमें उसकी आसक्ति इतनी अधिक रहती है कि जब वृद्धावस्थामें उसकी इन्द्रियाँ कर्म करनेमें असमर्थ हो जाती हैं, तब भी वह कर्मोंसे असङ्ग नहीं हो पाता। इस प्रकार आसक्तिपूर्वक कर्म करते-करते ही वह कालके मुखमें चला जाता है। ऐसी परिस्थितिमें हठपूर्वक कर्मोंका त्याग करनेकी अपेक्षा कोई ऐसा उपाय ही सफल हो सकता है, जिसके अन्तर्गत शास्त्रविहित कर्म करते हुए ही कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय और मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति हो जाय। इस दृष्टिसे मनुष्यके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान ही एक सफल एवं सुगम उपाय है।

कर्मयोग-पद्धति एक आविष्कार अथवा अन्वेषण (खोज) है, नया निर्माण नहीं है। खोज उसी वस्तुकी होती है, जो पहलेसे विद्यमान है। कर्मका संसारसे और जीवका परमात्मासे सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। स्वतःसिद्ध वस्तुका अनुभव करना खोज है, निर्माण नहीं। कर्मों और पदार्थोंका हमसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। ऐसी कोई क्रिया, पदार्थ, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि नहीं है

जो एक क्षण भी हमारे साथ रहती हो। कर्मों और पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे कर्म और पदार्थ तो नहीं रहते, केवल बन्धन रह जाता है। अतः कर्मों और पदार्थोंके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है—यह वास्तविकता है। इस वास्तविकताका हमें अनुभव करना है; इसकी हमें खोज करनी है।

## गीताका कर्मयोग—

संसारसे संयोग और परमात्मासे वियोग केवल माना हुआ है। इस मान्यताको मिटानेके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान करना अर्थात् कर्ममात्र सेवारूपसे केवल दूसरोंके हितके लिये करना आवश्यक है। इस विषयका वर्णन विशेषरूपसे तीसरे अध्यायमें किया गया है। इसलिये तीसरे अध्यायका नाम 'कर्मयोग' है। कर्म करते हुए निर्लिप्त रहनेकी विद्याका वर्णन विशेषरूपसे चौथे अध्यायमें किया गया है। चौथे अध्यायमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये कर्मयोगका वर्णन भी हुआ है और सांख्ययोगका भी। इसलिये इस अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' है। इसीपर पाँचवाँ अध्याय चला है। पाँचवें अध्यायमें कर्मयोग और सांख्ययोग दोनोंका वर्णन होनेसे इस अध्यायका नाम 'कर्मसंन्यासयोग' है। यद्यपि कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनों ही योग कल्याण करनेवाले हैं, तथापि सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोगका अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य सुगमतापूर्वक कर सकता है। (५। २—६) तीसरे, चौथे और पाँचवें—इन तीनों ही अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या साधकोंकी सेवामें प्रस्तुत है।

विनीत—

स्वामी रामसुखदास



श्रीमुरली मनोहर

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

# गीताका कर्मयोग

## [ प्रथम खण्ड ]

### [ श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या ]

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

## अथ तृतीयोऽध्यायः

### अवतरणिका—

श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश मनुष्यमात्रके अनुभवपर आधारित है। इसका दिव्य उपदेश ( २ । ११ से ) प्रारम्भ करनेपर सबसे पहले भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि शरीर और शरीरी एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं। शरीर अनित्य, असत्, एकदेशीय और नाशवान् है तथा शरीरी नित्य, सत्, सर्वव्यापी और अविनाशी है। अतएव नाशवान् वस्तुका विनाश देखकर दुःखी नहीं होना और अविनाशी

वस्तुकी अविनाशिता देखकर उसे बनाये रखनेकी इच्छा नहीं करना 'विवेक' कहा जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें विवेककी अत्यन्त आवश्यकता है। 'मैं शरीरसे सर्वथा भिन्न हूँ'—ऐसा विवेक होनेपर ही मुक्तिकी अभिलाषा जाग्रत् होती है। मुक्तिकी बात तो दूर रही, स्वर्गादिकी प्राप्तिकी कामना भी अपनेको शरीरसे अलग माननेपर ही उत्पन्न होती है। इसीलिये भगवान्‌ने अपने उपदेशका प्रारम्भ करते ही सबसे पहले विवेकका ही वर्णन किया है।

गीताका उपर्युक्त विवेक-प्रकरण दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे प्रारम्भ होकर तीसवें श्लोकपर समाप्त होता है। विवेकके इस प्रकरणमें भगवान्‌ने आत्मा, अनात्मा, प्रकृति, पुरुष, ब्रह्म, अविद्या, ईश्वर, जीव, जगत्, माया आदि किसी भी दार्शनिक शब्दका प्रयोग नहीं किया है* प्रत्युत सभी मनुष्य सरलतासे समझ सकें, ऐसे ढंगसे भगवान्‌ने उसका विवेचन प्रस्तुत किया है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यमात्र परमात्मप्राप्तिका अधिकारी है, क्योंकि मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। अतएव मनुष्यमात्र उपर्युक्त विवेकको महत्त्व देकर परमात्मप्राप्ति कर सकता है।

---

* यद्यपि इस प्रकरणमें दो बार ( २। १५ और २१ में ) 'पुरुष' शब्दका प्रयोग किया गया है, तथापि वह दार्शनिक 'प्रकृति-पुरुष' के अर्थमें प्रयुक्त न होकर 'मनुष्य' के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकरणमे भगवान्‌ने 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग भी नहीं किया है । वस्तुतः नित्य और अनित्य, सत् और असत्, अविनाशी और विनाशी, शरीरी और शरीरको अलग-अलग समझनेके लिये 'विवेक'की ही आवश्यकता है, 'बुद्धि'की नहीं । विवेक बुद्धिसे परे है । जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं*, वैसे ही उनकी भिन्नताको प्रकट करनेवाला विवेक भी अनादि है । यही विवेक बुद्धिमें प्रकट होता है । यह भगवत्प्रदत्त विवेक समस्त प्राणियोंको नित्यप्राप्त है । पशु-पक्षी भी खाद्य-अखाद्य पदार्थोंकी भिन्नताको जानते हैं । लता-वृक्षमें भी सरदी-गरमी, अनुकूलता-प्रतिकूलताकी भिन्नताका ज्ञान रहता है । बुद्धिप्रधान होनेके कारण मनुष्यको यह विवेक विशेषरूपसे प्राप्त है । पशु-पक्षी आदिमें तो जीवन-निर्वाहमात्रके लिये जड़-पदार्थोंका विवेक रहता है, पर मनुष्य अपने विवेकसे सदाके लिये जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकता है । यही मनुष्यके विवेककी विशेषता है ।

विवेक जाग्रत् होनेपर अर्थात् शरीर और शरीरीकी भिन्नताका अनुभव होनेपर अपने कहलानेवाले शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-सहित संसारका सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जो कि वास्तवमें है; और बुद्धि शुद्ध तथा सम हो जाती है अर्थात् बुद्धिका विषमभाव मिट जाता है ।

दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें भगवान् सबसे पहली बार

---

* प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । ( गीता १३ । १९ )

'बुद्धि' शब्दका प्रयोग करते हैं*। यहींसे कर्मयोगका प्रकरण प्रारम्भ होता है, जो चौथे अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः' पदोंसे समाप्त हुआ है। इस प्रकरणमें भगवान्‌ने कर्तव्य कर्मके पालनपर विशेष जोर दिया है।

कर्मयोगमें बुद्धिके एक निश्चयकी प्रधानता है—'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह' ( गीता २ । ४१ )।† मनुष्यका जब अपने कल्याण अथवा परमात्मप्राप्तिका ही एक निश्चय हो जाता है, तब उसे अनुकूलता और प्रतिकूलता बाधा नहीं पहुँचाती और इस प्रकार कुछ किये बिना ही उसकी बुद्धि स्वतः सम होने लगती है। बुद्धिको सम करनेके लिये तभीतक कहा जाता है, जबतक बुद्धिमें संसारका महत्त्व, आकर्षण, खिंचाव रहता है। एक निश्चयात्मिका बुद्धि हो जानेपर संसारका महत्त्व, आकर्षण, खिंचाव स्वतः मिटने लग जाता है। ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि होनेमें

---

* एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
( गीता २ । ३९ )

'हे पार्थ! यह समबुद्धि तेरे लिये सांख्ययोगके विषयमें कही गयी और इसीको अब तू कर्मयोगके विषयमें सुन।'

† सांख्ययोगमें विवेककी, भक्तियोगमें श्रद्धा-विश्वासकी एवं कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धिकी प्रधानता रहती है। कर्मयोगमें विवेक तथा श्रद्धा-विश्वास न होते हों—ऐसा नहीं है, पर मुख्यता एक निश्चयात्मिका बुद्धिकी रहती है। ऐसे ही सांख्ययोग एवं भक्तियोगमें भी निश्चयात्मिका बुद्धि रहती है।

भोग और संग्रहकी आसक्तिको महान् बाधक बतलाया गया है *।

इस प्रकार कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धिकी अत्यन्त आवश्यकता बतलानेके बाद भगवान् अर्जुनको समभावपूर्वक कर्तव्यकर्म करनेके लिये विशेषरूपसे कहते हैं, जैसे—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** ( २ । ४७ ), **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** ( २ । ४८ ), 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है', 'समतामें स्थित हुआ तू कर्मोंको कर'। इसके साथ यह भी कहते हैं कि—**'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्'** ( २ । ४९ ) 'बुद्धियोग ( समता ) की अपेक्षा सकाम-कर्म अत्यन्त तुच्छ हैं', आगे कहते हैं—**'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'** ( २ । ४९ ) **'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते । तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥'** ( २ । ५० ) 'तू समबुद्धिका आश्रय ग्रहण कर', 'समतापूर्वक कर्म करनेवाला पुरुष पाप और पुण्य—दोनोंको यहाँ जीवित-अवस्थामें ही त्याग देता है, इसलिये तू समताकी प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न कर; क्योंकि समता ही कर्मोंमें चतुरता है।

अर्जुनके मनमें युद्ध न करनेका आग्रह पहलेसे ही था। पहले अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं—'युद्धमें अपने कुलको मारकर मैं कल्याण भी नहीं देखता'—**'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे'**। फिर पैंतालीसवें श्लोकमें वे कहते हैं—'अहो ! शोक है कि हमलोग बुद्धिमान्

---

* भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥
( गीता २ । ४४ )

होकर भी युद्धरूप महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं'— 'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्'। आगे दूसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं—'मैं भिक्षाका अन्न खाना भी कल्याणकारक समझता हूँ, पर युद्ध करना नहीं'—'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके', और नवें श्लोकमें तो भगवान्‌की आज्ञा ('उत्तिष्ठ परंतप' २।३) के विरुद्ध अपना निर्णय ही सुना देते हैं कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—'न योत्स्ये' (गीता २।९)।

यह नियम है कि अपना आग्रह रखनेसे श्रोता वक्ताकी बातोंका आशय भलीभाँति नहीं समझ सकता। यही कारण है कि अपना (युद्ध न करनेका) आग्रह रखनेसे अर्जुन भी उपर्युक्त प्रकरणमें भगवान्‌के वचनोंका आशय भलीभाँति नहीं समझ सके। भगवान्‌के वचनोंका आशय था कि फलेच्छा रखकर कर्म करना अत्यन्त तुच्छ है; अतः फलेच्छाका त्याग करके समतापूर्वक कर्तव्य-कर्मोंको करना चाहिये। परंतु अर्जुनने यह समझा कि कर्म करनेमें कुछ भी नहीं रखा है। यज्ञ, दान, तप आदि कर्म करनेका भी कोई प्रयोजन नहीं, फिर युद्ध-जैसे घोर कर्म करनेकी तो बात ही क्या है! 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते' (२।५०) —इन भगवद्वचनोंसे अर्जुनने बुद्धिकी समताको ही श्रेष्ठ समझ लिया। इस प्रकार उनके अन्तःकरणमें समबुद्धिकी श्रेष्ठताकी छाप विशेषरूपसे पड़ गयी। अर्जुनका भाव था कि बुद्धिकी समता श्रेष्ठ है; अतः कर्मोंको करनेसे क्या लाभ? पर भगवान्‌का भाव था कि यह समबुद्धि निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्मोंको करनेसे ही आती

है। इसलिये दूसरे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने समबुद्धिकी प्राप्तिका ही उपाय बतलाया था, जो कि अर्जुनका ध्येय है।*

भगवान्‌का भाव न समझ सकनेके कारण अर्जुनको भगवान्‌के वचन मिले हुए-से जान पड़ने लगे। इसलिये भगवान्‌का अभिप्राय क्या है? वे मेरे कल्याणके लिये कौन-सा साधन श्रेष्ठ समझते हैं?—इसका स्पष्टीकरण करानेके लिये अर्जुन अगले दो श्लोकोंमें भगवान्‌से प्रश्न करते हैं।

श्लोक—

*अर्जुन उवाच*

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

भावार्थ—

अर्जुन कहते हैं—हे जनार्दन! आपकी मान्यतामें यदि कर्मोंकी अपेक्षा समबुद्धि श्रेष्ठ है, तो फिर हे केशव! मुझे घोर

---

* सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।' (पाप न होनेमें समबुद्धि ही कारण है।)

कर्ममें क्यों लगाते हैं? आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं। अतः उस एक बातको निश्चित करके कहिये, जिससे मेरा कल्याण हो।

कोई भी साधक श्रद्धापूर्वक पूछनेपर ही अपने प्रश्नका सही उत्तर प्राप्त कर सकता है। आक्षेपपूर्वक शङ्का करनेसे सही उत्तर प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं। अर्जुनकी भगवान्‌पर पूर्ण श्रद्धा है; अतः भगवान्‌के कहनेपर अर्जुन अपने कल्याणके लिये युद्ध-जैसे घोर कर्ममें भी प्रवृत्त हो सकते हैं—ऐसा भाव उपर्युक्त प्रश्नसे प्रकट होता है।

अन्वय—

जनार्दन चेत्, कर्मणः, बुद्धिः, ते, ज्यायसी, मता, तत्, केशव, माम्, घोरे, कर्मणि, किम्, नियोजयसि ॥ १ ॥

व्यामिश्रेण, इव, वाक्येन, मे, बुद्धिम्, मोहयसि, इव, तत्, एकम्, निश्चित्य, वद, येन, अहम्, श्रेयः, आप्नुयाम् ॥ २ ॥

पद-व्याख्या—

**जनार्दन**—हे जनार्दन!

इस पदसे अर्जुन मानो यह भाव प्रकट करते हैं कि हे कृष्ण! आप सभीकी याचना पूरी करनेवाले हैं, अतः मेरी याचना तो अवश्य ही पूरी करेंगे।

**चेत् कर्मणः बुद्धिः ते ज्यायसी मता**—यदि आपकी यह मान्यता है कि कर्मकी अपेक्षा समबुद्धि श्रेष्ठ है।

मनुष्यके अन्तःकरणमें एक कमजोरी रहती है कि वह प्रश्न करके उत्तरके रूपमें भी वक्तासे अपनी बात अथवा सिद्धान्तका

ही समर्थन चाहता है । इसे कमजोरी इसलिये कहा गया है कि वक्ताके निर्देशका, चाहे वह मनोऽनुकूल हो या सर्वथा प्रतिकूल, पालन करनेका निश्चय ही शूरवीरता है, शेष सब कमजोरी या कायरता ही कही जायगी । इस कमजोरीके कारण ही मनुष्यको प्रतिकूलता सहनेमें कठिनाईका अनुभव होता है । जब वह प्रतिकूलताको सह नहीं सकता, तब वह अच्छाईका चोला पहन लेता है अर्थात् तब भलाईके वेषमें बुराई आती है । जो बुराई भलाईके वेशमें आती है, उसका त्याग बहुत कठिन होता है । यहाँ अर्जुनमें भी हिंसा-त्यागरूप भलाईके वेशमें कर्तव्य-त्यागरूप बुराई आयी है । अतएव वे कर्तव्य-कर्मकी अपेक्षा समबुद्धिको श्रेष्ठ मान रहे हैं । इसी कारण वे यहाँ प्रश्न करते हैं कि यदि आप कर्मकी अपेक्षा समबुद्धिको श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर मुझे युद्धरूप घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ?

आजकल साधन करनेवाले पुरुष भी कर्तव्य-कर्मोंकी अवहेलना करते हुए ऐसा कह देते हैं कि हम भजनमें लगे हुए हैं, हमें तंग मत करो । इस प्रकार भजनके नामपर वे कर्तव्य-कर्मोंसे हटना चाहते हैं । यहाँ वास्तवमें बुराई ही भलाईके वेशमें आयी है अर्थात् यहाँ भजनके मूलमें आलस्य है, क्योंकि भजन करनेमें परिश्रम नहीं होता, जब कि कर्तव्य-कर्म करनेमें परिश्रम होता है । कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कभी भी उचित नहीं है । अतः साधकको चाहिये कि वह कर्तव्य-कर्मोंको सदैव करता रहे ।

*शङ्का*—यहाँ 'बुद्धिः' पदका अर्थ 'समबुद्धि' माननेका क्या अभिप्राय है ? यदि इसका अर्थ 'ज्ञान' मान लें तो क्या आपत्ति है ?

*समाधान*—दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने 'बुद्धिः' पदका सबसे पहली बार प्रयोग किया है। देहली-दीपक-न्याय* के अनुसार वहाँ 'बुद्धिः' पद सांख्ययोग और कर्मयोग दोनोंमें ही समबुद्धिका दिग्दर्शन कराता है। जैसे, भगवान् वहाँ कहते हैं—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' अर्थात् मैंने इस समबुद्धिको सांख्ययोगके विषयमें पहले—'समदुःखसुखं धीरम्' ( २ । १५ ) पदोंसे कह दिया है; 'बुद्धियोगे त्विमां शृणु' अर्थात् अब इसी समबुद्धिको तुम कर्मयोगके विषयमें सुनो, जिसे भगवान्‌ने आगे 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' ( २ । ४८ ) पदोंसे कहा है। तात्पर्य यह है कि किसी भी मार्गसे चला जाय, गीताके अनुसार उसमें 'समबुद्धि' ही सार वस्तु है †।

---

* जब दीपकको देहलीपर रख दिया जाता है तो इसका प्रकाश घरके भीतर-बाहर दोनों ओर होता है—इसे 'देहली-दीपक-न्याय' कहते हैं। यह न्याय उस समय प्रयुक्त किया जाता है, जब एक ही वस्तु दो स्थानोंपर एक साथ काम आवे।

† गीताका प्राण है—'समता' अर्थात् राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंका न होना। यह समता स्वार्थ-त्यागपूर्वक दूसरोंका हित करनेसे ( सब विहित कर्मोंको करते हुए भी ) सुगमतापूर्वक प्राप्त हो सकती है।

बुद्धिकी पवित्रता एवं भोगोंसे वैराग्य होनेके कारण सांख्ययोगीके लिये एक चेतन सत्ताके सिवा जड़की स्वतन्त्र सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाना ही समता है। भक्तियोगीके लिये सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि रहनेके कारण सबको भगवत्स्वरूप मानकर उनकी सेवा करना तथा सर्वत्र भगवान्‌को देखना ही समता है। कर्मयोगीके लिये अन्तःकरणमें राग-द्वेषरूप हलचलका न होना ही समता है।

यद्यपि कुछ टीकाकारोंने यहाँ 'बुद्धिः' पदका अर्थ 'ज्ञान' भी माना है, तथापि गीताके इस प्रसङ्गपर पूर्वापर विचार करनेसे 'बुद्धिः' पदका अर्थ 'समबुद्धि' मानना ही उचित प्रतीत होता है। स्वयं भगवान्‌ने भी दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें 'बुद्धियोगे' पदसे समबुद्धिका ही संकेत किया है। यही कारण है कि कर्मयोगके इस प्रकरणमें ( दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकसे अध्याय-समाप्तिपर्यन्त ) भगवान्‌ने समबुद्धिपर विशेष जोर दिया है और समबुद्धिपर विशेष ध्यान दिलानेके लिये 'बुद्धि' एवं उसके

---

जिसके लिये मनुष्यजन्म मिला है, उस परमात्मप्राप्तिका ही ध्येय हो जानेपर मनुष्यको सांसारिक सिद्धि और असिद्धि बाधा नहीं दे सकती। सांसारिक सिद्धि-असिद्धिमें राजी और नाराज होनेवाला मनुष्य पारमार्थिक मार्गमें तत्परतासे नहीं चल सकता। कारण कि राग और द्वेष दोनों ही पारमार्थिक मार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु हैं ( गीता ३। ३४ )। इसलिये भगवान्‌ने कहा है कि साधककी प्रवृत्ति और निवृत्ति राग-द्वेष पूर्वक नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत शास्त्रके अनुसार ही होनी चाहिये—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' ( गीता १६। २४ )। जैसे रोगीके खान-पानमें रोगीकी रुचि-अरुचिकी मुख्यता नहीं होती, अपितु आयुर्वेद और वैद्यकी आज्ञाकी मुख्यता होती है, ऐसे ही संसार-रोगसे ग्रस्त हुए मनुष्यके कर्तव्य-अकर्तव्यमें राग-द्वेषकी मुख्यता नहीं होती, अपितु शास्त्र और संतकी आज्ञाकी मुख्यता होती है। शास्त्र और संतकी आज्ञा है—सांसारिक सिद्धि-असिद्धि, लाभ-हानिमें सम रहना। जैसे रोगीका ध्येय नीरोग होना है, ऐसे ही मनुष्यका ध्येय अपना कल्याण करना है। सांसारिक सिद्धि-असिद्धिको महत्त्व न देनेमें अर्थात् उनमें सम रहनेसे ही ध्येयकी सिद्धि होती है।

पर्यायवाची शब्द—धी, प्रज्ञाका कुल चौबीस बार प्रयोग किया है।

**तत् केशव**—तो फिर हे केशव !

**माम् घोरे कर्मणि किम् नियोजयसि**—मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ?

अर्जुनके इस प्रश्नका अभिप्राय यह है कि यदि आपकी मान्यतामें समबुद्धि श्रेष्ठ है, तो फिर मुझे समबुद्धिकी प्राप्तिमें ही लगाना चाहिये ! मुझे यज्ञ, दान, तप आदि शुभ-कर्मोंमें भी नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि आपने कहा है कि बुद्धियुक्त पुरुष पाप और पुण्य—दोनोंको यहीं त्याग देता है—'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते' ( गीता २ । ५० ) । इसके विपरीत आप मुझे युद्ध-जैसे हिंसात्मक घोर कर्मको करनेकी आज्ञा किस अभिप्रायसे देते हैं ?

यहाँ अर्जुनका ऐसा भाव प्रतीत होता है कि वे युद्ध-जैसे घोर कर्मसे समताकी प्राप्ति होना नहीं मानते। परन्तु आगे चलकर भगवान्‌के उत्तरमें यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्तव्य-कर्मका पालन करनेसे समताकी प्राप्ति हो जाती है, उसके घोर या सौम्य होनेसे कोई मतलब नहीं है। अतएव साधकको चाहिये कि वर्ण, आश्रम, देश, काल एवं परिस्थितिके अनुसार जो भी कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, उसका वे समबुद्धिपूर्वक तत्परतासे पालन करें। अर्जुन क्षत्रिय थे, अतः युद्ध करना उनका स्वधर्म था। ( गीता २ । ३१—३३, १८ । ४३ ) ।

**व्यामिश्रेण इव वाक्येन मे बुद्धिम् मोहयसि इव**—आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं।

is to say, when the human mind tries to understand God, it necessarily thinks of Him in terms of its experiences. At

erve



ऐसा प्रतीत होता है कि अभीतक अर्जुनकी युद्ध करने या न करनेकी निश्चित धारणा नहीं बनी है, इसीलिये उन्होने यहाँ 'इव' पदका दो बार प्रयोग किया है।

उपर्युक्त पदोमें अर्जुनका भाव है कि कभी तो आप कहते है कि बुद्धि श्रेष्ठ है—**'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय'** ( २ । ४९ ), **'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'** ( २ । ५० ) और कभी कहते हैं कि योग श्रेष्ठ है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** ( २ । ५० )—ये आपके मिले हुए-से वचन है। कभी तो आप कहते है कि बुद्धिकी शरण लो—**'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'** ( २ । ४९ ) और कभी कहते है कि कर्म करो— **'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'** ( २ । ४७ ), **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** ( २ । ४८ ), **'तस्माद्योगाय युज्यस्व'** ( २ । ५० ) —यह आप मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं।

पहली बार **'व्यामिश्रेण'** पदके साथ **'इव'** पदका प्रयोग करके अर्जुन मानो यह कहते हैं कि आपके वचन तो स्पष्ट ही है, मिले हुए नहीं है, परंतु अपनी अल्पज्ञताके कारण मुझे वे मिले हुए-से प्रतीत हो रहे है। दूसरी बार **'मोहयसि'** पदके साथ **'इव'** पदका प्रयोग करके अर्जुन मानो यह कहते हैं कि आप मुझे भ्रममे डालना नहीं चाहते प्रत्युत मेरा मोह दूर करना चाहते हैं, परंतु आपके वचनोका अभिप्राय ठीक-ठीक न समझ सकनेके कारण मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आप मिले हुए-से वचन कहकर मुझे भ्रममें डाल रहे है।

तत् एकम् निश्चित्य वद येन अहम् श्रेयः आप्नुयाम्—इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ।

अर्जुनकी एकमात्र इच्छा अपना कल्याण करनेकी है। अपना कल्याण चाहनेके कारण ही अर्जुनको युद्ध 'घोर कर्म' दीखता है। पहले अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें वे कहते हैं कि युद्धमें अपने कुलको मारकर मैं अपना कल्याण नहीं देखता* तथा बत्तीसवें श्लोकमें वे कहते हैं कि मैं विजय, राज्य और सुखोंको भी नहीं चाहता (केवल अपना कल्याण चाहता हूँ)।† दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें भी अर्जुन अपने कल्याणकी उत्कट अभिलाषा प्रकट करते हुए कहते हैं कि आपके द्वारा जो एक निश्चित किया हुआ कल्याणका साधन हो, वह मेरे लिये कहिये‡। आगे अर्जुन कहते हैं कि मैं भूमिमें निष्कण्टक राज्यको तथा देवताओंके आधिपत्यको प्राप्त होकर भी अपनी शोक-निवृत्तिका उपाय नहीं देखता§। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुनका उद्देश्य नाशवान् सुखोंकी प्राप्ति न होकर केवल अपना कल्याण ही है। अतः वे अपनी शोकनिवृत्तिका

---

* न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ (गीता १।३१)

† न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
(गीता १।३२)

‡ 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गीता २।७)

§ न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥
(गीता २।८)

is to say, when the human mind tries to understand God, it necessarily thinks of Him in terms of its experiences. At ...ceive



उपाय कल्याणको ही मानते हैं । पाँचवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी सांख्य और कर्मयोग दोनोंमें पुनः एक निश्चित किया हुआ कल्याणकारक साधन कहनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते है । वही बात अर्जुन यहाँ तीसरे अध्यायके प्रारम्भमें भी भगवान्‌से पूछ रहे हैं ।

*शङ्का*—अर्जुनने यहाँ दो श्लोकामे जो प्रश्न किया है, उसे दूसरे अध्यायके पचासवें श्लोकके ठीक बाद पूछ लेना चाहिये था । फिर उन्होने इसमें इतना व्यवधान क्यो पड़ने दिया ?

*समाधान*—दूसरे अध्यायके इक्यावनवें श्लोकमे भगवान्‌ने कर्मयोगका फल बतलाकर बावनवे और तिरपनवे श्लोकमें मध्यम पुरुष 'ते'* का प्रयोग अर्जुनके लिये करके उन्हे स्थितप्रज्ञ होनेके लिये कहा । अपने लिये स्थितप्रज्ञ होनेकी बात विशेषरूपसे सुनकर अर्जुन चौवनवे श्लोकमें स्थितप्रज्ञ पुरुषके विषयमें चार प्रश्न कर देते है । उन प्रश्नोके उत्तरमें ही दूसरा अध्याय समाप्त हो जाता है । अत उन प्रश्नोका उत्तर समाप्त होते ही अर्जुनके

* व्याकरणमें उत्तम, मध्यम और प्रथम (अन्य)—ये तीन प्रकारके पुरुष—कर्ता माने गये हैं । 'मैं' उत्तम पुरुष—कर्ता कहलाता है । जिसे सम्बोधित किया जाय, वह 'तू' मध्यम पुरुष—कर्ता कहलाता है । जो किसी अन्य ( दूरस्थित या अनुपस्थित ) के विषयमे कहा जाय, वह ( यह, वह, कोई आदि ) प्रथम पुरुष—कर्ता कहलाता है । यहाँ भगवान् ( स्वयं वक्ता होनेसे ) उत्तम पुरुष—कर्ता हैं और अर्जुन ( सम्बोधित किये जानेसे ) मध्यम पुरुष—कर्ता हैं ।

मनमें सिद्धान्तको लेकर जो शङ्का थी, उसे वे यहाँ प्रारम्भमें ही पूछ लेते हैं।

सम्बन्ध—

*अब अगले तीन ( तीसरे, चौथे और पाँचवें ) श्लोकोंमें भगवान् अर्जुनके 'व्यामिश्रेणेव वाक्येन' ( मिले हुए-से वचनों ) पदोंका उत्तर देते हैं।*

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं—पापरहित अर्जुन! परमात्मतत्त्वको चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने निष्ठा ( समभावमें स्थिति ) की प्राप्तिके दो साधन बतलाये हैं। उनमें ज्ञानियोंकी निष्ठा 'ज्ञानयोग'से और योगियोंकी निष्ठा 'कर्मयोग'से होती है।

मनुष्य प्रायः दो प्रकारके होते हैं—( १ ) विचारप्रधान और ( २ ) कर्मप्रधान। अपना कल्याण चाहनेवाले दोनों ही प्रकारके मनुष्योंमें जिनका स्वभाव विचारप्रधान है अर्थात् जिनमें बुद्धिकी तीक्ष्णता तथा विवेककी प्रधानता है, उन 'ज्ञानियों'के लिये 'ज्ञानयोग'से प्राप्त होनेवाली निष्ठाका और जिनका स्वभाव कर्मप्रधान है अर्थात् जिनकी कर्मोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति है तथा जो कर्म करते हुए ही कर्मबन्धनसे छूटना चाहते हैं, उन 'योगियों'के लिये 'कर्मयोग'से प्राप्त

होनेवाली निष्ठाका वर्णन मैंने किया है। तात्पर्य यह है कि साधन दो प्रकारके हैं, पर उन दोनोंका फल ( निष्ठा या समतामें स्थिति ) एक ही है। अतः मैंने मिले हुए-से वचन नहीं कहे हैं।

अन्वय—

अनघ, अस्मिन्, लोके, द्विविधा, निष्ठा, मया, पुरा, प्रोक्ता, सांख्यानाम्, ज्ञानयोगेन, योगिनाम्, कर्मयोगेन ॥ ३ ॥

पद-व्याख्या—

**अनघ**—हे निष्पाप अर्जुन !

अर्जुनके द्वारा अपने श्रेय ( कल्याण ) की बात पूछी जानी ही उनकी निष्पापता है, क्योंकि अपने कल्याणकी तीव्र इच्छा होनेपर साधकके पाप नष्ट हो जाते हैं।

**अस्मिन् लोके**—इस मनुष्यशरीरमें।

यहाँ 'लोके' पदका अर्थ मनुष्यशरीर समझना चाहिये; क्योंकि ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों प्रकारके साधनोंको करनेका अधिकार अथवा साधक बननेका अधिकार मनुष्यशरीरमें ही है।

**द्विविधा निष्ठा मया पुरा प्रोक्ता**—दो प्रकारसे होनेवाली निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है।

'निष्ठा' अर्थात् समभावमें स्थिति एक ही है, जिसे दो प्रकारसे प्राप्त किया जा सकता है—ज्ञानयोगसे और कर्मयोगसे। इन दोनों योगोंका अलग-अलग विभाग करनेके लिये भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें कहा है कि इस समबुद्धिको मैंने सांख्ययोगके विषयमें ( ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक ) कह दिया

हैं, अब इसे कर्मयोगके विषयमें ( उन्तालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक ) सुनो—

'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु।'

'पुरा' पदका अर्थ 'अनादिकाल' भी होता है और 'अभीसे कुछ पहले' भी होता है। यहाँ इस पदका अर्थ है—अभीसे कुछ पहले अर्थात पिछला अध्याय, जिसपर अर्जुनकी शङ्का है। यद्यपि दोनो निष्ठाएँ पिछले अध्यायमें अलग अलग कही जा चुकी हैं, तथापि किसी भी निष्ठामें कर्मत्यागकी बात नहीं कही गयी है।

## मार्मिक बात

यहाँ भगवान्‌ने दो निष्ठाएँ बतलायी हैं—साख्यनिष्ठा ( ज्ञानयोग ) और योगनिष्ठा ( कर्मयोग )। जैसे लोकमे दो तरहकी निष्ठाएँ हैं—'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा'; ऐसे ही लोकमें दो तरहके पुरुष हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' ( गीता १५। १६ ); वे हैं—क्षर ( नाशवान् संसार ) और अक्षर ( अविनाशी स्वरूप )। क्षरकी सिद्धि-असिद्धि, प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहना 'कर्मयोग' है और क्षरसे विमुख होकर अक्षरमें स्थित होना 'ज्ञानयोग' है। परन्तु क्षर और अक्षर—दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो 'परमात्मा' नामसे कहा जाता है—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' परमात्मेत्युदाहृतः' ( १५। १७ )। वह परमात्मा क्षरसे तो अतीत है और अक्षरसे उत्तम है; अतः शास्त्र और वेदमें वह 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध है ( १५। १९ )। ऐसे परमात्माके सर्वथा सर्वभावसे शरण हो जाना 'भगवन्निष्ठा' ( भक्तियोग ) है। इसलिये क्षरकी प्रधानतासे कर्मयोग,

अक्षरकी प्रधानतासे ज्ञानयोग और परमात्माकी प्रधानतासे भक्तियोग चलता है।

सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा—ये दोनों निष्ठाएँ लौकिक हैं; क्योंकि ये दोनों साधकोंकी अपनी निष्ठाएँ हैं। परन्तु भगवन्निष्ठा अलौकिक है, क्योंकि यह साधककी अपनी निष्ठा नहीं है और साधन-साध्य भी नहीं है, अपितु केवल भगवान् और उनकी कृपापर निर्भर है। इस भगवन्निष्ठाका वर्णन गीतामें जगह-जगह आया है; जैसे—इसी अध्यायमें पहले दो निष्ठाओंका वर्णन करके फिर तीसवें श्लोकमें **'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य'** पदोंसे भक्तिका वर्णन किया गया है, पाँचवें अध्यायमें भी दो निष्ठाओंका वर्णन करके दसवें श्लोकमें **'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि'** और अन्तमें **'भोक्तारं यज्ञतपसाम् '** आदि पदोंसे भक्तिका वर्णन किया गया है, इत्यादि। प्रस्तुत श्लोकमें केवल दो ही निष्ठाओं—सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाकी बात आयी है, भगवन्निष्ठाकी नहीं। कारण यह है कि इससे पहले भगवान्‌ने भक्तिका कहीं वर्णन नहीं किया है, केवल सांख्य और कर्मयोगका ही वर्णन किया है।

**सांख्यानाम् ज्ञानयोगेन**—( उनमेंसे ) सांख्ययोगियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे होती है।

प्रकृतिसे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं ( गीता ३ । २८ ) एवं मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा समझकर समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका सर्वथा त्याग कर देना 'ज्ञानयोग' है।

गीतोपदेशके प्रारम्भमें ही भगवान्‌ने सांख्य या ज्ञानयोगका वर्णन करते हुए नाशवान् शरीर और अविनाशी शरीरीका विवेचन किया है, जिसे ( गीता २ । १६ में ) असत् और सत्‌के नामसे भी कहा गया है ।

योगिनाम् कर्मयोगेन—( और ) योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है ।

वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, उसे ( उस कर्म तथा उसके फलमें ) कामना, ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके करना तथा कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना 'कर्मयोग' है ।

भगवान्‌ने कर्मयोगका वर्णन दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकमें मुख्यरूपसे किया है *। इनमें भी सैंतालीसवें श्लोकमें कर्मयोगका सिद्धान्त कहा गया है और अड़तालीसवें श्लोकमें कर्मयोगको अनुष्ठानमें लानेकी विधि कही गयी है ।

श्लोक—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

---

* कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
( गीता २ । ४७-४८ )

भावार्थ—

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मता अर्थात् योगनिष्ठाको प्राप्त होता है* और न कर्मोंके त्यागमात्रसे सिद्धि अर्थात् सांख्यनिष्ठाको ही प्राप्त होता है †।

समबुद्धिके साथ कर्मोंका विरोध है—ऐसा समझकर अर्जुन कर्मोंका त्याग करना चाहते हैं; परन्तु भगवान् कहते हैं कि समबुद्धिके साथ कर्मोंका विरोध नहीं है। कर्म करना दोनो ही निष्ठाओमें बन्धनकारक नहीं है। कर्म तथा कर्मफलमें ममता-आसक्ति होनेसे ही बन्धन ( जन्म-मरण ) होता है। इसलिये साधकको कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं करना चाहिये; क्योकि इससे साधकमें अकर्मण्यता, प्रमाद, आलस्य आनेकी सम्भावना रहती है।

अन्वय—

**पुरुषः, न, कर्मणाम्, अनारम्भात्, नैष्कर्म्यम्, अश्नुते, च, न, सन्न्यसनात्, एव, सिद्धिम्, समधिगच्छति ॥ ४ ॥**

---

* कर्मयोगमें कर्मोंको करनेसे ही निष्कामभावसे कर्म होगे—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' ( गीता ६ । ३ ) तथा सिद्धिकी प्राप्ति होगी। कर्मोंको करेंगे ही नहीं तो सकाम या निष्कामभावका पता कैसे चलेगा?

† साख्ययोगमें तत्त्वकी जानकारी ( तत्त्वज्ञान ) की ही प्रधानता है। इसलिये दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवे श्लोकतक 'दृष्टः', 'विद्धि', 'वेद', 'विदित्वा' आदि पदोका विशेषरूपसे प्रयोग किया गया है। अतएव साख्ययोगमे कर्मोंका त्याग करने अथवा न करनेका आग्रह न रखते हुए केवल उस तत्त्वकी जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। वस्तुतः साख्ययोगीके लिये भी कर्मोंका निषेध नहीं है।

प्रत्युत साख्यके प्रकरणमे युद्ध करनेकी आज्ञा दी है—'तस्माद्युध्यस्व भारत' ( गीता २ । १८ )।

पद-व्याख्या—

पुरुषः—मनुष्य ।

न कर्मणाम् अनारम्भात्—न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना ।

इन पदोंसे भगवान्‌का यह अभिप्राय है कि कर्मयोगमें कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है । निष्कामभावसे कर्म करनेपर ही कर्मयोगकी सिद्धि होती है । यह सिद्धि मनुष्यको कर्म किये बिना नहीं मिल सकती । अतः कर्मयोगीके लिये स्वरूपसे कर्मोंका त्याग न करना ही विधेय है ।

मनुष्यके अन्तःकरणमें कर्म करनेका जो वेग विद्यमान रहता है, उसे शान्त करनेके लिये कामनाका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करना आवश्यक है । कामना रखकर कर्म करनेपर यह वेग मिटता नहीं, प्रत्युत बढ़ता है ।

नैष्कर्म्यम् अश्नुते—निष्कर्मताको प्राप्त होता है ।

इन पदोंसे भगवान्‌का यह अभिप्राय है कि कर्मयोगका आचरण करनेवाला मनुष्य कर्मोंको करते हुए ही निष्कर्मताको प्राप्त होता है । जिस स्थितिमें मनुष्यके कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते उस स्थितिको 'निष्कर्मता' कहते हैं ।

कामनासे रहित होकर किये गये कर्मोंमें फल देनेकी शक्तिका उसी प्रकार सर्वथा अभाव हो जाता है, जिस प्रकार बीजको भूनने या उबालनेपर उसमें पुनः अंकुर देनेकी शक्ति सर्वथा नष्ट हो

जाती है। अतः निष्काम-मनुष्यके कर्मोमे पुन जन्म-मरणके चक्रमें घुमानेकी शक्ति नही रहती।

कामनाका त्याग तभी हो सकता है, जब सभी कर्म दूसरोकी सेवाके लिये किये जायँ, अपने लिये नहीं। कारण कि कर्ममात्रका सम्बन्ध संसारसे है और अपना ( स्वरूपका ) सम्बन्ध परमात्मासे है। अपने साथ कर्मका सम्बन्ध है ही नहीं। इसलिये जबतक अपने लिये कर्म करेंगे, तबतक कामनाका त्याग नहीं होगा, और जबतक कामनाका त्याग नहीं होगा, तबतक निष्कर्मताकी प्राप्ति नहीं होगी।

**च**—और।

**न संन्यसनात् एव सिद्धिम् समधिगच्छति**—न कर्मोके त्यागमात्रसे सिद्धिको प्राप्त होता है।

प्रस्तुत श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने कर्मयोगकी दृष्टिसे कहा कि कर्मोंका आरम्भ किये बिना कर्मयोगीको निष्कर्मताकी प्राप्ति नहीं होती। अब श्लोकके उत्तरार्धमें साख्ययोगकी दृष्टिसे कहते है कि केवल कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेसे साख्ययोगीको सिद्धि अर्थात् निष्कर्मताकी प्राप्ति नहीं होती। सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उसे कर्तापन ( अहंता ) का त्याग करना आवश्यक है। अतएव सांख्ययोगीके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना मुख्य नहीं है, अपितु अहंताका त्याग ही मुख्य है।

साख्ययोगमें कर्म किये भी जा सकते है और किसी सीमातक कर्मोंका त्याग भी किया जा सकता है; परन्तु कर्मयोगमें सिद्धि-

प्राप्तिके लिये कर्म करना आवश्यक होता है—**'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'** ( गीता ६ । ३ )।

## मार्मिक बात

श्रीमद्भगवद्गीता मनुष्यको व्यवहारमें परमार्थ-सिद्धिकी कला सिखाती है । उसका आशय कर्तव्य-कर्म करानेमें है, छुडानेमें नहीं । इसीलिये भगवान् कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनो ही साधनोंमें कर्म करनेकी बात कहते हैं ।

यह एक स्वाभाविक बात है कि जब साधक अपना कल्याण चाहता है, तब वह सांसारिक कर्मोंसे उकताने लगता है और उन्हें छोडना चाहता है । इसी कारण अर्जुन भी कर्मोंसे उकताकर भगवान्‌से पूछते हैं कि जब कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनो प्रकारके साधनोका तात्पर्य समतासे है, तो फिर कर्म करनेकी बात आप क्यो कहते है ? मुझे युद्ध-जैसे घोर कर्ममे क्यो लगाते है ? परन्तु भगवान्‌ने दोनो ही प्रकारके साधनोमे अर्जुनको कर्म करनेकी आज्ञा दी है, जैसे—कर्मयोगमें **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** ( गीता २ । ४८ ) और सांख्ययोगमें **'तस्माद्युध्यस्व भारत'** ( गीता २ । १८ )। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌का अभिप्राय कर्मोंको स्वरूपसे छुडानेमें नहीं, प्रत्युत कर्म करानेमे है । हाँ, भगवान् कर्मोंमें जो जहरीला अंश—कामना, ममता और आसक्ति है, उसका त्याग करके ही कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं ।

अर्जुनका प्रश्न था कि जब समताको प्राप्त करना ही उद्देश्य है, तो फिर मुझे घोर कर्ममे क्यो लगाते हैं ? इसके उत्तरमें भगवान्

यह बात स्पष्ट करते हैं कि समता-प्राप्तिके साधन दो प्रकारके हैं, पर कर्मोंका त्याग करनेकी बात दोनो ही साधनोमें नहीं है। अतः युद्धरूप कर्मसे उपराम होनेका कोई प्रयोजन नहीं। कारण कि घोर या सौम्य-कर्मोंसे तात्पर्य नहीं है, तात्पर्य समतासे है। पर कर्मयोगद्वारा समता प्राप्त करनेके लिये कर्म करना आवश्यक है—( गीता ६ । १ )।

कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी अपेक्षा साधकको उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहिये। कर्मयोगी निःस्वार्थभावसे कर्म करते हुए शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिको संसारकी वस्तु मानकर संसारकी सेवामें लगाता है और कर्मों तथा पदार्थोंके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता ( गीता ५ । ११ )। ज्ञानयोगमे सत्-असत्के विवेककी प्रधानता रहती है। अतएव ज्ञानयोगी ऐसा मानता है कि गुण ही गुणोमें बरत रहे हैं अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे ही कर्म हो रहे हैं। मेरा कर्मोंके साथ किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है ( गीता ३ । २८, ५ । ८-९ )।

प्रायः सभी साधकोके अनुभवकी बात है कि कल्याणकी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होते ही कर्म, पदार्थ और व्यक्ति ( परिवार )-से उनकी अरुचि होने लगती है। परन्तु वास्तवमे देहके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे यह आराम-विश्रामकी इच्छा ही है, जो साधककी उन्नतिमें बाधक है। साधकोंके मनमे ऐसा भाव रहता है कि कर्म, पदार्थ और व्यक्तिका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही हम

परमार्थमार्गमें आगे बढ़ सकते हैं। परन्तु वास्तवमें इनका स्वरूपसे त्याग न करके इनमें आसक्तिका त्याग करना ही आवश्यक है। सांख्ययोगमें उत्कट वैराग्यके बिना आसक्तिका त्याग करना कठिन होता है। परन्तु कर्मयोगमें वैराग्यकी कमी होनेपर भी केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे आसक्तिका त्याग सुगमतापूर्वक हो जाता है।

गीताने एकान्तिक साधनका भी आदर किया है; परन्तु एकान्तमें सात्त्विक पुरुष तो साधन-भजनमें अपना समय बिताता है, पर राजसी पुरुष संकल्प-विकल्पमें और तामसी पुरुष निद्रा-आलस्य-प्रमादमें अपना समय बिताता है, जो पतन करनेवाला है। इसलिये साधककी रुचि तो एकान्तकी ही रहनी चाहिये अर्थात् सांसारिक कर्मोंको त्यागकर पारमार्थिक कार्य करनेमें ही उसकी प्रवृत्ति रहनी चाहिये; परन्तु कर्तव्यरूपसे जो कर्म सामने आ जाय, उसे वह तत्परतापूर्वक करे। उस कर्ममें उसका राग नहीं होना चाहिये। राग न तो जन-समुदायमें होना चाहिये और न अकर्मण्यतामें ही। कहीं भी राग न रहनेसे साधकका बहुत शीघ्र कल्याण हो जाता है। वास्तवमें शरीरको एकान्तमें ले जानेको ही एकान्त मान लेना भूल है, क्योंकि शरीर संसारका ही एक अंश है। अतः शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होना अर्थात उसमें अहता-ममता न रहना ही वास्तविक एकान्त है।

श्लोक—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

भावार्थ—

कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामे क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता अर्थात् कर्मोका स्वरूपसे त्याग हो ही नहीं सकता। सब-के-सब प्राणी प्रकृतिजन्य गुणोके द्वारा परवश हुए कर्म करनेके लिये बाध्य हैं। इसका कारण यह है कि प्रकृति कभी किसी भी अवस्थामें अक्रिय नहीं रहती। अतः प्रकृतिके कार्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनो शरीरोमेंसे किसी भी शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेवाले सम्पूर्ण प्राणियोको सब समय, सब परिस्थितियोमें परवश होकर कर्म करने ही पडते हैं अर्थात् वे कर्म न करनेमें स्वतन्त्र नहीं है।

अन्वय—

हि, कश्चित्, जातु, क्षणम्, अपि, अकर्मकृत्, न, तिष्ठति, हि, प्रकृतिजैः, गुणैः, अवशः, सर्वः, कर्म, कार्यते ॥ ५ ॥

पद-व्याख्या—

**हि**—क्योकि।

**कश्चित् जातु क्षणम् अपि अकर्मकृत् न तिष्ठति**—कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता।

ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—किसी भी मार्गमें साधक कर्म किये बिना नहीं रह सकता। यहाँ **'कश्चित्'**, **'जातु'** और **'क्षणम्'**—ये तीनों विलक्षण पद हैं। इनमें **'जातु'** पदका प्रयोग करके भगवान् यह कहते हैं कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि किसी भी अवस्थामें मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता।

इसका कारण भगवान् इसी श्लोकके उत्तरार्धमें 'अवशः' पदसे बतलाते हैं कि प्रकृतिके परवश होनेके कारण उसे कर्म करने ही पड़ते हैं। प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील है। साधकको अपने लिये कुछ नहीं करना है। जो विहित-कर्म सामने आ जाय, उसे केवल दूसरोंके हितकी दृष्टिसे कर देना है। परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेसे साधक निषिद्ध-कर्म तो कर ही नहीं सकता। अब समझनेका विषय यह है कि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना कैसे नहीं रह सकता?

बहुत-से मनुष्य केवल स्थूलशरीरकी क्रियाओंको कर्म मानते हैं, पर गीता मनकी क्रियाओंको भी कर्म मानती है। गीताने शारीरिक, वाचिक और मानसिक रूपसे की गयी क्रियामात्रको कर्म माना है— '**शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः**' ( गीता १८ । १५ )। इसलिये सांख्ययोगीके लक्षणोंका वर्णन करते हुए भगवान् पाँचवें अध्यायके आठवें-नवें श्लोकोंमें देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, भोजन करना, चलना, सोना, श्वास लेना, बोलना, मल-मूत्रादिका त्याग करना, वस्तु ग्रहण करना तथा आँखोंको खोलना एवं मींचना—इस प्रकार कुल तेरह क्रियाएँ बतलाकर यह कहते हैं कि तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी इन क्रियाओंको करते हुए भी ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ अर्थात् वह इन क्रियाओंके प्रकाशक और आधार अपने स्वरूपका अनुभव करे। इससे तात्पर्य यह निकला कि जिन शारीरिक अथवा मानसिक क्रियाओंके साथ मनुष्य अपना सम्बन्ध मान लेता है, वे ही सब क्रियाएँ 'कर्म' बनकर उसे बाँधनेवाली होती हैं, अन्य क्रियाएँ नहीं।

मनुष्योंकी एक ऐसी धारणा बनी हुई है, जिसके अनुसार वे बच्चोंका पालन-पोषण तथा आजीविका — व्यापार, नौकरी, अध्यापन आदिको ही कर्म मानते है और इनके अतिरिक्त खाना-पीना, सोना, बैठना, चिन्तन करना आदिको कर्म नहीं मानते। इसी कारण कई मनुष्य व्यापार आदि कर्मोंको छोड़कर ऐसा मान लेते हैं कि 'मै कर्म नहीं कर रहा हूँ'। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी स्थूलशरीरकी क्रियाएँ, नींद, चिन्तन आदि सूक्ष्म-शरीरकी क्रियाएँ और समाधि आदि कारणशरीरकी क्रियाएँ—ये सब कर्म ही हैं। जबतक शरीरमे अहंता-ममता है, तबतक शरीरसे होनेवाली मात्र क्रियाएँ 'कर्म' हैं। कारण कि शरीर प्रकृतिका कार्य है, और प्रकृति कभी अक्रिय नहीं होती। अत. शरीरमे अहंता-ममता रहते हुए कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, चाहे वह अवस्था प्रवृत्तिकी हो या निवृत्ति की।

हि—क्योंकि।

**प्रकृतिजैः गुणैः अवशः सर्वः कर्म कार्यते**—प्रकृतिजन्य गुण ( प्रकृतिके ) परवश हुए प्राणियोसे प्रकृतिके कर्म कराते है। परवश होनेपर प्रकृतिके गुणोद्वारा कर्म कराये जाते हैं, क्योकि प्रकृति एवं उसके गुण निरन्तर क्रियाशील हैं। यद्यपि आत्मा स्वयं अविनाशी, निर्विकार तथा निर्लिप्त है, तथापि जबतक वह प्रकृति एवं उसके कार्य—स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें किसी भी शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानकर उससे सुख चाहता है, तबतक वह प्रकृतिके

परवश रहता है* । इसी परवशताको यहाँ 'अवशः' पदसे कहा गया है । नवें अध्यायके आठवें श्लोकमें, आठवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें एवं अठारहवें अध्यायके साठवें श्लोकमें भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध माननेसे परवश हुए जीवके द्वारा कर्म करनेकी बात कही गयी है† ।

## विशेष बात

क्रियामात्र उत्पन्न और नष्ट होनेवाली होती है । अतः प्राकृतिक क्रियामात्रकी सक्रिय ( स्थूल ) और अक्रिय ( सूक्ष्म ) दो अवस्थाएँ होती हैं, जैसे—कार्य करना सक्रिय अवस्था है और कार्य न करना ( निद्रा आदि ) अक्रिय अवस्था । वास्तवमें अक्रिय अवस्थामें भी प्रकृति अक्रिय नहीं रहती, प्रत्युत उसमें सूक्ष्मरूपसे सक्रियता रहती है । जैसे, किसी सोये हुए मनुष्यको जागनेके समयसे पूर्व ही जगा देनेपर वह कहता है कि मुझे कच्ची नींदमें जगा दिया । इससे यह सिद्ध हुआ कि नींदकी अक्रिय अवस्थामें भी नींदके पकनेकी

---

* सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ( गीता १४ । ५ )

'हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं ।'

† प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ( गीता ९ । ८ )
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ ( गीता ८ । १९ )
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ (गीता १८ । ६० )

क्रिया हो रही थी। जब पूरी नींद लेनेके बाद मनुष्य जागता है, तब उपर्युक्त बात नहीं रहता; क्योंकि नींदका पकना पूर्ण हो गया। इसी प्रकार समाधि, प्रलय, महाप्रलय आदिकी अवस्थाओंमें भी सूक्ष्मरूपसे क्रिया होती रहती है।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रकृतिकी कभी अक्रिय अवस्था होती ही नहीं; क्योंकि वह प्रतिक्षण बदलनेवाली है। स्वयं आत्मामें कर्तापन नहीं है, परंतु प्रकृतिके कार्य शरीरादिके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे वह प्रकृतिके परवश हो जाता है। इसी परवशताके कारण स्वयं अकर्ता होते हुए भी वह अपनेको कर्ता मानता रहता है। वस्तुतः आत्मामें कोई भी परिवर्तनरूप क्रिया नहीं होती। जैसे प्रकृतिद्वारा समस्त सृष्टिकी क्रियाएँ स्वाभाविकरूपसे हो रही हैं, वैसे ही उसके द्वारा बाल-यौवन-जरादि अवस्थाएँ और भोजनका पाचन, श्वासोंका आवागमन आदि क्रियाएँ एवं इसी प्रकार देखना, सुनना आदि क्रियाएँ भी स्वाभाविकरूपसे हो रही हैं। परन्तु जीवात्मा कुछ क्रियाओंमें अपनेको कर्ता मानकर बँध जाता है।

प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील है, पर शुद्ध स्वरूपमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। वस्तुतः प्राकृतिक पदार्थोंकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। प्रतिक्षण बदलते हुए पुञ्जका नाम ही पदार्थ है। पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। यदि साधक ऐसा वास्तविक अनुभव कर ले कि सम्पूर्ण क्रियाएँ पदार्थोंमें ही हो रही

है और पदार्थोंके साथ मेरा किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है तो वह परवशतासे मुक्त हो सकता है। कर्मयोगी प्रतिक्षण परिवर्तनशील पदार्थोंकी कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करके इस परवशताको मिटा देता है।

भगवान्‌ने इस श्लोकमें जो बात कही है, वही बात उन्होंने अठारहवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी कही है कि प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध मानते हुए कोई भी मनुष्य कर्मोंका सम्पूर्णतासे त्याग नहीं कर सकता 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।'

सम्बन्ध—

*पाँचवें श्लोकमें यह कहा गया है कि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि मनुष्य इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठपूर्वक रोककर भी तो अपनेको अक्रिय मान सकता है! अतः ऐसी स्थितिको क्रियारहित माननेवालेका आचरण मिथ्या बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि मनुष्य जबतक प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह अक्रिय हो ही नहीं सकता; क्योंकि प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है।*

श्लोक—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥

भावार्थ—

जो मनुष्य दसों इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों) को हठपूर्वक रोककर अर्थात् बाहरसे इन्द्रियोंकी

क्रियाओंका त्याग करके और मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करते हुए बैठता है, वह यद्यपि बाहरसे अक्रिय दीखता है, तथापि मनसे विषयोंका चिन्तन होनेके कारण उसका कर्मोंके साथ सम्बन्ध बना हुआ ही है। अतः ऐसा मनुष्य मिथ्याचारी कहलाता है। यद्यपि वह मूर्ख यह समझता है कि मैं कर्म नहीं कर रहा हूँ, तथापि उसका मन निरन्तर कर्ममें ही रत है। अतएव यह उसकी विवेक-शून्यता ही है, जो सर्वथा त्याज्य है।

अन्वय—

यः, विमूढात्मा, कर्मेन्द्रियाणि, संयम्य, मनसा, इन्द्रियार्थान्, स्मरन्, आस्ते, सः, मिथ्याचारः, उच्यते ॥ ६ ॥

पद-व्याख्या—

**यः**—जो।

**विमूढात्मा**—मूढ बुद्धिवाला अर्थात् सत्-असत्के विवेकसे रहित मनुष्य।

**कर्मेन्द्रियाणि**—कर्मेन्द्रियों ( दसों इन्द्रियों ) को।

यहाँ '**कर्मेन्द्रियाणि**' पदका अभिप्राय पाँच कर्मेन्द्रियों ( वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ) से ही नहीं है, अपितु इनके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियों ( श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण ) से भी है; क्योकि ज्ञानेन्द्रियोके बिना केवल कर्मेन्द्रियोंसे कर्म नहीं हो सकते। इसके सिवा केवल हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियोंको रोकनेसे तथा आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियोको न रोकनेसे पूरा मिथ्याचार भी सिद्ध नहीं होता।

गीतामें कर्मेन्द्रियोंके अन्तर्गत ही ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गयी हैं। इसलिये गीतामें 'कर्मेन्द्रिय' शब्द तो आता है, पर 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्द कहीं नहीं आता। पाँचवें अध्यायके आठवें-नवें श्लोकोंमें देखना, सुनना, स्पर्श करना आदि ज्ञानेन्द्रियोंकी क्रियाओंको भी कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाओंके साथ सम्मिलित किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि गीता ज्ञानेन्द्रियोंको भी कर्मेन्द्रियाँ ही मानती है। गीता मनकी क्रियाओंको भी कर्म मानती है—**'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः'** ( १८।१५ )। तात्पर्य यह है कि मात्र प्रकृति क्रियाशील होनेसे प्रकृतिका कार्यमात्र क्रियाशील है।

**संयम्य**—हठपूर्वक रोककर।

यद्यपि 'संयम्य' पदका अर्थ होता है—इन्द्रियोंका भलीभाँति नियमन अर्थात् उन्हें वशमें करना, तथापि यहाँ इस पदका अर्थ इन्द्रियोंको वशमें करना न होकर उन्हें हठपूर्वक बाहरसे रोकना ही है; क्योंकि इन्द्रियोंके वशमें होनेपर उसे मिथ्याचार कहना नहीं बनता।

**मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते**—मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है।

वह मूढ मनुष्य बाहरसे तो इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठपूर्वक रोक देता है, पर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है और ऐसी स्थितिको क्रियारहित मान लेता है।

**सः मिथ्याचारः उच्यते**—वह मनुष्य मिथ्याचारी अर्थात् मिथ्या आचरण करनेवाला कहा जाता है।

*

यद्यपि उसने इन्द्रियोंके विषयोंको बाहरसे त्याग दिया है और ऐसा समझता है कि मै कर्म नहीं करता हूँ, तथापि ऐसी अवस्थामें भी वह वस्तुतः कर्मरहित नहीं हुआ है। कारण कि बाहरसे क्रियारहित दीखनेपर भी अहंता, ममता और कामनाके कारण राग-पूर्वक विषय-चिन्तनके रूपमें विषय-भोगरूप कर्म तो हो ही रहा है।

सांसारिक भोगोको बाहरसे भी भोगा जा सकता है और मनसे भी। दोनो ही अवस्थाओमें भोगोंके सस्कार प्रायः एक समान ही पड़ते हैं। अन्तर केवल इतना है कि मनसे भोगे जानेवाले भोगोके संस्कारोका पता कर्ताको नहीं लगता और बाहरसे मिथ्याचार भी होता है। अतः उसका आचरण मिथ्या तथा वह मिथ्याचारी कहलाता है। मनसे विषयोका चिन्तन होनेसे विशेष हानि होती है; क्योंकि इसके सेवनका विशेष अवसर मिलता है।

अर्जुन भी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना चाहते हैं और भगवान्‌से पूछते हैं कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यो लगाते हैं ? इसके उत्तरमें यहाँ भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य अहता, ममता, आसक्ति, कामना आदि रखते हुए केवल बाहरसे कर्मोका त्याग करके अपनेको क्रियारहित मानता है, उसका आचरण मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि साधकको कर्मोंका स्वरूपसे त्याग न करके उन्हें कामना-आसक्तिसे रहित होकर तत्परतापूर्वक करते रहना चाहिये।

## मार्मिक बात—

( १ ) जब साधक ध्यान करने बैठता है, तब उसके अन्तः-करणमें सांसारिक चित्र आने-जाने लगते हैं। यद्यपि साधकका

परन्तु जब साधक परमात्माका चिन्तन करनेका प्रयत्न करता है, तब वह परमात्माको अपनेसे दूर तथा अलग मान लेता है और सबमें ( मनमें तथा उसमें होनेवाले संकल्प-विकल्पमें भी ) रहनेवाले परमात्माको भूल जाता है। वह संसारको तथा मनमें होनेवाले सांसारिक चिन्तनको सत्य मान लेता है, उसे सत्ता दे देता है। वह भूलसे ऐसा मान लेता है कि संसार तो अभी है, पर परमात्मा अभी नहीं है और संसार तो मेरे साथ है, पर परमात्मा मुझसे दूर हैं। इस कारण उसे परमात्माका चिन्तन करनेका तो प्रयत्न करना पड़ता है और संसारका चिन्तन अपने-आप होता है। फलस्वरूप परिश्रमके सिवा कुछ हाथ नहीं लगता। अतएव साधक इस वास्तविक बातको दृढ़तापूर्वक मान ले कि परमात्मा सब जगह हैं, इसलिये यहाँ भी हैं, वे सब समयमें हैं, इसलिये अभी भी हैं, वे सबमें हैं, इसलिये मुझमें भी हैं, और वे सबके हैं, इसलिये मेरे भी हैं। फिर यदि संसारका चिन्तन होने लगे तो उसे सत्ता भी न दे और उसका भोक्ता भी न बने अर्थात् उससे सुखी-दुःखी न हो, क्योंकि जिस कार्यके कर्ता हम नहीं हैं, उसके भोक्ता हम क्यों बनें? अतः सांसारिक चिन्तनकी उपेक्षा कर दे। सांसारिक चिन्तनमें न तो राग करे, न द्वेष करे, न उसे अपनेमें माने और न उसे हटाकर परमात्माके चिन्तनका प्रयत्न ही करे। फिर परमात्माका चिन्तन अपने-आप होगा, करना नहीं पड़ेगा। कारण कि वास्तवमें वह परमात्मासे कभी दूर या अलग नहीं हो सकता और परमात्मा उससे कभी दूर या अलग नहीं हो सकते। इसके विपरीत संसार

कभी उसके साथ नहीं रह सकता और वह संसारके साथ कभी नहीं रह सकता ।

सम्बन्ध—

*चौथे श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनोंकी दृष्टिसे कर्मोंका त्याग अनावश्यक बतलाया । फिर पाँचवें श्लोकमें कहा कि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता । छठे श्लोकमें हठपूर्वक इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोककर अपनेको क्रियारहित मान लेनेवालेका आचरण मिथ्या बतलाया । इससे सिद्ध हुआ कि कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेमात्रसे उनका वास्तविक त्याग नहीं होता । अतः अगले श्लोकमें भगवान् हठपूर्वक इन्द्रियोंकी क्रियाओंको न रोककर इन्द्रियोंसे अनासक्तभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेवालेको साधारण मनुष्योंसे श्रेष्ठ बतलाते हैं ।*

श्लोक—

**यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।**
**कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥**

भावार्थ—

हे अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंपर नियन्त्रण करके आसक्तिरहित होकर ( समभावसे ) समस्त इन्द्रियोंके द्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है; क्योंकि फलमें आसक्ति न रहनेसे कर्म करते हुए भी कर्मयोगीका कर्म और कर्मफलके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । फलस्वरूप उसे स्वतः समताकी प्राप्ति हो जाती है ।

प्रत्येक मनुष्यमें कर्म करनेका एक वेग रहता है, जिससे वह क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। यदि वह बाहरसे कर्मोंको छोड देता है तो भी उसके मनसे कर्म होते रहते हैं। जबतक उसका उद्देश्य ससारसे सम्बन्धविच्छेद अथवा अपना कल्याण करना नहीं होता, तबतक कर्म करनेका वेग शान्त नहीं होता, प्रत्युत और बढ़ता है। कर्मयोगीका उद्देश्य अपना कल्याण करना रहता है, अतः वह फलकी आसक्ति न रखकर केवल दूसरोंके लिये समस्त कर्म करता है। इससे उसमें कर्म करनेका वेग शान्त हो जाता है और उसका कर्मोंसे भलीभाँति सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अत. वह ( कर्मयोगी ) सबसे श्रेष्ठ है।

अन्वय—

तु, अर्जुन, य', मनसा, इन्द्रियाणि, नियम्य, असक्त', कर्मेन्द्रियैः, कर्मयोगम् आरभते, स, विशिष्यते ॥ ७ ॥

पद-व्याख्या—

तु—किन्तु।

यहाँ आसक्ति-रहित होकर कर्म करनेवालेको मिथ्याचारीकी अपेक्षा ही नहीं, अपितु सांख्ययोगीकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ बतलानेकी दृष्टिसे 'तु' पद दिया गया है। 'तु' पदसे अर्जुनके प्रश्न ( मुझे घोर कर्ममें क्यो लगाते हैं ? ) का उत्तर देनेके लिये भगवान् प्रकरण बदलते हैं।

अर्जुन—हे अर्जुन !

'अर्जुन' शब्दका अर्थ है—स्वच्छ। यहाँ भगवान्‌ने 'अर्जुन' सम्बोधनका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि तुम निर्मल

अन्तःकरणसे युक्त हो; अतः तुम्हारे अन्तःकरणमें कर्तव्य-कर्मविषयक यह सन्देह कैसे ? अर्थात् यह सन्देह तुझमें स्थिर नहीं रह सकता।

**यः मनसा इन्द्रियाणि नियम्य**—जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके।

यहाँ **'मनसा'** पद सम्पूर्ण अन्तःकरण ( मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ) का वाचक है, और **'इन्द्रियाणि'** पद छठे श्लोकमें आये, **'कर्मेन्द्रियाणि'** पदकी तरह ही दसों इन्द्रियोंका वाचक है।

मनसे इन्द्रियोंको वशमें करनेका तात्पर्य है कि विवेकवती बुद्धिके द्वारा 'मन और इन्द्रियोंसे स्वयंका कोई सम्बन्ध नहीं है'—ऐसा अनुभव करना। मनसे इन्द्रियोंका नियमन करनेपर इन्द्रियोंका अपना स्वतन्त्र आग्रह नहीं रहता अर्थात् हम उन्हें जहाँ लगाना चाहें, वहीं वे लग जाती हैं और जहाँसे उन्हें हटाना चाहें, वहाँसे वे हट जाती हैं।

इन्द्रियाँ वशमें तभी होती हैं, जब इनके साथ ममता ( 'मेरा'-पन )का सर्वथा अभाव हो जाता है। बारहवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी कर्मयोगीके लिये इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात आयी है—**'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।'** तात्पर्य यह है कि वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा ही कर्मयोगका आचरण होता है।

पिछले ( छठे ) श्लोकमें भगवान्‌ने **'संयम्य'** पदसे मिथ्याचारके विषयमें इन्द्रियोंको हठात् रोकनेकी बात कही थी; किन्तु यहाँ **'नियम्य'** पदसे शास्त्र-मर्यादाके अनुसार इन्द्रियोंका नियमन

करने ( निषिद्धसे हटाकर उन्हे यथायोग्य कर्मयोगमें लगाने ) की बात कही है। नियमन करनेपर इन्द्रियोंका सयम स्वत: हो जाता है।

**असक्तः**—आसक्तिसे रहित होकर।

आसक्ति दो जगह होती है—( १ ) कर्मोंमें और ( २ ) उनके फलोंमें। समस्त दोष आसक्तिमे ही रहते हैं, कर्मों तथा उनके फलोंमें नहीं। आसक्ति रहते हुए योग सिद्ध नहीं हो सकता। आसक्तिका त्याग करनेपर ही योग सिद्ध होता है। अतएव साधकको कर्मोंका त्याग न करके उनमें आसक्तिका ही त्याग करना चाहिये। आसक्ति-रहित होकर सावधानी एवं तत्परतापूर्वक कर्तव्य-कर्मका आचरण किये बिना कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता। साधक आसक्ति-रहित तभी हो सकता है, जब वह शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको 'मेरी' अथवा 'मेरे लिये' न मानकर, केवल ससारका और संसारके लिये ही मानकर संसारके हितके लिये तत्परतापूर्वक कर्तव्य-कर्मका आचरण करनेमें लग जाय। दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे करनेका वेग शान्त हो जाता है और अपने लिये कर्म करनेसे करनेका वेग बढ़ता है। जब मनुष्य अपने लिये कोई कर्म न करके केवल दूसरोंके हितके लिये सम्पूर्ण कर्म करता है, तब उसकी अपनी फलासक्ति स्वत. मिट जाती है।

कर्मेन्द्रियोंसे होनेवाली साधारण क्रियाओंसे लेकर चिन्तन तथा समाधितककी समस्त क्रियाओंका हमारे स्वरूपके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ( गीता ५। ११ )। परंतु स्वरूपसे अनासक्त होते हुए भी यह जीवात्मा स्वय आसक्ति करके ससारसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है।

कर्मयोगीकी वास्तविक महिमा आसक्ति-रहित होनेमें ही है। कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले किसी भी फलको न चाहना अर्थात् उससे सर्वथा असङ्ग हो जाना ही आसक्ति-रहित होना है।

साधारण मनुष्य अपनी कामनाकी सिद्धिके लिये ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होता है, परन्तु साधक आसक्तिके त्यागका उद्देश्य लेकर ही किसी कार्यमे प्रवृत्त होता है। ऐसे साधकको ही यहाँ **'असक्तः'** कहा गया है।

जब ज्ञानयोगी और कर्मयोगी दोनो ही फलेच्छा और आसक्तिका त्याग करते है, तब ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग अधिकतर सुगम सिद्ध होता है। कारण कि कर्मयोगीको फिर किसी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं रहती, जबकि ज्ञानयोगीको देहाभिमान मिटानेके लिये अन्य साधनो ( धारणा ध्यान, समाधि आदि ) की भी आवश्यकता रहती है। कर्मयोगमें आसक्तिका त्याग मुख्य है, जिससे कर्मयोगीको समबुद्धिकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये भगवान् कहते है कि कर्मोका त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, अपितु आसक्ति-रहित होकर कर्म करनेकी ही आवश्यकता है।

**कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् आरभते**—कर्मेन्द्रियोसे कर्मयोगका आरम्भ करता है।

जैसे इसी श्लोकके प्रथम चरणमें **'इन्द्रियाणि'** पदका तात्पर्य दसो इन्द्रियोसे है, वैसे ही यहाँ **'कर्मेन्द्रियैः'** पदको दसो इन्द्रियोंका वाचक समझना चाहिये। यदि **'कर्मेन्द्रियैः'** पदसे हाथ, पैर, वाणी आदिको ही लिया जाय तो देखे-सुने तथा मनसे विचार किये विना

कर्म कैसे होंगे ? अतएव यहाँ सभी करणों अर्थात् अन्तःकरण और बहिष्करणको भी कर्मेन्द्रियाँ माना गया है, क्योंकि इन सबसे कर्म होते हैं—'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः' ( गीता १८ । १५ ) ।

जो कर्म अपने लिये न करके दूसरोंके हितके लिये किया जाता है, वह कर्मयोग कहलाता है । अपने लिये कर्म करनेसे अपना सम्बन्ध कर्म तथा कर्मफलके साथ हो जाता है, और अपने लिये कर्म न करके दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्म तथा कर्मफलका सम्बन्ध दूसरोंके साथ या परमात्माका सम्बन्ध अपने साथ हो जाता है, जो कि सदासे है । इस प्रकार देश, काल, परिस्थिति आदिके अनुसार शास्त्रविहित और अपने स्वार्थके त्यागपूर्वक प्राप्त कर्तव्य-कर्म करना कर्मयोगका आरम्भ है ।

'स विशिष्यते'—वह श्रेष्ठ है ।

साधकका जब अपना कल्याण करनेका विचार होता है, तब वह कर्मोंको साधनमें विघ्न समझकर उनसे उपराम होना चाहता है परन्तु वास्तवमें कर्म करना दोषी नहीं है, प्रत्युत कर्मोंमें सकामभाव ही दोषी है । अतः भगवान् कहते हैं कि बाहरसे इन्द्रियोंका संयम करके भीतरसे विषयोंका चिन्तन करनेवाले मिथ्याचारी पुरुषकी अपेक्षा आसक्तिरहित होकर दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेवाला कर्मयोगी श्रेष्ठ है । वास्तवमें मिथ्याचारी पुरुषकी अपेक्षा स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये सकामभावपूर्वक कर्म करनेवाला भी श्रेष्ठ है फिर अपने कल्याणके लिये निष्कामभावपूर्वक कर्म करनेवाला कर्मयोगी श्रेष्ठ है—इसमें कहना ही क्या है ?

---

पाँचवें अध्यायमें जब अर्जुनने प्रश्न किया कि संन्यास और योग—दोनोंमे कौन श्रेष्ठ है, तब भगवान्‌ने उत्तरमे दोनोंको ही कल्याण करनेवाला बतलाकर कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ कहा। यहाँ भी इसी आशयसे स्वार्थभावका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेवाले कर्मयोगीको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

## विशेष बात

कर्मोंका त्याग करना चाहिये या नहीं—यह देखना वस्तुतः गीताका सिद्धान्त ही नहीं है। गीताके अनुसार कर्मोंमें आसक्ति ही ( दोष होनेके कारण ) त्याज्य है। कर्मयोगमे 'कर्म' सदैव दूसरोंके हितके लिये होता है और 'योग' अपने लिये होता है। अर्जुन कर्मको 'अपने लिये' मानते हैं, इसीलिये उन्हे युद्धरूप कर्तव्य-कर्म घोर दीख रहा है। इसपर भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि आसक्ति ही घोर होती है, कर्म नहीं।

कर्तृत्व-भोक्तृत्वका नाम ही संसार है। सांख्ययोगमें कर्तृत्वका त्याग मुख्य है, भोक्तृत्वका त्याग स्वतः हो जाता है। कर्मयोगमें भोक्तृत्वका त्याग मुख्य है, कर्तृत्वका त्याग स्वतः हो जाता है। वस्तुतः भोक्तृत्वपर ही कर्तृत्व टिका हुआ है; क्योंकि कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही मनुष्य कर्म करता है। यदि भोक्तृत्वको पहले नष्ट कर दिया जाय तो कर्तृत्व स्वतः मिट जाता है। अतः कर्मोंमें ममता और फलेच्छा न रहनेसे कर्मयोगीमें कर्तृत्व नहीं रहता।

सांख्ययोगमें कर्तृत्वका त्याग करनेके लिये तेजीका वैराग्य

और बुद्धिकी सूक्ष्मताकी अत्यावश्यकता है। परन्तु कर्मयोगमें केवल दूसरोंकी सेवाके लिये भोक्तृत्वका त्याग करना सुगम हो जाता है और भोक्तृत्वका त्याग होनेपर कर्तृत्वका त्याग स्वतः हो जाता है।

सम्बन्ध—

*गीता अपनी शैलीके अनुसार पहले प्रस्तुत विषयका विवेचन करती है। फिर करनेसे लाभ और न करनेसे हानि बतलाती है। तत्पश्चात् उसका अनुष्ठान करनेकी आज्ञा देती है। यहाँ भी भगवान् अर्जुनके प्रश्न ( मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? )का उत्तर देते हुए पहले कर्मोंके सर्वथा त्यागको असम्भव बतलाते हैं। फिर कर्मोंको स्वरूपसे त्यागकर मनसे विषय-चिन्तन करनेको मिथ्याचार बतलाते हुए अनासक्तभावसे कर्म करनेवाले मनुष्यको श्रेष्ठ बतलाते हैं। अब अगले श्लोकमें भगवान् अर्जुनको उसीके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।*

श्लोक—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

भावार्थ—

अर्जुन ममता-आसक्तिको ही श्रेष्ठ मानकर कर्मोंका त्याग करना चाहते हैं। इसलिये यहाँ भगवान् अर्जुनको आज्ञा देते हैं कि तू नियत-कर्म कर, क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करनेसे श्रेयकी बात तो दूर रही, तेरा जीवन-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।

अन्वय—

त्वम्, नियतम्, कर्म, कुरु, हि अकर्मणः, कर्म, ज्यायः, च अकर्मणः, ते, शरीरयात्रा, अपि, न, प्रसिद्ध्येत् ॥ ८ ॥

पद-व्याख्या—

**त्वम्**—तू ।

**नियतम् कर्म कुरु**—शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्तव्य-कर्म कर ।

शास्त्रोमे विहित तथा नियत—दो प्रकारके कर्मोंको करनेकी आज्ञा दी गयी है। विहित-कर्मका तात्पर्य है—सामान्यरूपसे शास्त्रोंमें बतलाया हुआ आज्ञारूप कर्म; जैसे—व्रत, उपवास, उपासना आदि । इन विहित-कर्मोंको सम्पूर्णतया कर पाना एक व्यक्तिके लिये कठिन है । परन्तु निषिद्ध-कर्मोंका त्याग करना सुगम है । विहित-कर्मको न कर सकनेमे उतना दोष नहीं है, जितना निषिद्ध-कर्मका त्याग करनेमे लाभ है; जैसे झूठ न बोलना, चोरी न करना, हिंसा न करना इत्यादि । निषिद्ध-कर्मोंका त्याग होनेसे विहित-कर्म स्वतः होने लगते है । नियत-कर्मका तात्पर्य है—वर्ण, आश्रम, स्वभाव एवं परिस्थितिके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्म, जैसे—भोजन करना, व्यापार करना, मकान बनवाना, मार्ग भूले हुए व्यक्तिको मार्ग बतलाना आदि ।

कर्मयोगकी दृष्टिसे जो भी वर्णधर्मानुकूल शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म प्राप्त हो जाय, वह चाहे घोर हो या सौम्य, नियत-कर्म ही है । यहाँ **'नियतम् कर्म कुरु'** पदोसे भगवान् अर्जुनको मानो यह

कहते है कि क्षत्रिय होनेके नाते अपने वर्णधर्मके अनुसार परिस्थितिसे प्राप्त युद्ध करना तेरा स्वाभाविक कर्म है ( गीता १८ । ४३ ) । क्षत्रियके लिये युद्धरूप हिंसात्मक कर्म घोर दीखते हुए भी वस्तुतः घोर नहीं है, प्रत्युत उसके लिये वह नियत-कर्म ही है । दूसरे अध्यायमे भगवान्‌ने कहा है कि स्वधर्मकी दृष्टिसे भी युद्ध करना तेरे लिये नियत-कर्म है—**'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि'** ( २ । ३१ ) । वास्तवमे तो स्वधर्म और नियत-कर्म दोनो एक ही है । यद्यपि दुर्योधन आदिके लिये भी युद्ध वर्णधर्मके अनुसार प्राप्त कर्म है, तथापि वह अन्याययुक्त होनेके कारण नियत-कर्मसे अलग है, क्योकि वे युद्ध करके अन्यायपूर्वक राज्य छीनना चाहते हैं । अतः उनके लिये यह युद्ध नियत तथा धर्मयुक्त कर्म नहीं है ।

**हि**—क्योकि ।

**अकर्मणः कर्म ज्यायः**—कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है ।

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें ( अर्जुनके प्रश्नमें ) आये हुए **'ज्यायसी'** पदका उत्तर भगवान् यहाँ **'ज्यायः'** पदसे ही दे रहे है । वहाँ अर्जुनका प्रश्न है कि यदि आपको कर्मकी अपेक्षा सम-बुद्धि श्रेष्ठ मान्य है ( **ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः** ) तो मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? इसके उत्तरमें यहाँ भगवान् कहते हैं कि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना ही मुझे श्रेष्ठ मान्य है । इस प्रकार अर्जुनका विचार युद्धरूप घोर कर्मसे निवृत्त होनेका है और भगवान्‌का विचार अर्जुनको युद्धरूप नियत-कर्ममें प्रवृत्त करानेका है । इसीलिये आगे अठारहवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं

कि दोषयुक्त होनेपर भी सहज ( नियत- ) कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये—**'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्'** ( १८ । ४८ ) । कारण कि इसके त्यागसे दोष लगता है एव कर्मोंके साथ अपना सम्बन्ध भी बना रहता है । अतः कर्मका त्याग करनेकी अपेक्षा ( नियत- ) कर्म करना ही श्रेष्ठ है । फिर आसक्ति-रहित होकर कर्म करना तो और भी श्रेष्ठ माना गया है; क्योंकि इससे कर्मोंके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । अतः भगवान् इस श्लोकके पूर्वार्धमें अर्जुनको अनासक्तभावसे नियत-कर्म करनेकी आज्ञा देते है और उत्तरार्धमे कहते हैं कि कर्म किये बिना तेरा जीवन-निर्वाह भी नहीं होगा ।

कर्मयोगमें **'अकर्मणः कर्म ज्यायः'**—यह भगवान्का प्रधान सिद्धान्त है । इसीको भगवान्ने **'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'** ( गीता २ । ४७ ) पदोसे स्पष्ट किया है कि अर्जुन ! तेरी कर्म न करनेमें आसक्ति न हो । कारण यह है कि कर्तव्य-कर्मोंसे जी चुरानेवाला मनुष्य प्रमाद, आलस्य और निद्रामें अपना अमूल्य समय नष्ट कर देगा अथवा शास्त्रनिषिद्ध कर्म करेगा, जिससे उसका पतन होगा ।

स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेकी अपेक्षा कर्म करते हुए ही कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना श्रेष्ठ है । कारण यह है कि कामना, वासना, फलासक्ति, पक्षपात आदि ही कर्मोंसे सम्बन्ध जोड़ देते है , चाहे मनुष्य कर्म करे अथवा न करे । कामना आदिके त्यागका

उद्देश्य रखकर कर्मयोगका आचरण करनेसे कामना आदिका त्याग बड़ी सुगमतासे हो जाता है।

च—तथा।

**अकर्मणः ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिद्ध्येत्**—कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।

अर्जुनके मनमें ऐसा भाव उत्पन्न हो गया था कि यदि कर्म ही न करें तो कर्मोंसे स्वतः सम्बन्धविच्छेद हो जायगा। इसलिये भगवान् नाना प्रकारकी युक्तियोंद्वारा उन्हें कर्म करनेके लिये प्रेरित करते हैं। उन्हीं युक्तियोंमेंसे एक इस युक्तिका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि अर्जुन! तुझे कर्म तो करने ही पड़ेंगे। अन्यकी तो बात ही क्या है, कर्म किये बिना तेरा शरीर-निर्वाह ( खाना-पीना आदि ) भी असम्भव हो जायगा।

जैसे ज्ञानयोगमें विवेकके द्वारा संसारसे सम्बन्धविच्छेद होता है, वैसे ही कर्मयोगमें कर्तव्य-कर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको किसी भी प्रकारसे कम नहीं मानना चाहिये। कर्मयोगी शरीरको संसारका ही मानकर उसे संसारकी ही सेवामें लगा देता है। अर्थात् शरीरमें उसका कोई अपनापन नहीं रहता। वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरकी एकता क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण-संसारसे करता है, जबकि ज्ञानयोगी जीवकी एकता ब्रह्मसे करता है। इस प्रकार कर्मयोगी जड़-तत्त्वकी एकता करता है और ज्ञान-योगी चेतन-तत्त्वकी एकता करता है।

## साधन-सम्बन्धी मार्मिक बात—

अर्जुनकी कर्मोंसे अरुचि है अर्थात् उनके मनमें कर्म न करनेका आग्रह है। केवल अर्जुनकी ही बात नहीं है, प्रत्युत पारमार्थिक मार्गके अन्य साधक भी प्रायः इस विषयमें ऐसी ही बड़ी भूल करते है। यद्यपि उनकी इच्छा साधन करनेकी रहती है, और साधन करते भी है, तथापि वे अपनी मनचाही परिस्थिति, अनुकूलता और सुखबुद्धि भी साथमें रखते हैं, जो उनके साधनमें महान् बाधक होती है।

जो साधक तत्त्वप्राप्तिमें सुगमता ढूँढ़ता है और उसे शीघ्र प्राप्त करना चाहता है, वह वास्तवमें सुखका रागी है, न कि साधनका प्रेमी। जो सुगमतासे तत्त्वप्राप्ति चाहता है, उसे कठिनता सहनी पड़ती है और जो शीघ्रतासे तत्त्वप्राप्ति चाहता है, उसे विलम्ब सहना पडता है। कारण कि सुगमता और शीघ्रताकी इच्छा करनेसे साधककी दृष्टि 'साधनपर' न रहकर 'फल'पर चली जाती है, जिससे साधनमें उकताहट प्रतीत होती है और साध्यकी प्राप्तिमें विलम्ब भी होता है। जिसका यह दृढ़ निश्चय या उद्देश्य है कि चाहे जैसे भी हो, मुझे तत्त्वकी प्राप्ति होनी ही चाहिये, उसकी दृष्टि सुगमता और शीघ्रतापर नहीं जाती। तत्परताके साथ कार्यमें लगा हुआ मनस्वी व्यक्ति जब अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कटिबद्ध होकर लग जाता है, तब वह सुख और दुःखकी ओर नहीं देखता—**'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्'** ( भर्तृहरिनीतिशतक )। साधककी तो बात ही क्या है, एक साधारण लोभी मनुष्य भी

दुःखकी ओर नहीं देखता। प्रायः देखा जाता है कि पसीना आ रहा है, भूख-प्यास लगी है अथवा शौचकी आवश्यकता जान पड़ती है, फिर भी यदि मालकी विशेष बिक्री हो रही है तथा पैसे आ रहे हैं तो वह लोभी व्यापारी सब कष्ट सह लेता है। ठीक लोभी व्यक्तिकी भाँति साधककी साध्यमें निष्ठा होनी चाहिये। उसे साध्यकी प्राप्तिके बिना चैनसे न रहा जाय, जीवन भारस्वरूप प्रतीत होने लगे, खाना-पीना, आराम आदि कुछ भी अच्छा न लगे और हृदयमें साधनका आदर और तत्परता रहे। साध्यको प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा होनेपर देरी तो असह्य होती है, पर वह शीघ्र प्राप्त हो जाय—यह इच्छा नहीं होती।

उत्कण्ठा दूसरी बात है एवं शीघ्र मिलनेकी इच्छा दूसरी बात। आसक्तिपूर्वक साधन करनेवाला साधक साधनमें सुखभोग करता है और उसमें विलम्ब या बाधा लगनेसे उसे क्रोध आता है एवं वह साधनमें दोषदृष्टि करता है। परंतु आदर और प्रेमपूर्वक साधन करनेवाला साधक साधनमें विलम्ब या बाधा लगनेपर आर्तभावसे रोने लगता है और उसकी उत्कण्ठा और तेजीसे बढ़ती है। यही शीघ्रता और उत्कण्ठामें अन्तर है। शीघ्रतामें साधकका सुख-सुविधाका भाव रहता है कि तत्त्वप्राप्ति शीघ्र हो जाय तो पीछे आराम करेंगे। इस प्रकार फलकी ओर दृष्टि रहनेसे साधनका आदर कम हो जाता है। परंतु उत्कण्ठामें साधक अपने साधनमें ही आराम मानता है कि साधनके सिवा और करना ही क्या है? वह विपरीत-से-विपरीत परिस्थितिमें भी आनन्दका अनुभव करता है।

शीघ्रतासे सिद्धि चाहनेवाला साधक साध्यकी प्राप्तिमे देरी होनेपर निराश भी हो सकता है। अतएव साधकको साध्यसे भी अधिक आदर साधनको देना चाहिये, जैसा कि माता पार्वतीने कहा है—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥
(मानस १।८०।५)

माता पार्वतीके भावोंमें शीघ्रता नहीं है। इनमें तो साधनको साध्यसे भी अधिक आदर दिया गया है।

प्रस्तुत श्लोकमें भगवान् अर्जुनको निमित्त बनाकर साधकोंको सावधान करते हैं कि उन्हे अपनी अनुकूलता तथा सुखबुद्धि (जो कि साधनमे मूल बाधा है) को त्यागकर कर्तव्य-कर्मोंको करनेमें बड़ी तत्परतासे लग जाना चाहिये।

सम्बन्ध—

*अर्जुनके प्रश्नका उत्तर भगवान्ने 'ज्यायः' पदके साथ पिछले श्लोकमें दिया। अब उसकी पुष्टि करते हुए 'बन्धनके भयसे भी कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है'—इस भावको स्पष्ट करते है।*

श्लोक—

**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**
**तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥**

भावार्थ—

यज्ञ (कर्तव्यपालन) के लिये किये जानेवाले कर्म बन्धन-कारक नहीं होते; किंतु यज्ञार्थ-कर्मके अतिरिक्त अपने सुख, आराम,

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उन्हीं कर्मोंसे मनुष्य-समुदाय बँधता है । इसलिये हे कुन्तीनन्दन ! तू आसक्तिसे रहित होकर केवल कर्तव्यपालनके लिये कर्म कर ।

अन्वय—

यज्ञार्थात्, कर्मण, अन्यत्र, अयम्, लोक, कर्मबन्धन, कौन्तेय, मुक्तसङ्ग, तदर्थम्, कर्म, समाचर ॥ ९ ॥

पद-व्याख्या—

**यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र**—यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अन्यत्र ( अपने लिये किये जानेवाले ) कर्मोंमें लगा हुआ ।

गीताके अनुसार कर्तव्यमात्रका नाम 'यज्ञ' है । यज्ञके अन्तर्गत यज्ञ, दान, तप, होम, तीर्थ-सेवन, व्रत, वेदाध्ययन आदि समस्त शारीरिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक क्रियाएँ आ जाती हैं । कर्तव्य मानकर किये जानेवाले व्यापार, नौकरी, दलाली, अध्ययन, अध्यापन आदि सब शास्त्रविहित कर्मोंका नाम भी यज्ञ है । दूसरोंको सुख पहुँचाने तथा उनका हित करनेके लिये जो भी कर्म किये जाते हैं, वे सभी यज्ञार्थ-कर्म हैं । यज्ञार्थ-कर्म करनेसे आसक्ति बहुत शीघ्र समाप्त हो जाती है तथा कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं ( गीता ४ । २३ ) अर्थात् वे कर्म स्वयं तो बन्धनकारक होते नहीं, अपितु पूर्वसंचित कर्मसमूहको भी समाप्त कर देते हैं ।

वास्तवमें मनुष्यकी स्थिति उसके उद्देश्यके अनुसार होती है, क्रियाके अनुसार नहीं । जैसे व्यापारीका प्रधान उद्देश्य धन कमाना रहता है; अतः वास्तवमें उसकी स्थिति धनमें ही रहती है और

दुकान बंद करते ही उसकी वृत्ति धनकी ओर चली जाती है। ऐसे ही यज्ञार्थ-कर्म करते समय कर्मयोगीकी स्थिति अपने उद्देश्य—परमात्मामे ही रहती है और कर्म समाप्त करते ही उसकी वृत्ति परमात्माकी ओर चली जाती है।

सभी वर्णोंके लिये कर्म पृथक्-पृथक् है। एक वर्णके लिये कोई कर्म स्वधर्म है तो वही दूसरे वर्णोंके लिये ( विहित न होनेसे ) परधर्म अर्थात् अन्यत्र-कर्म हो जाता है; जैसे—भिक्षासे जीवन-निर्वाह करना ब्राह्मणके लिये तो स्वधर्म है, पर क्षत्रियके लिये पर-धर्म है। इसी प्रकार निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म करना मनुष्यका स्वधर्म है। और सकामभावसे कर्म करना परधर्म है। जितने भी* सकाम और निषिद्ध कर्म है, वे सब-के-सब अन्यत्र-कर्मकी श्रेणीमे ही हैं। अपने सुख, मान, बडाई, आराम आदिके लिये जितने कर्म किये जायँ, वे सब-के-सब भी अन्यत्र-कर्म है। अतएव छोटा-से-छोटा तथा बड़ा-से-बड़ा जो भी कर्म किया जाय, उसमे साधकको सावधान रहना चाहिये कि कहीं किसी स्वार्थकी भावनासे तो कर्म नही हो रहा है! साधक उसीको कहते है जो निरन्तर सावधान रहता है। इसलिये साधकको अपनी साधनाके प्रति सतर्क, जागरूक रहना ही चाहिये।

**अन्यत्र-कर्मके विषयमें दो गुप्त भाव**—( १ ) किसीके आनेपर यदि कोई मनुष्य उसके प्रति 'आइये! बैठिये!' आदि आदरसूचक शब्दोका प्रयोग करता है, पर भीतरसे अपनेमे सज्जनताका

---

* अपने लिये कर्म करनेसे सकामभाव रहता है, और सकामभाव रहनेसे निषिद्ध कर्म होनेकी पूर्ण सम्भावना रहती है।

आरोप करता है अथवा 'ऐसा कहनेसे आनेवाले व्यक्तिपर मेरा अच्छा असर पड़ेगा'—इस भावसे कहता है तो इसमें स्वार्थकी भावना छिपी रहनेसे यह 'अन्यत्र-कर्म' ही है, यज्ञार्थ-कर्म नहीं।

(२) सत्सङ्ग, सभा आदिमें कोई व्यक्ति मनमें इस भावको रखते हुए प्रश्न पूछता है कि वक्ता एवं श्रोतागण मुझे अच्छा जानकार समझेंगे तथा उनपर मेरा अच्छा असर पड़ेगा तो यह 'अन्यत्र-कर्म' ही है, यज्ञार्थ-कर्म नहीं।

तात्पर्य यह है कि साधक कर्म तो करे, पर उसमें स्वार्थ, कामना आदिका भाव नहीं रहना चाहिये। कर्मका निषेध नहीं है, अपितु सकामभावका निषेध है।

साधकको भोग और ऐश्वर्य-बुद्धिसे कोई भी कर्म नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसी बुद्धिमें भोगासक्ति और कामना रहती है, जिससे कर्मयोगका आचरण नहीं हो पाता। निर्वाह-बुद्धिसे कर्म करनेपर भी जीनेकी कामना बनी रहती है। अतः निर्वाह-बुद्धि भी त्याज्य है। साधकको केवल साधन-बुद्धिसे ही प्रत्येक कर्म करना चाहिये। सबसे उत्तम साधक तो वह है, जो अपनी मुक्तिके लिये भी कोई कर्म न करके केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है। कारण कि अपना हित दूसरोंके लिये कर्म करनेसे होता है, अपने लिये कर्म करनेसे नहीं। दूसरोंके हितमें ही अपना हित है। दूसरोंके हितसे अपना हित अलग मानना ही गलती है। इसलिये लौकिक तथा शास्त्रीय जो भी कर्म किये जायँ, वे सब-के-सब केवल लोक-हितार्थ होने चाहिये।

अपने सुखके लिये किया गया कर्म तो बन्धनकारक है ही, अपने व्यक्तिगत हितके लिये किया गया कर्म भी बन्धनकारक है। केवल अपने हितकी ओर दृष्टि रखनेसे व्यक्तित्व बना रहता है। इसलिये और तो क्या, जप, चिन्तन, ध्यान, समाधि भी केवल लोकहितके लिये ही करे। तात्पर्य यह कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनो शरीरोसे होनेवाली मात्र क्रिया संसारके लिये ही हो, अपने लिये नहीं। 'कर्म' संसारके लिये है और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमात्माके साथ 'योग' अपने लिये है। इसीका नाम है—कर्मयोग।

**अयम् लोकः कर्मबन्धनः**—यह मनुष्य-समुदाय कर्मोंसे बँधता है।

कर्तव्य-कर्म ( यज्ञ ) करनेका अधिकार मुख्यरूपसे मनुष्यको ही है। इसका वर्णन भगवान्‌ने आगे सृष्टिचक्रके प्रसङ्ग ( ३ । १४–१६ ) में भी किया है। जिसका उद्देश्य प्राणिमात्रका हित करना, उन्हे सुख पहुँचाना होता है, उसीके द्वारा कर्तव्य-कर्म हुआ करते हैं। जब मनुष्य दूसरोके हितके लिये कर्म न करके केवल अपने सुखके लिये कर्म करता है, तब वह बँध जाता है।

आसक्ति और स्वार्थभावसे कर्म करना ही बन्धनका कारण है। आसक्ति और स्वार्थके न रहनेपर स्वतः सबके हितके लिये कर्म होते है। बन्धन भावसे होता है, क्रियासे नहीं। मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता, अपितु कर्मोंमे वह जो आसक्ति और स्वार्थभाव रखता है, उनसे ही वह बँधता है।

कौन्तेय—( इसलिये ) हे कुन्तीनन्दन !

**मुक्तसङ्गः तदर्थम् कर्म समाचर**—आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य-कर्म कर।

'मुक्तसङ्गः' पदसे भगवान्‌का यह तात्पर्य है कि कर्मोंमें, पदार्थोंमें तथा जिनसे कर्म किये जाते हैं, उन शरीर, मन, बुद्धि आदि सामग्रीमें ममता-आसक्ति होनेसे ही बन्धन होता है। ममता-आसक्ति रहनेसे कर्तव्य-कर्म भी स्वाभाविक एवं भलीभाँति नहीं होते। ममता-आसक्ति न रहनेसे परहितके लिये कर्तव्य-कर्मका स्वतः आचरण होता है और यदि कर्तव्य-कर्म प्राप्त न हो तो स्वतः निर्विकल्पतामें, स्वरूपमें स्थिति होती है। परिणामस्वरूप साधन निरन्तर होता है और असाधन कभी होता ही नहीं।

आलस्य और प्रमादके कारण नियत-कर्मका त्याग करना 'तामस-त्याग' कहलाता है ( गीता १८ । ७ ), जिसका फल मूढ़-योनियोंकी प्राप्ति है—'**तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते**' ( गीता १४ । १५ )। कर्मोंको दुःखरूप समझकर उनका त्याग करना 'राजस-त्याग' कहलाता है ( गीता १८ । ८ ), जिसका फल दुःखोंकी प्राप्ति है—'**रजसस्तु फलं दुःखम्**' ( गीता १४ । १६ )। इसलिये यहाँ भगवान् अर्जुनको कर्मोंका त्याग करनेके लिये नहीं कहते, अपितु स्वार्थ, ममता, फलासक्ति, कामना, वासना, पक्षपात आदिसे रहित होकर शास्त्रविधिके अनुसार सुचारुरूपसे उत्साहपूर्वक कर्तव्य-कर्मोंको करनेकी आज्ञा देते हैं, जो 'सात्त्विक त्याग' कहलाता है ( गीता १८ । ९ )। स्वयं भगवान्

भी आगे चलकर कहते हैं कि मेरे लिये कुछ भी करना शेष नहीं है, तब भी मै सावधानीपूर्वक कर्म करता हूँ ( ३ । २२-२३ )।

कर्तव्य-कर्मोका भलीभॉति आचरण करनेमे दो कारणोंसे शिथिलता आती है—( १ ) मनुष्यका स्वभाव है कि वह पहले फलकी कामना करके ही कर्ममें प्रवृत्त होता है । जब वह देखता है कि कर्मयोगके अनुसार फलकी कामना नहीं रखनी है, तब वह विचार करता है कि कर्म ही क्यो करूँ ? ( २ ) कर्म प्रारम्भ करनेके बाद जब अन्तमें उसे पता लग जाय कि इसका फल विपरीत होगा, तब वह विचार करता है कि हम कर्म तो अच्छा-से-अच्छा करें, पर फल विपरीत मिले तो फिर कर्म करे ही क्यो ?

कर्मयोगी न तो कोई कामना करता है और न कोई नाशवान् फल ही चाहता है, वह तो मात्र संसारका हित सामने रखकर ही कर्तव्य-कर्म करता है । अत: उपर्युक्त दोनो कारणोंसे उसके कर्तव्य-कर्ममे शिथिलता नहीं आ सकती ।

## मार्मिक बात—

मनुष्यका प्रायः ऐसा स्वभाव हो गया है कि जिसमें उसे अपना स्वार्थ दिखायी देता है, उसी कर्मको वह बडी तत्परतासे करता है । परन्तु वही कर्म उसके लिये बन्धनकारक हो जाता है । अतः इस बन्धनसे छूटनेके लिये उसे कर्मयोगके अनुसार आचरण करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है ।

कर्मयोगमें सभी कर्म केवल दूसरोके लिये किये जाते है, अपने लिये कदापि नहीं । दूसरे कौन-कौन हैं ?—इसे समझना

भी बहुत आवश्यक है । अपने शरीरके अतिरिक्त दूसरे प्राणी-पदार्थ तो दूसरे हैं ही, पर ये अपने कहलानेवाले स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर ( इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण ) और कारण-शरीर ( जिसमें माना हुआ 'अहं' है ) भी स्वयसे दूसरे ही हैं। कारण कि स्वयं ( जीवात्मा ) चेतन परमात्माका अंश है और ये शरीर आदि पदार्थ जड़ प्रकृतिके अंश हैं। समस्त क्रियाएँ जडमें और जड़के लिये ही होती हैं। चेतनमें और चेतनके लिये कभी कोई क्रिया नहीं होती अतः 'करना' अपने लिये है ही नहीं, कभी हुआ नहीं और हो सकता भी नहीं। हाँ, संसारसे मिले हुए इन शरीर आदि जड पदार्थोंको चेतन जितने अंशमें 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मान लेता है, उतने अंशमें उसका स्वभाव 'अपने लिये' करनेका हो जाता है। अतः दूसरोंके लिये कर्म करनेसे ममता-आसक्ति सुगमतापूर्वक मिट जाती है।

शरीरकी अवस्थाएँ ( बचपन, जवानी आदि ) बदलनेपर भी 'मैं वही हूँ'—इस रूपमें अपनी एक निरन्तर रहनेवाली सत्ताका प्राणिमात्रको अनुभव होता है। इस अपरिवर्तनशील सत्ता ( अपने होनेपन ) की परमात्मतत्त्वके साथ स्वतः एकता है और परिवर्तन-शील शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी संसारके साथ स्वतः एकता है। हमारे द्वारा जो भी क्रिया की जाती है, वह शरीर, इन्द्रियों आदिके द्वारा ही की जाती है, क्योंकि क्रियामात्रका सम्बन्ध प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ है, स्वयं ( अपने स्वरूप ) के साथ नहीं। इसलिये शरीरके सम्बन्धके बिना हम कोई भी क्रिया नहीं कर सकते। इससे यह बात निश्चितरूपसे सिद्ध होती

है कि हमें अपने लिये कुछ भी नहीं करना है; जो कुछ करना है, संसारके लिये ही करना है। कारण कि 'करना' उसीपर लागू होता है, जो स्वयं कर सकता है। जो स्वय कुछ कर ही नहीं सकता, उसके लिये 'करने' का विधान है ही नहीं। जो कुछ किया जाता है, संसारकी सहायतासे ही किया जाता है। अतः 'करना' संसारके लिये ही है। अपने लिये करनेसे ही मनुष्य कर्मोंसे बँधता है—**'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'**।

विनाशी और परिवर्तनशील शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके साथ अपने अविनाशी और अपरिवर्तनशील स्वरूपका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये अपना और अपने लिये कुछ भी नहीं है। शरीरादिकी सहायताके बिना हम कुछ नहीं कर सकते, इसलिये अपने लिये कुछ भी नहीं करना है। अपने सत्-स्वरूपमें कभी कोई कमी नहीं आती और कमी आये बिना कोई इच्छा नहीं होती, इसलिये अपने लिये कुछ भी नहीं चाहिये। इस प्रकार जब क्रिया और पदार्थसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है ( जो वास्तवमें है ), तब यदि ज्ञानके संस्कार हैं तो स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है, और यदि भक्तिके संस्कार हैं तो भगवान्‌में प्रेम हो जाता है।

सम्बन्ध—

*पिछले ( नवे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) के अतिरिक्त कर्म बन्धनकारक होते हैं। अतः इस बन्धनसे मुक्त होनेके लिये कर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर कर्तव्यबुद्धिसे कर्म करना आवश्यक है। इसलिये अगले तीन श्लोकोंमें भगवान् यह बतला*

रहे हैं कि केवल मैंने ही नहीं, अपितु सृष्टिकी रचना करनेवाले ब्रह्माजीने भी सृष्टि-निर्माणके साथ-साथ यज्ञ ( कर्तव्य-कर्म ) करनेका उपदेश प्रजाको ( १० वे श्लोकके उत्तरार्धसे १२ वे श्लोकके पूर्वार्धतक ) दिया है।

श्लोक—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १० ॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११ ॥

भावार्थ—

प्रजापति ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिकालमें कर्तव्य-कर्मोंके विधान-सहित प्रजा ( देवता, मनुष्य आदि ) की रचना करके उनसे ( प्रधानतया मनुष्योंसे ) कहा कि तुमलोग अपने कर्तव्यके द्वारा अपनी वृद्धि करो और वह कर्तव्य-कर्म ही तुमलोगोंको कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला हो। अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग अपने कर्तव्यके द्वारा तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार अपने-अपने कर्तव्यके द्वारा सृष्टिमात्रको सुख पहुँचाओ। स्वार्थ, कामना, ममता, आसक्ति एवं कर्तृत्वाभिमानका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करनेसे प्राणिमात्रका स्वतः हित होता है। इस प्रकार निःस्वार्थ-भावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग अवश्य ही परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।

भगवान्‌ने मनुष्यमात्रको कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दी है ! ऐसी स्वतन्त्रता अन्य योनियोमें नहीं है । यद्यपि देवयोनिमे ऐसी स्वतन्त्रता देखी जा सकती है, तथापि भोगोंकी अधिकताके कारण वह भी एक प्रकारसे भोगयोनि ही है । इसलिये कर्मफलके साथ अपना कोई सम्बन्ध न मानकर समतापूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेसे मनुष्य ही सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सकता है ।

अन्वय—

**प्रजापतिः, पुरा, सहयज्ञाः, प्रजाः, सृष्ट्वा, उवाच, (यूयम्), अनेन, प्रसविष्यध्वम्, एषः, वः, इष्टकामधुक्, अस्तु ॥ १० ॥**

**अनेन, देवान्, भावयत, ते, देवाः, वः, भावयन्तु, (एवम्), परस्परम्, भावयन्तः, (यूयम्), परम्, श्रेयः, अवाप्स्यथ ॥ ११ ॥**

पद-व्याख्या—

**प्रजापतिः**—प्रजापति ब्रह्माजीने ।

ब्रह्माजी प्रजा ( सृष्टि ) के रचयिता एवं उसके स्वामी हैं; अतः अपने कर्तव्यका पालन करनेके साथ वे प्रजाकी रक्षा तथा उसके कल्याणका विचार करते रहते है । कारण कि जो जिसे उत्पन्न करता है, उसकी रक्षा करना उसका कर्तव्य हो जाता है । ब्रह्माजी प्रजाकी रचना करते, उनकी रक्षामें तत्पर रहते तथा सदा उसके हितकी बात सोचते है, इसीलिये वे 'प्रजापति' कहलाते हैं ।

**पुरा**—सृष्टि ( कल्प ) के आदिमे ।

कर्मयोग अनादिकालसे चला आ रहा है । चौथे अध्यायके तीसरे श्लोकमें **'पुरातनः'** पदसे भी भगवान् कहते हैं कि यह कर्मयोग बहुत कालसे प्रायः लुप्त हो गया था, जिसे मैंने तुझे

फिरसे कहा है। उसी बातको यहाँ भी 'पुरा' पदसे वे दूसरे प्रकारसे कहते है कि मैने ही नहीं, अपितु ब्रह्माजीने भी सृष्टिके आदिकालमें कर्तव्य-सहित प्रजाको रचकर उन्हें उसी कर्मयोगका आचरण करनेकी आज्ञा दी थी। तात्पर्य यह हैं कि कर्मयोग ( निःस्वार्थभावसे कर्तव्य-कर्म करने ) की परम्परा अनादिकालसे ही चली आ रही है। यह कोई नयी बात नहीं है।

**सहयज्ञाः**—यज्ञ ( कर्तव्य-कर्म ) के सहित।

चौथे अध्यायमें ( चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक ) परमात्मप्राप्तिके जितने साधन बतलाये गये हैं, वे सभी 'यज्ञ'के नामसे कहे गये हैं; जैसे—द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, प्राणायाम आदि। प्रायः 'यज्ञ' शब्दका अर्थ हवनसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाके लिये ही प्रसिद्ध है, परंतु गीतामें 'यज्ञ' शब्द शास्त्रविधिसे की जानेवाली सम्पूर्ण विहित क्रियाओंका वाचक भी है। अपने वर्ण, आश्रम, धर्म, जाति, स्वभाव, देश, काल आदिके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्म 'यज्ञ'-के अन्तर्गत आते हैं। दूसरेके हितकी भावनासे किये जानेवाले सब कर्म भी 'यज्ञ' ही हैं। ऐसे यज्ञ ( कर्तव्य ) का दायित्व मनुष्यपर ही है।

सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माजीने कर्तव्य-कर्मोंकी योग्यता और विवेक-सहित मनुष्योंकी रचना की है। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग कल्याण करनेवाला है। इसलिये ब्रह्माजीने अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग करनेका विवेक साथ देकर ही मनुष्योंकी रचना की है।

सत्-असत्का विचार करनेमे असमर्थ पशु, पक्षी, वृक्ष आदिके द्वारा स्वाभाविक परोपकार ( कर्तव्यपालन ) होता है; किन्तु मनुष्यको तो भगवत्कृपासे विशेष विवेक-शक्ति मिली हुई है । अतः यदि वह अपने विवेकको महत्त्व देकर अकर्तव्य न करे तो उसके द्वारा भी स्वाभाविक लोक-हितार्थ कर्म हो सकते है ।

**प्रजाः**—प्रजाओको ।

देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य तथा अन्य ( पशु, पक्षी, वृक्ष आदि ) सभी प्राणी 'प्रजा' है । इनमे भी योग्यता, अधिकार और साधनकी विशेषताके कारण मनुष्यपर अन्य सब प्राणियोके पालनका भार है । अतएव यहाॅ 'प्रजाः' पद विशेषरूपसे मनुष्योके लिये ही प्रयुक्त हुआ है ।

**सृष्ट्वा**—रचकर ।

यहाॅ यह समझ लेना चाहिये कि भगवान्की आज्ञासे और उन्हींकी शक्तिसे ब्रह्माजी प्रजाकी रचना करते हैं । अतः वास्तवमे सृष्टिके मूल रचयिता भगवान् ही हैं (गीता ४ । १३, १७ । २३ )*।

**उवाच**—( उनसे ) कहा कि ।

( **यूयम्** )—तुमलोग ।

---

* चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

**अनेन प्रसविष्यध्वम्**—इस कर्तव्यके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ।

अर्जुनकी कर्म न करनेमें जो रुचि थी, उसे दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि प्रजापति ब्रह्माजीके वचनोंसे भी तुम्हें कर्तव्य-कर्म करनेकी शिक्षा लेनी चाहिये। दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करनेसे ही तुम्हारी लौकिक और पारलौकिक उन्नति हो सकती है।

**एषः**—यह ( कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ )।

**वः**—तुम लोगोंको।

**इष्टकामधुक्* अस्तु**—कर्तव्य-कर्मको सिद्ध करनेके लिये आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला हो।

निष्कामभावसे केवल कर्तव्य-पालनके विचारसे कर्म करनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है और सकामभावसे कर्म करनेपर मनुष्य बन्धनमें पड़ जाता है। प्रस्तुत प्रकरणमें निष्कामभावसे किये जानेवाले कर्तव्य-कर्मका विवेचन चल रहा है। अतः यहाँ 'इष्टकाम' पदका अर्थ 'इच्छित भोग-सामग्री' ( जो सकामभावका सूचक है ) लेना उचित प्रतीत नहीं होता। यहाँ इस पदका अर्थ है—यज्ञ ( कर्तव्य-कर्म ) करनेकी आवश्यक सामग्री।†

---

* 'इष्ट' शब्द 'यज्' धातुसे कृदन्तका 'क्त' प्रत्यय करनेसे बनता है, जो यज्ञ ( कर्तव्य-कर्म ) का वाचक है, और 'काम' शब्द 'कमु' धातुसे 'अण्' प्रत्यय करनेसे बनता है, जो पदार्थ ( सामग्री ) का वाचक है।

† पिछले ( नवें ) श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि यज्ञ ( कर्तव्य )के निमित्त किये जानेवाले कर्मोंके सिवा अन्य कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य ही बँधता है और आगे तेरहवें श्लोकमें भी कहा है कि जो अपनी इच्छापूर्तिके

कर्मयोगी दूसरोंकी सेवा अथवा हित करनेके लिये सदैव तत्पर रहता है। इसलिये प्रजापति ब्रह्माजीके विधानके अनुसार दूसरोंकी सेवा करनेकी सामग्री, सामर्थ्य और शरीर-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुओंकी उसे कभी कमी नहीं रहती। उसे ये उपयोगी वस्तुएँ सुगमतापूर्वक मिलती रहती हैं। ब्रह्माजीके विधानके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेकी सामग्री जिस-जिसको, जो-जो भी मिली हुई है, वह कर्तव्य-पालन करनेके लिये उस-उसको पूरी-की-पूरी प्राप्त है। कर्तव्य-पालनकी सामग्री कभी किसीके पास अधूरी नहीं होती। ब्रह्माजीके विधानमें कभी अन्तर नहीं पड़ सकता; क्योंकि जब उन्होंने कर्तव्य-कर्म करनेका विधान निश्चित किया है तो जितनेसे कर्तव्यका पालन हो सके, उतनी सामग्री देना भी उन्हींपर निर्भर है।

वस्तुतः मनुष्यशरीर भोग भोगनेके लिये है ही नहीं—'एहि तन कर फल बिषय न भाई' ( मानस ७ । ४३ । १ )। इसीलिये 'सांसारिक सुखोंको भोगो'—ऐसी आज्ञा या विधान किसी भी सत्-शास्त्रमें नहीं है। समाज भी स्वच्छन्द भोग भोगनेकी आज्ञा

---

लिये ही कर्म करते हैं, वे पापीलोग पापका ही भक्षण करते हैं। तात्पर्य यह कि यज्ञ ( कर्तव्य ) के लिये ही उचित कर्म करना चाहिये, न कि इच्छित पदार्थ पानेके लिये। यदि 'इष्टकाम' पदका अर्थ 'इच्छित पदार्थ' लिया जाय तो कर्तव्य-कर्मोंका करना ऐसे पदार्थोंके लिये हो जाता है, जो भगवान्‌के मतमें बन्धनकारक है। अतः 'इष्टकाम' पदका अर्थ 'कर्तव्यके लिये आवश्यक सामग्री' ही है।

नहीं देता। इसके विपरीत दूसरोंको सुख पहुँचानेकी आज्ञा या विधान शास्त्र एवं समाज दोनों ही देते हैं। जैसे, पिताके लिये यह विधान तो मिलता है कि वह पुत्रका पालन-पोषण करे, पर यह विधान कहीं भी नहीं मिलता कि पुत्रसे पिता सेवा ले ही। इसी प्रकार पुत्र-पत्नी आदि अन्य सम्बन्धोंके प्रति भी समझना चाहिये।

कर्मयोगी सदैव देनेका ही भाव रखता है, लेनेका नहीं; क्योंकि लेनेका भाव ही बाँधनेवाला है। लेनेका भाव रखनेसे कल्याणप्राप्तिमें बाधा लगनेके साथ ही सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिमें भी बाधा उपस्थित हो जाती है। प्रायः सभीका अनुभव है कि संसारमें लेनेका भाव रखनेवालेको कोई देना नहीं चाहता। इसलिये ब्रह्माजी कहते हैं कि बिना कुछ चाहे, निःस्वार्थभावसे कर्तव्य-कर्म करनेसे ही मनुष्य अपनी उन्नति ( कल्याण ) कर सकता है।

**अनेन देवान् भावयत**—इस ( कर्तव्य ) के द्वारा देवताओंको उन्नत करो।

यहाँ 'देव' शब्द उपलक्षक है; अतः इस पदके अन्तर्गत मनुष्य, देवता, ऋषि, पितर आदि समस्त प्राणियोंको समझना चाहिये। कारण कि कर्मयोगीका उद्देश्य अपने कर्तव्य-कर्मोंसे प्राणिमात्रको सुख पहुँचाना रहता है। इसलिये यहाँ ब्रह्माजी सम्पूर्ण प्राणियोंकी उन्नतिके लिये मनुष्योंको अपने कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके पालनका आदेश देते हैं। अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेसे मनुष्यका स्वतः कल्याण हो जाता है—'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः

**संसिद्धिं लभते नरः**" ( गीता १८ । ४५ ) । कर्तव्य-कर्मका पालन करनेके उपदेशके पूर्ण अधिकारी मनुष्य ही है । मनुष्योंको ही कर्म करनेकी स्वतन्त्रता मिली हुई है; अतः उन्हें इस स्वतन्त्रताका सदुपयोग करना चाहिये ।

**ते देवाः वः भावयन्तु**—वे देवता तुमलोगोको उन्नत करें ।

जैसे वृक्ष, लता आदिमे स्वाभाविक ही फूल-फल लगते है, परंतु यदि उन्हें खाद और पानी दिया जाय तो उनमे फूल-फल अच्छे लगते है । ऐसे ही यजन-पूजनसे देवताओकी पुष्टि होती है, जिससे देवताओके काम विशेष न्यायप्रद होते है । परंतु जब मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मोके द्वारा देवताओका यजन-पूजन नहीं करते, तब देवताओको पुष्टि नहीं मिलती, जिससे उनमे अपने कर्तव्यका पालन करनेमे कमी आ जाती है । उनके कर्तव्य-पालनमे कमी आनेसे ही संसारमे विप्लव अर्थात् अनावृष्टि, अतिवृष्टि आदि होते है ।

**( एवम् ) परस्परम् भावयन्तः**—इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए ।

दूसरोकी उन्नतिमें जो प्रसन्नता होती है, वह प्रतिक्षण बढती रहती है । दूसरोकी प्रसन्नतामे जो आनन्द आता है, वैसा आनन्द अपनी उन्नतिके सुखभोगमे नहीं आता ।

यहाँ '**परस्परम्**' पदका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि दूसरा हमारी सेवा करे तो हम उसकी सेवा करें, अपितु यह

समझना चाहिये कि दूसरा हमारी सेवा करे या न करे, हमें तो अपने कर्तव्यके द्वारा उसकी सेवा करनी ही है। दूसरा क्या करता है, क्या नहीं करता, हमें सुख देता है या दुःख, इन बातोंसे हमें कोई प्रयोजन नहीं रखना चाहिये; क्योंकि दूसरोंके कर्तव्यको देखनेवाला अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है। परिणामस्वरूप उसका पतन हो जाता है। दूसरोंसे कर्तव्यका पालन करवाना अपने अधिकारकी बात भी नहीं है। हमें सबका हित करनेके लिये केवल अपने कर्तव्यका पालन करना है और उसके द्वारा सबको सुख पहुँचाना है। सेवा करनेमें अपनी समझ, सामर्थ्य, समय और सामग्रीको अपने लिये किञ्चित् भी बचाकर नहीं रखना है। तभी जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होगा।

हमारे जितने भी सांसारिक सम्बन्धी—माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदि हैं, उन सबकी हमे सेवा करनी है। अपना सुख लेनेके लिये ये सम्बन्ध नहीं है। हमारा जिनसे जैसा सम्बन्ध है, उसीके अनुसार उनकी सेवा करना, उन्हें मर्यादित सुख पहुँचाना हमारा कर्तव्य है। उनसे कोई आशा रखना एवं उनपर अपना अधिकार मानना बहुत बडी भूल है। हम उनके ऋणी हैं, इसलिये ऋण उतारनेके लिये उनके यहाँ हमारा जन्म हुआ है। अतः निःस्वार्थभावसे उन सम्बन्धियोंकी सेवा करके हम अपना ऋण चुका दें—यह हमारा सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है। सेवा तो हमें सभीकी करनी है; परंतु जिनका हमपर भार है, उन सम्बन्धियोंकी सेवा सबसे पहले करनी चाहिये।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि अपने नहीं हैं और अपने लिये भी नहीं हैं—यह सिद्धान्त है। अतः अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेसे स्वतः एक-दूसरेकी उन्नति होती है।

## कर्तव्य और अधिकार-सम्बन्धी मार्मिक बात—

कर्मयोग तभी होता है, जब मनुष्य अपने कर्तव्यके पालनपूर्वक दूसरेके अधिकारकी रक्षा करे। जैसे, माता-पिताकी सेवा करना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है। जो दूसरेका अधिकार होता है, वही हमारा कर्तव्य होता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपने कर्तव्य-पालनके द्वारा दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनी है तथा दूसरेका कर्तव्य नहीं देखना है। दूसरेका कर्तव्य देखनेसे मनुष्य स्वयं कर्तव्यच्युत हो जाता है, क्योंकि दूसरेका कर्तव्य देखना हमारा कर्तव्य नहीं है। तात्पर्य है कि दूसरेका हित करना है—यह हमारा कर्तव्य है और दूसरेका अधिकार है। यद्यपि अधिकार कर्तव्यके ही अधीन है, तथापि मनुष्यको अपना अधिकार देखना ही नहीं है, प्रत्युत अपने अधिकारका त्याग करना है। केवल दूसरेके अधिकारकी रक्षाके लिये अपने कर्तव्यका पालन करना है। दूसरेका कर्तव्य देखना तथा अपना अधिकार जमाना लोक और परलोकमें महान् पतन करनेवाला है। वर्तमान समयमें घरोंमें, समाजमें जो अशान्ति, कलह, संघर्ष देखनेमें आ रहा है उसमें मूल कारण यही है कि लोग अपने अधिकारकी माँग तो करते हैं, पर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते! इसलिये ब्रह्माजी

देवताओ और मनुष्योको उपदेश देते हैं कि एक-दूसरेका हित करना तुमलोगोका कर्तव्य है।

( यूयम् ) परम् श्रेयः अवाप्स्यथ—तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।

प्रायः ऐसी धारणा बनी हुई है कि यहाँ परम कल्याणकी प्राप्तिका कथन अतिशयोक्ति है, पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। यदि इसमें किसीको सन्देह हो तो वह ऐसा करके स्वयं देख सकता है। जैसे धरोहर रखनेवालेकी धरोहर उसे वापस कर देनेसे धरोहर रखनेवालेसे तथा उस धरोहरसे हमारा किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही संसारकी वस्तु संसारकी सेवामें लगा देनेसे संसार और संसारकी वस्तुसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद होते ही चिन्मयताका अनुभव हो जाता है। अतः प्रजापति ब्रह्माजीके वचनोंमे अतिशयोक्तिकी कल्पना करना अनुचित है।

यह सिद्धान्त है कि जबतक मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, तबतक उसके कर्मकी समाप्ति नहीं होती और वह कर्मोंसे बँधा रहता है। कृतकृत्य वही होता है, जो अपने लिये कभी कुछ नहीं करता। अपने लिये कुछ भी नहीं करनेसे पापका आचरण भी नहीं होता, क्योंकि पापका आचरण कामनाके कारण ही होता है ( गीता ३।३७ )। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले साधकको चाहिये कि वह शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार फलकी इच्छा और

आसक्तिका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करनेमें तत्पर हो जाय, फिर कल्याण तो स्वतःसिद्ध है।

अपनी कामनाका त्याग करनेसे संसारमात्रका हित होता है। जो अपनी कामना-पूर्तिके लिये आसक्तिपूर्वक भोग भोगता है, वह स्वयं तो अपनी हिंसा ( पतन ) करता ही है, साथ ही जिनके पास भोग-सामग्रीका अभाव है, उनकी भी हिंसा करता है अर्थात् दुःख देता है। कारण कि भोग-सामग्रीसे युक्त मनुष्यको देखकर अभावग्रस्त मनुष्यको उस भोग-सामग्रीके अभावका दुःख होना स्वाभाविक है। इस प्रकार स्वयं सुख भोगनेवाला व्यक्ति हिंसासे कभी बच नहीं सकता। ठीक इसके विपरीत पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले व्यक्तिको देखकर दूसरोंको स्वतः शान्ति मिलती है; क्योंकि पारमार्थिक सम्पत्तिपर सबका समान अधिकार है। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य कामना-आसक्तिका त्याग करके अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करता रहे तो ब्रह्माजीके कथनानुसार वह परम कल्याणको अवश्य ही प्राप्त हो जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि नित्यप्राप्त होनेपर भी परमात्मा अथवा परम कल्याणका अनुभव हमें क्यों नहीं हो रहा है? इसका समाधान यह है कि जबतक अपने लिये कुछ भी 'करने' और 'पाने' की इच्छा रहती है तबतक नित्यप्राप्त तत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता। इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको इन दोनों इच्छाओंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मिलनेवाली प्रत्येक वस्तु बिछुड़नेवाली होती है, पर जो नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्व है, वह

कभी किसी अवस्थामें नहीं बिछुड़ता, चाहे हमें उसका अनुभव हो अथवा न हो। इस वास्तविकताको भलीभाँति जान लेनेपर 'पाने' की इच्छा और केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेपर 'करने' की इच्छा स्वत मिट जाती है। करने और पानेकी इच्छा मिटते ही नित्यप्राप्त तत्त्वका अनुभव हो जाता है और साधक कृतकृत्य तथा प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है।

श्लोक—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

भावार्थ—

यज्ञसे भावित अर्थात् पुष्ट हुए देवता भी तुमलोगोंको बिना माँगे ही कर्तव्य-कर्म करनेके लिये आवश्यक सामग्री देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंसे प्राप्त हुई सामग्रीको दूसरोंकी सेवामें लगाये बिना जो मनुष्य स्वयं ही उसका उपभोग करता है अर्थात् उसे केवल अपने ही काममें लगाता है, वह चोर ही है।

किसी भी मनुष्यका जीवन ( चाहे वह गरीब-से-गरीब अथवा धनी-से-धनी राजा-महाराजा ही क्यों न हो ) दूसरोंकी सहायता लिये बिना चल ही नहीं सकता। कारण कि कोई भी व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने द्वारा पूरी नहीं कर सकता। इसलिये जिनसे सहायता ली है और ले रहा है, उन प्राणियोंकी सेवा करना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है और उनकी सेवा न करना उसकी कृतघ्नता है।

जो मनुष्य मिली हुई वस्तुओंसे दूसरोंकी सेवा न करके स्वयं अकेला ही उनका उपभोग करता है, ऐसे अपने कर्तव्य-कर्मसे च्युत हुए व्यक्तिको भगवान् चोरकी उपाधि देकर उसकी ताड़ना करते हैं।

अन्वय—

हि, यज्ञभाविताः, देवाः, वः, इष्टान्, भोगान्, दास्यन्ते, तैः, दत्तान्, यः, एभ्यः, अप्रदाय, भुङ्क्ते, सः, स्तेनः, एव ॥ १२ ॥

पद-व्याख्या—

**हि यज्ञभाविताः देवाः वः इष्टान् भोगान्* दास्यन्ते**—क्योंकि यज्ञसे भावित हुए देवता तुमलोगोंको ( बिना माँगे ही ) कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे।

यहाँ भी **'इष्टभोग'** शब्दका अर्थ इच्छित पदार्थ नहीं हो सकता। कारण कि पिछले ( ग्यारहवें ) श्लोकमें परम कल्याणको प्राप्त होनेकी बात आयी है और उसके हेतुके लिये प्रस्तुत ( बारहवाँ ) श्लोक है। भोगोंकी इच्छा रहते परम कल्याण कभी हो ही नहीं सकता। अतः यहाँ **'इष्ट'** शब्द 'यज्' धातुसे निष्पन्न होनेसे तथा **'भोग'** शब्दका अर्थ आवश्यक सामग्री होनेसे उपर्युक्त पदोंका अर्थ होगा—वे देवता तुमलोगोंको यज्ञ ( कर्तव्य-कर्म ) करनेकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे।

यहाँ **'यज्ञभाविताः देवाः'** पदोंका तात्पर्य है कि देवता तो

---

* **'भुज्'पालनाभ्यवहारयोः**' ( सिद्धान्तकौमुदी १५४८ )—'भुज्' धातुके दो अर्थ होते हैं—पालन और भक्षण। यहाँ 'पालन' अर्थ लेना ही उचित प्रतीत होता है।

अपना अधिकार समझकर मनुष्योंको आवश्यक सामग्री प्रदान करते ही हैं, केवल मनुष्योंको ही अपना कर्तव्य निभाना है। देवता अपने दायित्वसे बाध्य होकर मनुष्योंको कर्तव्य करनेकी आवश्यक सामग्री देते ही रहेंगे।

सृष्टिके आदिकालमें प्रजापति ब्रह्माजीने यज्ञ ( कर्तव्य-पालन ) की उपयोगी वस्तुओंके सहित प्राणियोंकी रचना की—'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' ( गीता ३। १० ) अर्थात् उन्होंने आवश्यक सामग्री बिना माँगे ही पूर्णरूपसे पहलेसे ही दे दी है। इस प्रकार वे तो अपने कर्तव्यका पालन कर ही रहे हैं, अब केवल मनुष्यको अपने कर्तव्यका पालन करना है—यह बात 'च' पदके अन्तर्गत छिपी हुई है। अपने स्वार्थकी भावना न रखकर केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करना ही 'च' पदका तात्पर्य है।

**तैः दत्तान् यः एभ्यः अप्रदाय भुङ्क्ते**—( इस प्रकार ) उन ( देवताओं ) से प्राप्त हुई कर्तव्य-कर्मकी सामग्रीको जो पुरुष उन ( देवताओं ) को बिना दिये अपने काममें लाता है।

ब्रह्माजीने देवताओंके लिये 'ते देवाः' पदोंका प्रयोग किया है; क्योंकि उनके सामने मनुष्य थे, देवता नहीं। परंतु यहाँ 'एभ्यः' पद ( जो 'इदम्' शब्दसे बनता है ) का प्रयोग हुआ है, जो समीपताका द्योतक है। भगवान्‌के लिये सभी समीप ही हैं।*

---

* वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥
( गीता ७। २६ )

इससे यह प्रतीत होता है कि अब यहाँसे भगवान्‌के वचन प्रारम्भ होते है।

यहाँ 'भुङ्क्ते'* पदका तात्पर्य केवल भोजन करनेसे ही नहीं है, अपितु शरीरनिर्वाहकी समस्त आवश्यक सामग्री ( भोजन, वस्त्र, धन, मकान आदि ) को अपने सुखके लिये काममे लानेसे है।

यह शरीर माता-पितासे मिला है एव इसका पालन-पोषण भी उन्हींके द्वारा हुआ है। विद्या गुरुजनोसे मिली है। देवता सबको कर्तव्य-कर्मकी सामग्री देते है। ऋषि सबको ज्ञान देते है। पितर सबका भरण-पोषण करते है। मनुष्य कर्मोंके द्वारा एक-दूसरेकी सेवा करते है। पशु-पक्षी, वृक्ष, लता आदि दूसरोंके सुखमें स्वयंको समर्पित कर देते है। यद्यपि पशु-पक्षी आदिको यह ज्ञान नहीं रहता कि हम परोपकार कर रहे है, तथापि उनसे दूसरोंका उपकार स्वतः होता रहता है। इस प्रकार हमारे पास जो कुछ भी सामग्री—बल, योग्यता, पद, अधिकार, धन, सम्पत्ति आदि है, वह सब-की-सब हमे दूसरोंसे ही मिली है। इसलिये इन्हे दूसरोंकी ही सेवामे लगाना है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी पदार्थ हमे संसारसे मिले है। ये कभी अपने नहीं हैं और अपने होगे भी नहीं। अतः

---

'हे अर्जुन ! पूर्वमे व्यतीत हुए और वर्तमानमे स्थित तथा आगे होनेवाले सब प्राणियोको मैं जानता हूँ, परतु मुझे कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नही जानता।'

* यहाँ अनवनार्थक भुज् धातुसे 'भुङ्क्ते' पद निष्पन्न है। अनवनका अर्थ है—भक्षण अर्थात् वस्तुको अपने काममे लेना।

इन्हें अपना और अपने लिये मानकर इनसे सुख भोगना ही बन्धन है। इस बन्धनसे छूटनेका यही सरल उपाय है कि जिनसे ये पदार्थ हमें मिले हैं, इन्हें उन्हींका मानते हुए उन्हींकी सेवामें निष्कामभावपूर्वक लगा दें। यही हमारा परम कर्तव्य है।

साधकोंके मनमें प्रायः ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है कि यदि हम संसारकी सेवा करेंगे तो उनमें हमारी आसक्ति हो जायगी और हम संसारमें फँस जायँगे। परन्तु भगवान्‌के वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि फँसनेका कारण सेवा नहीं है, अपितु अपने लिये कुछ भी लेनेका भाव ही है। इसलिये लेनेका भाव त्यागकर देवताओंकी तरह दूसरोंको सुख पहुँचाना ही मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है।

कर्मयोगके सिद्धान्तमें प्राप्त सामग्री, सामर्थ्य, समय तथा समझदारीका सदुपयोग करनेका ही विधान है। प्राप्त सामग्री आदिसे अधिककी ( नयी-नयी सामग्री आदिकी ) कामना करना कर्मयोगके सिद्धान्तसे विरुद्ध है। अतः प्राप्त सामग्री आदिको ही दूसरोंके हितमें लगाना है। अधिककी किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं है। युक्तिसंगत बात है कि जिसमें जितनी शक्ति होती है, उससे उतनी ही आशा की जाती है, फिर भगवान् अथवा देवता उससे अधिककी आशा कैसे कर सकते हैं?

**सः स्तेनः एव**—वह चोर ही है।

यहाँ '**सः स्तेनः**' पदोंमें एकवचन देनेका तात्पर्य यह है कि अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाला मनुष्य सबको प्राप्त होनेवाली

सामग्री ( अन्न, जल, वस्त्र आदि ) का भाग ( दूसरोंको दिये बिना ही ) अकेला स्वयं ले लेता है। अतः वह चोर ही है।

जो मनुष्य दूसरोंको उनका भाग न देकर स्वयं अकेले ही भोग करता है, वह तो चोर है ही, पर जो मनुष्य किसी भी अंशमें अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है अर्थात् सामग्रीको सेवामें लगाकर बदलेमें मान-बड़ाई आदि चाहता है, वह भी उतने अंशमें चोर ही है। ऐसे मनुष्यका अन्तःकरण कभी शुद्ध और शान्त नहीं रह पाता।

यह व्यष्टि शरीर किसी भी प्रकारसे समष्टि संसारसे भिन्न नहीं है और हो सकता भी नहीं, क्योंकि समष्टिका अंश ही व्यष्टि कहलाता है। इसलिये व्यष्टि ( शरीर ) को अपना मानना और समष्टि ( संसार ) को अपना न मानना ही राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंका कारण है एवं यही अहंकार, व्यक्तित्व अथवा विषमता है*। कर्मयोगके अनुष्ठानसे ये सब ( राग-द्वेष आदि ) सुगमतापूर्वक मिट जाते हैं। कारण कि कर्मयोगीका यह भाव रहता है कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, वह सब अपने लिये नहीं, अपितु संसारमात्रके लिये कर रहा हूँ। इसमें भी एक अत्यन्त मार्मिक बात यह है कि कर्मयोगी अपने कल्याणके लिये भी कोई कर्म न करके संसारमात्रके कल्याणके उद्देश्यसे ही सब कर्म करता है। कारण कि सबके कल्याणसे अपना कल्याण अलग मानना भी व्यक्तित्व और विषमताको

---

* आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ॥ ( महा० आश्वमेधिक० ३२ । ११ )

'यह शरीर भी मेरा नहीं है अथवा यह सारी पृथ्वी ही मेरी है।'

जन्म देना है, जो साधककी उन्नतिमें बाधक है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ भी हमारे पास है, वह सब-का-सब हमें संसारसे मिला है। संसारसे मिली वस्तुको केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धिमें लगाना ईमानदारी नहीं है।

### कर्तव्य-सम्बन्धी विशेष बात—

हिन्दू-संस्कृतिका एकमात्र उद्देश्य मनुष्यका कल्याण करना है। इसी उद्देश्यसे ब्रह्माजी (सृष्टिके आदिमें) मनुष्योंको निःस्वार्थ-भावसे अपने-अपने कर्तव्यके द्वारा एक-दूसरेको सुख पहुँचानेकी आज्ञा देते हैं (*गीता ३। १०*)।

परिवारमें भाई, बहनें, माताएँ आदि सब-के-सब कर्म करते ही हैं; परंतु उनसे बड़ी भारी भूल यह होती है कि वे कामना, ममता, आसक्ति, स्वार्थ आदिके वशीभूत होकर कर्म करते हैं। अतः लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही लाभ उन्हें नहीं होते, प्रत्युत हानि ही होती है। स्वार्थके वशीभूत होकर अपने लिये कर्म करनेसे ही लोकमें लड़ाई, खटपट, ईर्ष्या आदि होते हैं और परलोकमें दुर्गति होती है। दूसरोंकी सेवा करके बदलेमें कुछ भी चाहनेसे वस्तुओं और व्यक्तियोंके साथ मनुष्यका सम्बन्ध जुड़ जाता है। किसी भी कर्मके साथ स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लेनेसे वह कर्म तुच्छ और बन्धनकारक हो जाता है। स्वार्थी मनुष्यको संसारमें कोई अच्छा नहीं कहता। चाहनेवालेको कोई अधिक देना नहीं चाहता। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि घरमें भी रागी तथा भोगी व्यक्तिसे वस्तुएँ छिपायी जाती हैं। इसके विपरीत हमारे पास

जितनी समझ, समय, सामर्थ्य और सामग्री है, उतनेसे ही हम दूसरोंकी सेवा करें तो उससे कल्याण तो होता ही है, इसके अतिरिक्त वस्तु, आराम, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदि न चाहनेपर भी प्राप्त होने लगते हैं। परंतु कर्मयोगीमें मान-बड़ाई आदिकी इच्छा नहीं होती; क्योंकि इनकी इच्छा और सुखभोग ही बन्धनकारक होता है।

'मुझे सुख कैसे मिले ?'—केवल इसी चाहनाके कारण मनुष्य कर्तव्यच्युत और पतित हो जाता है। अतः 'दूसरोंको सुख कैसे मिले ?'—ऐसा भाव कर्मयोगीको सदैव रखना चाहिये। घरमें माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र आदि जितने व्यक्ति हैं, उन सभीको एक-दूसरेके हितकी बात सोचनी चाहिये। प्रायः सेवा करनेवालेसे एक भूल हो जाती है कि वह 'मैं सेवा करता हूँ', 'मैं वस्तुएँ देता हूँ'—ऐसा मानकर झूठा अभिमान कर बैठता है। वस्तुतः सेवा करनेवाला व्यक्ति सेव्यकी वस्तु ही सेव्यको देता है। जैसे माँका दूध उसके अपने लिये न होकर बच्चेके लिये ही है, वैसे ही मनुष्यके पास जितनी भी सामग्री है, वह उसके लिये न होकर दूसरोंके लिये ही है। अतएव मनुष्यको प्राप्त सामग्रीमें ममता करने अर्थात् उसे अपनी और अपने लिये माननेका अधिकार नहीं है। ममता करनेपर भी प्राप्त सामग्री तो सदा रहेगी नहीं, केवल ममतारूप बन्धन रह जायगा। इसी कारण भगवान् कहते हैं कि वस्तुओंको अपनी मानकर स्वयं उनका भोग करनेवाला मनुष्य चोर ही है।

देवता, ऋषि, पितर, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि सभीका स्वभाव ही परोपकार करनेका है। मनुष्य सदा इनसे सहयोग पानेके कारण इनका ऋणी है। इस ऋणसे मुक्त होनेके लिये ही पञ्च-महायज्ञ ( ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ ) का विधान है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो बुद्धिपूर्वक सभीको अपने कर्तव्य-कर्मोंसे तृप्त कर सकता है। अतः सबसे अधिक उत्तरदायित्व मनुष्यपर ही है। इसीको ऐसी स्वतन्त्रता मिली है, जिसका सदुपयोग करके यह परम श्रेयकी प्राप्ति कर सकता है।

देवता आदि तो अपने कर्तव्यका पालन करते ही हैं। यदि मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता तो देवताओंमें ही नहीं, अपितु त्रिलोकीभरमें हलचल उत्पन्न हो जाती है और परिणामस्वरूप अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक प्रकोप होने लगते हैं। भगवान् भी ( गीता ३। २३-२४ में ) कहते हैं कि 'यदि मैं सावधानीपूर्वक कर्तव्यका पालन न करूँ तो समस्त लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ'। जिस प्रकार गतिशील बैलगाडीका कोई एक पहिया भी खण्डित हो जाय तो उससे पूरी बैलगाडीको झटका लगता है, इसी प्रकार गतिशील सृष्टिचक्रमें यदि एक व्यक्ति भी कर्तव्यच्युत होता है तो उसका विपरीत प्रभाव सम्पूर्ण सृष्टिपर पड़ता है। इसके विपरीत जैसे शरीरका एक भी पीडित ( रोगी ) अङ्ग ठीक होनेपर सम्पूर्ण शरीरका स्वतः हित होता है, वैसे ही अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेवाले मनुष्यके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिका स्वतः हित होता है।

प्रजापति ब्रह्माजीने देवता और मनुष्य—दोनोको अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेकी आज्ञा दी है। देवता आदि सब मर्यादासे चलते है। केवल मनुष्य ही मूर्खतावश मर्यादाको भंग करता है। कारण कि उसे दूसरोकी सेवा करनेके लिये जो सामग्री मिली है, उसपर वह अपना अधिकार समझ बैठता है। अनन्त जन्मोके कर्म-बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये मनुष्यको स्वतन्त्रता मिली है; किंतु वह उसका दुरुपयोग करके कर्म और कर्मफलमें ममता-आसक्ति कर बैठता है। फल-स्वरूप नया बन्धन उत्पन्न करके वह स्वयं फँस जाता है और आगे अनेक जन्मोंतक दुःख पानेकी तैयारी कर लेता है। अतएव मनुष्यको चाहिये कि उसे जो कुछ सामग्री मिली है, उससे वह त्रिलोकीकी सेवा करे अर्थात् उस सामग्रीको वह भगवान्, देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य आदि समस्त प्राणियोकी सेवामें लगा दे।

*शङ्का*—जो कुछ सामग्री प्राप्त हुई है, वह सब-की-सब दूसरोंकी सेवामें लगा देनेपर कर्मयोगीका जीवन-निर्वाह कैसे हो सकेगा?

*समाधान*—वास्तवमें यह शङ्का शरीरके साथ अपनी एकता माननेसे अर्थात् शरीरको ही अपना स्वरूप माननेसे पैदा होती है; परंतु कर्मयोगी शरीरसे अपना कोई सम्बन्ध मानता ही नहीं, प्रत्युत उसे संसारका और संसारके लिये ही मानकर उसीकी सेवामें लगा देता है। उसकी दृष्टि अविनाशी स्वरूपपर रहती है, नाशवान् शरीरपर नहीं। जिसकी दृष्टि शरीरपर रहती है, वही ऐसी शङ्का कर सकता है कि कर्मयोगीका जीवन-निर्वाह कैसे होगा?

जबतक भोगेच्छा रहती है, तभीतक जीनेकी इच्छा तथा मरनेका भय रहता है। भोगेच्छा कर्मयोगीमे रहती ही नहीं; क्योंकि उसके सम्पूर्ण कर्म अपने लिये न होकर दूसरोकी सेवाके लिये ही होते हैं। अतः कर्मयोगी अपने जीनेकी परवा नहीं करता। उसके मनमें यह प्रश्न ही नहीं उठता कि मेरा जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? वास्तवमें जिसके हृदयमें जगत्की आवश्यकता नहीं रहती, उसकी जगत्को आवश्यकता रहती है। इसलिये जगत् उसके निर्वाहका स्वतः प्रबन्ध करता है।

जिनका जीवन परोपकारके लिये ही समर्पित है, ऐसे पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता आदि सभी साधारण प्राणियोके भी जीवन-निर्वाहका जब प्रबन्ध है, तब शरीरसहित मिली हुई सब सामग्रीको प्राणियोंके हितमे व्यय करनेवाले मनुष्यके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध न हो, यह कैसे सम्भव है ?

जगन्नियन्ता जगदीश्वरकी असीम कृपासे जीवन-निर्वाहकी सामग्री समस्त प्राणियोको समान रूपसे मिली हुई है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सबके सामने है। माताके शरीरमें जहाँ रक्त-ही-रक्त रहता है, वहाँ भी बच्चेके जीवन-निर्वाहके लिये मीठा और पुष्टिकर दूध स्वतः पैदा हो जाता है। अतएव चाहे प्रारब्धसे मानो या भगवत्कृपासे मनुष्यके जीवन-निर्वाहकी सामग्री उसको मिलती ही है। इसमे सन्देह, चिन्ता, शोक एवं विचार होना ही नहीं चाहिये। भगवान्के राज्यमें जब पापी-से-पापी एव नास्तिक-से-नास्तिक पुरुषका भी जीवन-निर्वाह होता है, तब कर्मयोगीके जीवन-निर्वाहमें

क्या बाधा आ सकती है ? अतः यह प्रश्न उठाना ही भूल है ।

सम्बन्ध—

*नवे श्लोकमें भगवान्‌ने 'यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म बाँधनेवाले नहीं होते'—ऐसा बतलाकर यज्ञके लिये कर्म करनेकी आज्ञा दी । उस आज्ञाको ब्रह्माजीके वचनोंद्वारा पुष्ट करके नवें श्लोकमें कहे हुए अपने वचनोंसे एकवाक्यता करते हुए अगले श्लोकमे यज्ञ ( कर्तव्य-कर्म ) करने और न करनेके फलका स्पष्ट विवेचन करते हैं ।*

श्लोक—

**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।**
**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥**

भावार्थ—

केवल सबके हितके लिये सम्पूर्ण यज्ञरूप कर्म ( व्यापार, नौकरी, गृहकार्य आदि ) करनेपर यज्ञशेषके रूपमें योग ( समता )-का अनुभव करनेवाले पुरुष सम्पूर्ण पापोसे मुक्त हो जाते है । इसके विपरीत जो केवल अपने शरीरके पोषण ( आराम आदि )के लिये ही पकाते अर्थात् सब कर्म करते है, वे पापीलोग तो पापका ही भक्षण करते है ।

अन्वय—

**यज्ञशिष्टाशिनः, सन्तः, सर्वकिल्बिषैः, मुच्यन्ते, ये, आत्मकारणात्, पचन्ति, ते, पापाः, तु, अघम्, भुञ्जते ॥ १३ ॥**

पद-व्याख्या—

**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः**—यज्ञशेषका अनुभव करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष।

कर्तव्य-कर्मोंका निष्कामभावसे विधिपूर्वक पालन करनेपर ( यज्ञशेषके रूपमें ) योग अथवा समता ही शेष रहती है। कर्मयोगमें यह खास बात है कि संसारसे प्राप्त सामग्रीके द्वारा ही कर्म होता है। अतः संसारकी सेवामें लगा देनेपर ही वह कर्म 'यज्ञ' होता है। यज्ञकी सिद्धिके पश्चात् स्वतः अवशिष्ट रहनेवाला अपने लिये होता है। यह योग ( समता ) ही यज्ञशेष है, जिसे भगवान्‌ने चौथे अध्यायमें 'अमृत' कहा है—'**यज्ञशिष्टामृतभुजः**' ( ४ । ३१ )।

**सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते**—सब पापो ( बन्धनो ) से मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ '**किल्बिषैः**' पद बहुवचनान्त है, जिसका अर्थ है—सम्पूर्ण पापोसे अर्थात् बन्धनोसे। परंतु भगवान्‌ने इस पदके साथ '**सर्व**' पद भी दिया है, जिसका विशेष तात्पर्य यह हो जाता है कि यज्ञशेषका अनुभव करनेपर मनुष्यमें किसी भी प्रकारका बन्धन नहीं रहता। उसके सम्पूर्ण ( सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण ) कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं ( गीता ४ । २३ )। सम्पूर्ण कर्मोंके विलीन हो जानेपर उसे सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ( गीता ४ । ३१ )।

इसी अध्यायके नवें श्लोकमे भगवान्‌ने यज्ञार्थ-कर्मसे अन्यत्र कर्मको बन्धनकारक बतलाया और चौथे अध्यायके तेईसवें श्लोकमे यज्ञार्थ-कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन होनेकी बात कही। इन दोनों श्लोको ( ३ । ९ तथा ४ । २३ ) में जो बात आयी है, वही बात यहाँ **'सर्वकिल्बिषैः'** पदसे कही गयी है। तात्पर्य है कि यज्ञशेषका अनुभव करनेवाले मनुष्य सम्पूर्ण बन्धनरूप कर्मोसे मुक्त हो जाते है। पाप-कर्म तो बन्धनकारक होते ही हैं, सकामभावसे किये गये पुण्य-कर्म भी ( फलजनक होनेसे ) बन्धनकारक होते हैं, यज्ञशेष ( समता )का अनुभव करनेपर पाप और पुण्य—दोनो ही नहीं रहते—**'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'** ( गीता २ । ५० )।

अब विचार करे कि बन्धनका वास्तविक कारण क्या है? ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—इस कामनासे ही बन्धन होता है। यह कामना सम्पूर्ण पापोकी जड़ है (गीता ३ । ३७)। अतः कामनाका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तवमें कामनाकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कामना अभावसे उत्पन्न होती है और 'स्वय' ( सत्-स्वरूप ) में किसी प्रकारका अभाव है ही नहीं और हो सकता भी नहीं। इसलिये 'स्वयं'में कामना है ही नहीं। केवल भूलसे शरीरादि असत् पदार्थोंके साथ अपनी एकता मानकर मनुष्य असत् पदार्थोंके अभावसे अपनेमें अभाव मानने लगता है और उस अभावकी पूर्तिके लिये असत् पदार्थोंकी कामना करने लगता है। साधकको इस बातकी ओर

ध्यान देना चाहिये कि आरम्भ और समाप्त होनेवाली क्रियाओंसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ ही तो मिलेंगे। ऐसे उत्पत्ति-विनाश-शील पदार्थोंसे मनुष्यके अभावकी पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। जब इन पदार्थोंसे अभावकी पूर्ति होनेका प्रश्न ही नहीं है, तो फिर इन पदार्थोंकी कामना करना भी भूल ही है। ऐसा ठीक-ठीक विचार करनेसे कामनाकी निवृत्ति सहज हो सकती है।

हाँ, अपने कहलानेवाले शरीरादि पदार्थोंको कभी भी अपना तथा अपने लिये न मानकर दूसरोंकी सेवामें लगानेसे इन पदार्थोंसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिससे तत्काल अपने स्वरूपका बोध हो जाता है। फिर कोई अभाव शेष नहीं रहता। जिसके मनमें किसी प्रकारके अभावकी मान्यता ( कामना ) नहीं रहती, वह मनुष्य जीते-जी ही संसारसे मुक्त है।

**ये त्वात्मकारणात्*[*] पचन्ति**—( और ) जो अपने लिये ही पकाते हैं।

अपने लिये कुछ भी चाहनेका भाव अर्थात् स्वार्थ, कामना ममता, आसक्ति एवं अपनेको अच्छा कहलानेका किञ्चित् भी भाव 'आत्मकारणात्' पदके अन्तर्गत आ जाता है। मनुष्यमें स्वार्थबुद्धि जितनी अधिक होती है, वह उतना ही अधिक पापी होता है।

यहाँ 'पचन्ति' पद उपलक्षक है, जिसका अर्थ केवल 'पकाने' से ही न होकर खाना, पीना, चलना, बैठना आदि समस्त सांसारिक क्रियाओंकी सिद्धिसे है।

---

* यहाँ हेतु अर्थमें पञ्चमी विभक्ति है, जिसका अर्थ होता है—अपने लिये।

पापी व्यक्ति अपने लिये पकाये ( कार्य करे ) अथवा दूसरेके लिये, वस्तुतः वह अपने लिये ही पकाता है। इसके विपरीत अपने स्वार्थभावका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करनेवाला साधक अपने कहलानेवाले शरीरके लिये पकाये अथवा दूसरेके लिये, वस्तुतः वह दूसरेके लिये ही पकाता है। संसारसे हमें जो भी सामग्री मिली है, उसे संसारकी सेवामें न लगाकर अपने सुखभोगमें लगाना ही अपने लिये पकाना है। संसारके छोटे-से-छोटे अंश शरीरको अपना और अपने लिये मानना महान् पाप है। परंतु शरीरको अपना न मानकर इसे आवश्यकतानुसार अन्न, जल, वस्त्र आदि देना और इसे आलसी, प्रमादी, भोगी नहीं होने देना इस शरीरकी सेवा है, जिससे शरीरमें ममता-आसक्ति नहीं रहती।

मनुष्यको अपने कर्मोंका फल स्वयं भोगना पड़ता है, परंतु उसके द्वारा किये गये कर्मोंका प्रभाव सम्पूर्ण संसारपर पड़ता है। 'अपने लिये' कर्म करनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है और अपने कर्तव्यसे च्युत होनेपर ही राष्ट्रमें अकाल, महामारी, मृत्यु आदि महान् कष्ट होते हैं। अतः मनुष्यके लिये उचित है कि वह अपने लिये कुछ भी न करे, अपना कुछ भी न माने तथा अपने लिये कुछ भी न चाहे।

कर्मफल ( उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुमात्र ) का आश्रय लेना 'अपने लिये पकाने' के अन्तर्गत है। इसीलिये भगवान्‌ने छठे अध्यायके पहले श्लोकमें **'अनाश्रितः कर्मफलम्'** पदोंसे कर्मयोगीको कर्मफलका आश्रय न लेनेके लिये कहा है। सर्वथा अनाश्रित हो

जानेपर ही मनुष्य अपने लिये कुछ नहीं करता, जिससे वह योगमें स्थित हो जाता है।

**ते पापा: तु अघम् भुञ्जते**—वे पापीलोग तो पापका ( ही ) भक्षण करते हैं।

इन पदोंमें भगवान्ने 'अपने लिये' कर्म करनेवालोंकी सभ्य भाषामें निन्दा की है। अपने लिये किये गये कर्मोंसे वह इतना पाप-संग्रह कर लेता है कि चौरासी लाख योनियों एवं नरकोंका दु:ख भोगनेपर भी वह समाप्त नहीं होता, अपितु सञ्चितके रूपमें शेष रह जाता है। मनुष्ययोनि एक ऐसा अद्भुत खेत है, जिसमें जो भी पाप या पुण्यका बीज बोया जाता है, वह अनेक जन्मोंतक फल देता है*। अत: मनुष्यको तुरंत यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'अब मैं पाप ( अपने लिये कर्म ) नहीं करूँगा'। इस निश्चयमें बड़ी भारी शक्ति है। सच तो यह है कि परमात्माकी तरफ चलनेका दृढ़ निश्चय होनेपर पाप होना स्वत: बंद हो जाता है।

सम्बन्ध—

*'मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ?'—अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् अनेक हेतु देते हुए अगले दो श्लोकोंमें सृष्टि-चक्रकी सुरक्षाके लिये भी यज्ञ ( कर्तव्य-कर्म ) करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं।*

---

* वास्तवमें मनुष्यजन्म ही सब जन्मोंका आदि तथा अन्तिम जन्म है। यदि मनुष्य परमात्म-प्राप्ति कर ले तो अन्तिम जन्म भी यही है और परमात्म-प्राप्ति न करे तो अनन्त जन्मोंका आदि जन्म भी यही है।

श्लोक—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

*भावार्थ—*

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते है। अन्न वर्षासे होता है। कर्तव्यपालनरूप यज्ञसे ही वर्षा होती है। यज्ञ कर्मोंसे निष्पन्न होता है। कर्तव्य-कर्मोंका ज्ञान वेदो तथा पुराण, स्मृति आदि वेदानुकूल शास्त्रोंसे होता है। वेद अविनाशी परमात्मासे प्रकट होते हैं। इसलिये वह सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) में नित्य प्रतिष्ठित है।

अन्वय—

**भूतानि, अन्नात्, भवन्ति, अन्नसम्भवः, पर्जन्यात्, ( भवति ) पर्जन्यः, यज्ञात्, भवति, यज्ञः, कर्मसमुद्भवः, कर्म, ब्रह्मोद्भवम्, ब्रह्म, अक्षरसमुद्भवम्, विद्धि, तस्मात्, सर्वगतम्, ब्रह्म, नित्यम्, यज्ञे, प्रतिष्ठितम् ॥ १४-१५ ॥**

पद-व्याख्या—

**भूतानि अन्नाद् भवन्ति**—सम्पूर्ण ( जरायुज, उद्भिज्ज, अण्डज और स्वेदज ) प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते है।

प्राणोको धारण करनेके लिये जो खाया जाता है, वह 'अन्न'* कहलाता है।

---

* 'अद भक्षणे' धातुसे 'क्त' करनेपर 'अदोऽनन्ने' ( अष्टा० ३ । २ । ६८ ) सूत्रके निपातनसे 'अन्न' शब्द बनता है, अन्यथा 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' ( अष्टा० २ । ४ । ३६ ) से 'जग्ध' शब्द बनेगा।

जिस प्राणीका जो खाद्य है, जिसे ग्रहण करनेसे उसके शरीरकी उत्पत्ति, भरण और पुष्टि होती है, उसे ही यहाँ 'अन्न' नामसे कहा गया है, जैसे—मिट्टीका कीड़ा मिट्टी खाकर जीता है तो मिट्टी ही उसके लिये अन्न है।

जरायुज ( मनुष्य, पशु आदि ), उद्भिज्ज ( वृक्षादि ), अण्डज ( पक्षी, सर्प, चींटी आदि ) और स्वेदज ( जूँ आदि )—ये चारों प्रकारके प्राणी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर अन्नसे ही जीवित रहते हैं*।

**अन्नसम्भवः पर्जन्यात् ( भवति )**—अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है।

समस्त खाद्य-पदार्थोंकी उत्पत्ति जलसे होती है। घास-फूस, अनाज आदि तो जलसे होते ही हैं, मिट्टीके उत्पन्न होनेमें भी जल ही कारण है। अन्न, जल, वस्त्र, मकान आदि शरीर-निर्वाहकी सभी सामग्री स्थूल या सूक्ष्मरूपसे जलसे सम्बन्ध रखती है और जलका आधार वर्षा है।

**पर्जन्यः यज्ञाद् भवति**—वर्षा यज्ञसे होती है।

यहाँ 'यज्ञ' शब्द समस्त कर्तव्य-कर्मोंका उपलक्षक है। गीताके सिद्धान्त एवं कर्मयोगके प्रस्तुत प्रकरणके अनुसार अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंका भलीभाँति पालन करना यज्ञ है। निष्कामभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये किये गये सभी कर्म 'यज्ञ'के अन्तर्गत आ जाते हैं।

---

* 'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति' ( तैत्तिरीयोपनिषद् ३। २ )।

बृहदारण्यक उपनिषद्में एक कथा आती है। प्रजापति ब्रह्माजीने देवता, मनुष्य और असुर—इन तीनोंको रचकर उन्हें 'द' इस अक्षरका उपदेश दिया। देवताओंके पास भोग-सामग्रीकी अधिकता होनेके कारण उन्होंने 'द' का अर्थ 'दमन करो' समझा। मनुष्योंमें संग्रहकी प्रवृत्ति अधिक होनेके कारण उन्होंने 'द' का अर्थ 'दान करो' समझा। असुरोंमें हिंसा ( दूसरोंको कष्ट देने ) का भाव अधिक होनेके कारण उन्होंने 'द' का अर्थ 'दया करो' समझा। इस प्रकार देवता, मनुष्य और असुर—तीनोंको दिये गये उपदेशका तात्पर्य दूसरोंका हित करनेमें ही है। वर्षाके समय मेघ जो 'द द द…' की गर्जना करता है, वह आज भी ब्रह्माजीके उपदेश ( दमन करो, दान करो, दया करो ) के रूपसे कर्तव्य-कर्मोंकी याद दिलाता है ( बृहदारण्यक० ५ । २ । १—३ )।

**यज्ञः कर्मसमुद्भवः**—यज्ञ कर्मोंसे निष्पन्न होनेवाला है।

निष्कामभावपूर्वक किये जानेवाले लौकिक और शास्त्रीय सभी विहित कर्मोंका नाम 'यज्ञ' है। ब्रह्मचारीके लिये अग्निहोत्र करना 'यज्ञ' है। ऐसे ही स्त्रियोंके लिये रसोई बनाना 'यज्ञ' है *। आयुर्वेदज्ञाता केवल लोगोंके हितके लिये वैद्यक-कर्म करे तो उसके

---

* वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥
( मनुस्मृति २ । ६७ )

'स्त्रियोंके लिये वैवाहिक विधिका पालन ही वैदिकसंस्कार ( यज्ञोपवीत ); पतिकी सेवा ही गुरुकुल-निवास ( वेदाध्ययन ) और गृहकार्य ही अग्निहोत्र ( यज्ञ ) कहा गया है।'

लिये वही 'यज्ञ' है। इसी प्रकार विद्यार्थी अपने अध्ययनको और व्यापारी अपने व्यापारको ( यदि वह केवल दूसरोंके हितके लिये निष्कामभावसे किया जाय ) 'यज्ञ' मान सकते हैं। इस प्रकार वर्ण, आश्रम, देश, कालकी मर्यादा रखकर निष्कामभावसे किये गये सभी शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म 'यज्ञ' रूप होते हैं। यज्ञ किसी भी प्रकारका हो, क्रियाजन्य ही होता है।

संखिया, भिलावा आदि विषोंको भी वैद्यलोग जब शुद्ध करके औषधरूपमें देते हैं, तब वे विष भी अमृतकी भाँति होकर बड़े-बड़े रोगोंको दूर करनेवाले बन जाते हैं। इसी प्रकार कामना, ममता, आसक्ति, पक्षपात, विषमता, स्वार्थ, अभिमान आदि—ये सब कर्मोंमें विषके समान हैं। कर्मोंके इस विषैले भागको निकाल देनेपर वे कर्म अमृतमय होकर जन्म-मरणरूप महान् रोगको दूर करनेवाले बन जाते हैं। ऐसे अमृतमय कर्म ही 'यज्ञ' कहलाते हैं।

कर्म ब्रह्मोद्भवम्—कर्मोंको ( तू ) वेदसे उत्पन्न ( जान )।

वेद कर्तव्य-कर्मोंको करनेकी विधि बतलाते हैं ( गीता ४। ३२ )। मनुष्यको कर्तव्य-कर्म करनेकी विधिका ज्ञान वेदसे होनेके कारण ही कर्मोंको वेदसे उत्पन्न कहा गया है।

'वेद' शब्दके अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके साथ-साथ स्मृति, पुराण, इतिहास ( रामायण, महाभारत ) एवं भिन्न-भिन्न सम्प्रदायके आचार्योंके अनुभव-वचन आदि समस्त वेदानुकूल सत्-शास्त्रोंको ग्रहण कर लेना चाहिये।

**'ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम्' विद्धि**—वेदको अक्षरब्रह्मसे प्रकट हुआ जान ।

यहाँ 'ब्रह्म' पद वेदका वाचक है । वेद सच्चिदानन्दघन परमात्मासे ही प्रकट हुए हैं—**'ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा'** ( गीता १७ । २३ ) । इस प्रकार परमात्मा सबके मूल हुए ।

परमात्मासे वेद प्रकट होते हैं । वेद कर्तव्य-पालनकी विधि बतलाते हैं । मनुष्य उस कर्तव्यका विधिपूर्वक पालन करते हैं । कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ होता है और यज्ञसे वर्षा होती है । वर्षासे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी होते हैं और उन्हीं प्राणियोंमेंसे मनुष्य कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ करते हैं ।* इस प्रकार यह सृष्टि-चक्र चल रहा है ।

**तस्मात् सर्वगतम् ब्रह्म नित्यम् यज्ञे प्रतिष्ठितम्**—इससे ( सिद्ध होता है कि ) सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ।

यहाँ 'ब्रह्म' पद अक्षर ( परमात्मा )का वाचक है । अतः सर्वगत ( सर्वव्यापी ) परमात्मा हैं, वेद नहीं । सर्वव्यापी होनेपर भी परमात्मा विशेषरूपसे 'यज्ञ' ( कर्तव्य-कर्म ) में सदा विद्यमान रहते हैं । तात्पर्य यह है कि जहाँ निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्मका पालन किया जाता है, वहाँ परमात्मा रहते हैं । अतः

---

* मनुष्यसे इतर सभी स्थावर-जङ्गम प्राणियोंद्वारा स्वतः यज्ञ ( परोपकार ) होता रहता है, पर वे यज्ञका अनुष्ठान बुद्धिपूर्वक नहीं कर सकते । बुद्धिपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान मनुष्य ही कर सकता है; क्योंकि इसकी योग्यता और अधिकार मनुष्यको ही है ।

परमात्मप्राप्तिके इच्छुक मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा उन्हें सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' ( गीता १८ । ४६ ) ।

*शङ्का*—परमात्मा जब सर्वव्यापी है, तब उन्हे केवल यज्ञमे नित्य प्रतिष्ठित क्यो कहा गया है ? क्या वे दूसरी जगह नित्य प्रतिष्ठित नहीं हैं ?

*समाधान*—परमात्मा तो सभी जगह समानरूपसे नित्य विद्यमान हैं । वे अनित्य और एकदेशीय नहीं है । इसीलिये उन्हे यहाँ 'सर्वगत' कहा गया है । यज्ञ ( कर्तव्य-कर्म ) मे नित्य प्रतिष्ठित कहनेका तात्पर्य यह है कि यज्ञ उनका उपलब्धि-स्थान है । जमीनमें सर्वत्र जल रहनेपर भी वह कुएँ आदिसे ही उपलब्ध होता है, सब जगहसे नहीं । पाइपमें सर्वत्र जल रहनेपर भी जल वहींसे प्राप्त होता है, जहाँ टोटी या छिद्र होता है । ऐसे ही सर्वगत होनेपर भी परमात्मा यज्ञसे ही प्राप्त होते है ।

अपने लिये कर्म करनेसे एवं जडता ( शरीरादि ) के साथ अपना सम्बन्ध माननेसे सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधा ( आड ) आ जाती है । निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोके हितके लिये अपने कर्तव्यका पालन करनेसे यह बाधा हट जाती है और नित्यप्राप्त परमात्माका स्वतः अनुभव हो जाता है । यही कारण है कि भगवान् अर्जुनको, जो अपने कर्तव्यसे हटना चाहते थे, अनेक युक्तियोसे कर्तव्यका पालन करनेपर विशेष जोर दे रहे हैं ।

सम्बन्ध—

*सृष्टिचक्रके अनुसार चलने अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन करनेका उत्तरदायित्व मनुष्यपर ही है। अतः जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसकी ताड़ना भगवान् अगले श्लोकमें करते हैं।*

श्लोक—

**एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।**
**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥**

भावार्थ—

हे पार्थ! जो मनुष्य इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टि-चक्रके अनुसार नहीं चलता अर्थात् अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला मनुष्य अघायु अर्थात् पापमय जीवन बितानेवाला है। ऐसा मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है। तात्पर्य है कि उसका मर जाना अच्छा है।

अन्वय—

**पार्थ, यः, इह, एवम्, प्रवर्तितम्, चक्रम्, न, अनुवर्तयति, सः, इन्द्रियारामः, अघायुः, मोघम्, जीवति ॥ १६ ॥**

पद-व्याख्या—

**पार्थ**—हे पृथानन्दन!

नवें श्लोकमें प्रारम्भ किये हुए प्रकरणका उपसंहार करते हुए भगवान् यहाँ अर्जुनके लिये 'पार्थ' सम्बोधन देकर मानो यह कह रहे है कि तुम उसी पृथा ( कुन्ती ) के पुत्र हो, जिसने आजीवन कष्ट सहकर भी अपने कर्तव्यका पालन किया था। अतः तुमसे भी

अपने कर्तव्यकी अवहेलना नहीं होनी चाहिये। जिस युद्धको तू घोर कर्म कह रहा है, वह तेरे लिये घोर कर्म नहीं, अपितु यज्ञ ( कर्तव्य ) है। इसका पालन करना ही सृष्टि-चक्रके अनुसार वरतना है और इसका पालन न करना सृष्टि-चक्रके अनुसार न वरतना है।

यः—जो पुरुष।

इह—इस लोकमें।

यह 'इह' पदका तात्पर्य मनुष्यलोकसे है; क्योंकि मनुष्यपर ही सृष्टि-चक्रके अनुसार वरतनेका दायित्व है।

एवम् प्रवर्तितम् चक्रम् न अनुवर्तयति—इस प्रकार ( परम्परासे ) चले हुए सृष्टि-चक्रके अनुसार नहीं चलता।

जो मनुष्य पिछले ( चौदहवें-पन्द्रहवें ) श्लोकोंमें वर्णित सृष्टि-चक्रके अनुसार नहीं चलता, वह समष्टि सृष्टिके संचालनमें बाधा डालता है, वैसे ही जैसे रथके पहियेका छोटा-सा अंश भी टूट जानेपर रथके समस्त अङ्गोंको एवं उसपर बैठे रथी और सारथिको धक्का लगता है।

संसार और व्यक्ति दो ( विजातीय ) वस्तु नहीं हैं। जैसे शरीरका अङ्गोंके साथ एवं अङ्गोंका शरीरके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, वैसे ही संसारका व्यक्तिके साथ एवं व्यक्तिका संसारके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब व्यक्ति कामना, ममता, आसक्ति और अहंताका त्याग करके अपने कर्तव्यका पालन करता है तो उससे सम्पूर्ण सृष्टिमें स्वतः सुख पहुँचता है।

*

**सः**—वह ।

**इन्द्रियारामः**—इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला ।

'इन्द्रियाराम' का अर्थ है—केवल इन्द्रियोंद्वारा सुख भोगनेवाला । जो मनुष्य कामना, ममता, आसक्ति आदिसे युक्त होकर इन्द्रियोंके द्वारा भोग भोगता है, उसे यहाँ भोगोंमें रमण करनेवाला कहा गया है । ऐसा मनुष्य पशुसे भी नीचा है, क्योंकि पशु नये पाप नहीं करता, अपितु पहले किये गये पापोंका ही फल भोगकर निर्मलताकी ओर जाता है, परन्तु 'इन्द्रियाराम' मनुष्य नये-नये पाप करके पतनकी ओर जाता है और साथ ही सृष्टि-चक्रमें बाधा उत्पन्न करके सम्पूर्ण सृष्टिको दुःख पहुँचाता है ।

हिंसाके बिना कोई भोग सिद्ध नहीं होता । अपने लिये भोग भोगनेसे अभावग्रस्त मनुष्योंके हृदयमें जलन पैदा हुई तो यह दूसरोंकी हिंसा हुई । अपना स्वभाव खराब हुआ तो यह अपने स्वभावकी हिंसा हुई और भोग-प्राप्तिके कारणभूत पुण्योंका नाश हुआ तो यह पुण्योंकी हिंसा हुई । इस प्रकार अपने लिये भोग भोगनेसे न जाने कितनी हिंसाएँ होती हैं ! उनकी गणना कहाँतक की जाय !

अधिक भोग भोगनेवाले मनुष्यको देखकर अभावग्रस्त मनुष्योंके हृदयमें जो जलन होती है, उसका कारण यही है कि भोगी मनुष्यने दूसरोंका अधिकार, सुख छीना है । चाहे उसने न्यायपूर्वक ही धन-संचय क्यों न किया हो, पर उस धनसे सुख भोगनेवालेको दूसरोंके सुखका अंश लेना ही पड़ता है, इससे वह बच नहीं

सकता। वह दूसरोंके सुखका जितना अंश लेता है, उतना तो पाप उससे होता ही है, चाहे वह जीवनभर अन्य पाप करे ही नहीं।

अघायुः—पापमय जीवन बितानेवाला पुरुष।

सृष्टि-चक्रके अनुसार न चलनेवाले मनुष्यकी आयु, उसका जीवन केवल पापमय है। कारण कि ऐसा मनुष्य सब कर्म कामना-पूर्वक करता है और कामना ही सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है ( गीता ३ । ३७ )। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥
( मानस ७ । ३९ )

मोघम् जीवति—(संसारमें ) व्यर्थ ( ही ) जीता है।

अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाले मनुष्यकी सभ्य भाषामें निन्दा या ताड़ना करते हुए भगवान् कहते हैं कि ऐसा मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है अर्थात् वह मर जाय तो अच्छा है! तात्पर्य यह है कि यदि वह अपने कर्तव्यका पालन करके सृष्टिको सुख नहीं पहुँचाता तो कम-से-कम दुःख तो न पहुँचाये। जैसे भगवान् श्रीरामके वनवासके समय अयोध्यावासियोंके चित्रकूट आनेपर कोल, किरात, भील आदि जंगली लोगोंने उनसे कहा था कि हम आपके वस्त्र और बर्तन नहीं चुरा लेते, यही हमारी बहुत बड़ी सेवा है—यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥ ( मानस २ । २५० । २ ), ऐसे ही अपने कर्तव्यका

पालन न करनेवाले मनुष्य कम-से-कम सृष्टि-चक्रमें बाधा न डालें तो यह उनकी सेवा ही है।

सृष्टि-चक्रके अनुसार न चलनेवाले मनुष्यके लिये भगवान्‌ने पहले **'स्तेन एव सः'** ( ३ । १२ ) 'वह चोर ही है' और **'भुञ्जते ते त्वघम्'** ( ३ । १३ ) 'वे तो पापको ही खाते हैं'— इस प्रकार कहा और अब इस श्लोकमें **'अघायुरिन्द्रियारामः'** 'वह पापायु और इन्द्रियाराम है'—ऐसा कहकर उसके जीनेको ही व्यर्थ बतलाते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी कहा है—

जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥
( मानस १ । ११२ । ३ )

तथा—

तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा॥
उदय केत सम हित सबही के। कुंभकरन सम सोवत नीके॥
( मानस १ । ३ । ३ )

सम्बन्ध—

*संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये जो अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उस मनुष्यकी पूर्व श्लोकमें ताडना की गयी है। परन्तु जिन्होंने संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है, उनपर कर्तव्यका दायित्व नहीं रहता। ऐसे कर्तव्यके दायित्वसे मुक्त एवं कर्मयोगके साधनसे सिद्ध महापुरुषकी स्थितिका वर्णन भगवान् अगले दो श्लोकोंमें करते हैं।*

श्लोक—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

भावार्थ—

जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला, अपने-आपमें ही तृप्त एवं अपने-आपमें ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। परमात्मप्राप्ति हो जानेके कारण उस मनुष्यके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

सकाम मनुष्योंको कर्मयोगका अधिकारी कहा गया है— 'कर्मयोगस्तु कामिनाम्' ( श्रीमद्भा० ११ । २० । ७ )। सकाम मनुष्योंकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि संसारमें होती है। अतः कर्मयोगद्वारा सिद्ध निष्काम महापुरुषोंकी स्थितिका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि उनकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि सकाम मनुष्योंकी भाँति संसारमें न होकर अपने-आप ( स्वरूप )-में ही होती है।

अन्वय—

तु, यः, मानवः, आत्मरतिः, एव, च, आत्मतृप्तः, च, आत्मनि, एव, संतुष्टः, स्यात्, तस्य, कार्यम्, न, विद्यते ॥ १७ ॥

पद-व्याख्या—

तु—परन्तु।

यहाँ 'तु' पद पिछले श्लोकमें वर्णित अघायु और इन्द्रियाराम पुरुषकी अपेक्षा सब पापोंसे मुक्त और आत्माराम महापुरुषकी विलक्षणता बतलानेके लिये प्रयुक्त हुआ है।

**यः मानवः आत्मरतिः एव च आत्मतृप्तः च आत्मनि एव संतुष्टः स्यात्**—जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला और अपने-आपमे तृप्त एवं अपने-आपमें ही संतुष्ट है।

जबतक मनुष्य अपना सम्बन्ध संसारसे मानता है, तबतक वह अपनी 'रति' ( प्रीति ) इन्द्रियोंके भोगोंसे एवं स्त्री, पुत्र, परिवार आदिसे 'तृप्ति' भोजन ( अन्न-जल ) से तथा 'सन्तुष्टि' धनसे मानता है। परन्तु इसमें उसको प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि न तो कभी पूर्ण ही होती है और न निरन्तर ही रहती है। कारण यह है कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील, जड और नाशवान् है तथा 'स्वयं' सदा एकरस रहनेवाला, चेतन और अविनाशी है। तात्पर्य है कि 'स्वयं'का संसारके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। अतः 'स्वयं'की प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि संसारसे कैसे हो सकती है ?

किसी भी मनुष्यकी प्रीति संसारमें सदा नहीं रहती—यह सभीका अनुभव है। विवाहके समय स्त्री और पुरुषमे परस्पर जो प्रीति या आकर्षण प्रतीत होता है, वह एक-दो सन्तान होनेके बाद नहीं रहता। कहीं-कहीं तो स्त्रियाँ अपने वृद्ध पतिके लिये यहाँतक कह देती हैं कि 'बुड्ढा मर जाय तो अच्छा है!' भोजन करनेसे प्राप्त 'तृप्ति' भी कुछ ही कालके लिये प्रतीत होती है। मनुष्यको धन-प्राप्तिमें जो 'सतुष्टि' प्रतीत होती है, वह भी क्षणिक होती है; क्योंकि धनकी लालसा सदा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। इसलिये

कमी निरन्तर बनी रहती है। तात्पर्य यही है कि संसारमें प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि कभी स्थायी नहीं रह सकती।

मनुष्यको सांसारिक वस्तुओंमें प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिकी केवल प्रतीति होती है, वास्तवमें होती नहीं, अगर होती तो पुनः अरति, अतृप्ति एवं असंतुष्टि नहीं होती। स्वरूपसे प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि स्वतःसिद्ध है। स्वरूप सत् है। सत्में कभी कोई अभाव नहीं होता—'नाभावो विद्यते सतः' ( गीता २। १६ ) और अभावके बिना कोई कामना उत्पन्न नहीं होती। इसलिये स्वरूपमें निष्कामता स्वतःसिद्ध है। परन्तु जब जीव भूलसे संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिको संसारमें ढूँढने लगता है। और इसके लिये सांसारिक वस्तुओंकी कामना करने लगता है। कामना करनेके बाद जब वह वस्तु ( धनादि ) मिलती है, तब मनमें स्थित कामनाके निकलनेके बाद ( दूसरी कामनाके पैदा होनेसे पहले ) उसकी अवस्था निष्काम हो जाती है और उसी निष्कामताका उसे सुख होता है, परन्तु उस सुखको मनुष्य भूलसे सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिसे उत्पन्न हुआ मान लेता है तथा इस सुखको ही प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिके नामसे कहता है। यदि वस्तुकी प्राप्तिसे वह सुख होता तो उसके मिलनेके बाद उस वस्तुके रहते हुए सदा सुख रहता, दुःख कभी न होता और पुनः वस्तुकी कामना उत्पन्न न होती। परन्तु सांसारिक वस्तुओंने कभी भी पूर्ण ( सदाके लिये ) प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि प्राप्त न हो सकनेके कारण एवं संसारसे ममताका सम्बन्ध बना

रहनेके कारण वह पुनः नयी-नयी कामनाएँ करने लगता है। कामना उत्पन्न होनेपर अपनेमें अभावका तथा काम्य वस्तुके मिलनेपर अपनेमें पराधीनताका अनुभव होता है। अतः कामनावाला मनुष्य सदा दुःखी रहता है।

यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि साधक तो उस सुखका मूल कारण निष्कामताको मानते हैं और दुःखोका कारण कामनाको मानते हैं; परन्तु संसारमें आसक्त मनुष्य वस्तुओकी प्राप्तिसे सुख मानते हैं और वस्तुओकी अप्राप्तिसे दुःख मानते हैं। यदि आसक्त मनुष्य भी साधकके समान ही यथार्थ दृष्टिसे देखे तो उसे शीघ्र ही स्वतःसिद्ध निष्कामताका अनुभव हो सकता है।

कर्मयोगके द्वारा संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण जिसकी सम्पूर्ण कामनाएँ नष्ट हो गयी हैं, उस महापुरुषकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि अपने-आपमें ही हो जाती है*, जो स्वरूपतः पहलेसे ही है।

वास्तवमें प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि—तीनो अलग-अलग न होते हुए भी संसारके सम्बन्धसे अलग-अलग प्रतीत होती हैं। इसीलिये संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उस महापुरुषकी प्रीति, तृप्ति

---

* प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
(गीता २।५५)

'हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामे ही संतुष्ट रहता है उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

और संतुष्टि—तीनों एक ही तत्त्व ( स्वरूप )में हो जाती हैं।

भगवान्‌ने इस श्लोकमें दो बार तथा अगले ( अठारहवें ) श्लोकमें एक बार 'एव' और 'च' पदोंका प्रयोग किया है। इससे यह भाव प्रकट होता है कि कर्मयोगीकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं रहती एवं तत्त्वके अतिरिक्त अन्यकी आवश्यकता भी नहीं रहती।*

**तस्य कार्यम् न विद्यते**—उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

मनुष्यके लिये जो भी कर्तव्य-कर्मका विधान किया गया है, उसका उद्देश्य परम कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना ही है। किसी भी साधन ( कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग ) के द्वारा उद्देश्यकी सिद्धि हो जानेपर मनुष्यके लिये कुछ भी करना, जानना अथवा पाना शेष नहीं रहता, जो मनुष्यजीवनकी परम सफलता है।

मनुष्यके वास्तविक स्वरूपमें किञ्चिन्मात्र अभाव न रहनेपर भी जबतक वह संसारके सम्बन्धके कारण अपनेमें अभाव समझकर और शरीरको 'मैं' तथा 'मेरा' मानकर 'अपने लिये' कर्म करता है, तबतक उसके लिये कर्तव्य शेष रहता ही है। परन्तु जब वह 'अपने लिये' कुछ भी न करके 'दूसरोंके लिये' अर्थात् शरीर,

---

* यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
( गीता ६। २२ )

'परमात्मप्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता।'

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणोंके लिये, माता, पिता, स्त्री, पुत्र, परिवारके लिये; समाजके लिये, देशके लिये और जगत्‌के लिये सम्पूर्ण कर्म करता है, तब उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसका अपने लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। कारण कि स्वरूपमें कोई भी क्रिया नहीं होती। जो भी क्रिया होती है, संसारके सम्बन्धसे ही होती है और सांसारिक वस्तुके द्वारा ही होती है। अतः जिनका संसारसे सम्बन्ध है, उन्हींके लिये कर्तव्य है।

कर्म तब होता है, जब कुछ-न-कुछ पानेकी कामना होती है, और कामना पैदा होती है—अभावसे। सिद्ध महापुरुषमें कोई अभाव होता ही नहीं, फिर उनके लिये करना कैसा?

कर्मयोगके द्वारा सिद्ध महापुरुषकी रति, तृप्ति और संतुष्टि जब अपने-आपमें ही हो जाती है, तब कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जानेसे वह विधि-निषेधसे ऊँचा उठ जाता है। यद्यपि उसपर शास्त्रका शासन नहीं रहता, तथापि उसकी समस्त क्रियाएँ स्वाभाविक ही शास्त्रानुकूल तथा दूसरोंके लिये आदर्श होती हैं।

यहाँ **'तस्य कार्यम् न विद्यते'** पदोंका अभिप्राय यह नहीं है कि उस महापुरुषसे कोई क्रिया होती ही नहीं। कुछ भी करना शेष न रहनेपर भी उस महापुरुषके द्वारा लोकसंग्रहके लिये क्रियाएँ स्वतः होती हैं (जिसका वर्णन आगे इसी अध्यायके बीसवेंसे उन्तीसवें श्लोकतक हुआ है)। जैसे पलकोंका गिरना-उठना, श्वासोंका

आना-जाना, भोजनका पचना आदि क्रियाएँ स्वतः ( प्रकृतिमें ) होती रहती हैं, वैसे ही उस महापुरुषके द्वारा सभी शास्त्रानुकूल आदर्शरूप क्रियाएँ भी ( कर्तृत्वाभिमान न होनेके कारण ) स्वतः होती हैं ।

श्लोक—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

भावार्थ—

उस ( कर्मयोगसे सिद्ध हुए ) महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है, और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है, तथा उसका किसी भी प्राणी, पदार्थ आदिसे किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ।

मनुष्य जबतक कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छा रखता है, तभीतक वह कुछ क्रियाओंके करनेसे, कुछके न करनेसे तथा किसी प्राणी, पदार्थ आदिसे अपना प्रयोजन रखता है । परन्तु जो सर्वथा निष्काम है, उसका इन तीनो ( करने, न करने तथा प्राणी, पदार्थ आदि ) से कोई सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि स्वरूप इन तीनोंसे सर्वथा रहित है ।

कर्मयोगसे सिद्ध इस महापुरुषका जीवन सार्थक हो गया है अर्थात् जिस प्रयोजनके लिये मनुष्य-शरीर मिला था, वह प्रयोजन उसके द्वारा सिद्ध हो गया है । ऐसे महापुरुषके अपने कहलानेवाले शरीरद्वारा स्वाभाविक ही लोकसंग्रहार्थ कर्म होते हैं, अपने प्रयोजनको लेकर बिल्कुल नहीं ।

अन्वय—

तस्य, इह, न, कृतेन, कश्चन, अर्थः, न, अकृतेन, एव, (कश्चन, अर्थः ); च, सर्वभूतेषु, अस्य, कश्चित्, अर्थव्यपाश्रयः, न ॥ १८ ॥

पद-व्याख्या—

**तस्य**—उस ( सत्रहवें श्लोकमें वर्णित कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुष ) का ।

**इह**—इस ( मनुष्य-शरीरमे ) ।

उस महापुरुषके लिये इस मनुष्यशरीरमें कुछ भी करना शेष नहीं रहता ।

करने और न करनेका प्रश्न केवल मनुष्यशरीरमें ही रहता है; क्योकि सम्पूर्ण क्रियाएँ शरीरकी सहायतासे ही होती हैं ।

**न कृतेन कश्चन अर्थः**—न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है ।

प्रत्येक मनुष्यकी कुछ-न-कुछ करनेकी प्रवृत्ति होती है । जबतक यह करनेकी प्रवृत्ति किसी सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिके लिये होती है, तबतक उसका अपने लिये 'करना' शेष रहता ही है । अपने लिये कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही मनुष्य बँधता है। उस इच्छाकी निवृत्तिके लिये कर्तव्य-कर्म करनेकी आवश्यकता है ।

कर्म दो प्रकारसे किये जाते हैं । कामना-पूर्तिके लिये और कामना-निवृत्तिके लिये । साधारण मनुष्य तो कामना-पूर्तिके लिये कर्म करते हैं, पर कर्मयोगी कामना-निवृत्तिके लिये कर्म करता है । इसलिये कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषमें कोई भी कामना न रहनेके कारण उसका किसी भी कर्तव्यसे किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रहता ।

उसके द्वारा निःस्वार्थभावसे समस्त सृष्टिके हितके लिये स्वतः कर्तव्य-कर्म होते हैं।

कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषका कर्मोंसे अपने लिये ( व्यक्तिगत सुख-आरामके लिये ) कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यही भाव दिखानेके लिये यहाँ 'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः' कहा गया है। इस महापुरुषका यह अनुभव होता है कि पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि केवल संसारके हैं और संसारसे मिले हैं, व्यक्तिगत नहीं है। अतः इनके द्वारा केवल संसारके लिये ही कर्म करना है, अपने लिये नहीं। कारण यह है कि संसारकी सहायताके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त मिली हुई कर्म-सामग्रीका सम्बन्ध भी समष्टि संसारके साथ ही है, अपने साथ नहीं। इसलिये अपना कुछ नहीं है। व्यष्टिके लिये समष्टि हो ही नहीं सकती। मनुष्यकी यही गलती होती है कि वह अपने लिये समष्टिका उपयोग करना चाहता है। इसीसे उसे अशान्ति होती है। यदि वह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिका समष्टिके लिये उपयोग करे तो उसे महान् शान्ति प्राप्त हो सकती है। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषमें यही विशेषता रहती है कि उसके कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिका उपयोग मात्र संसारके लिये ही होता है। अतः उसका शरीरादिकी क्रियाओंसे अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता। प्रयोजन न रहनेपर भी उस महापुरुषसे स्वाभाविक ही लोगोंके लिये आदर्शरूप उत्तम कर्म होते हैं। जिसका कर्म करनेसे प्रयोजन रहता है, उससे आदर्श कर्म नहीं होते—यह सिद्धान्त है।

**न अकृतेन एव ( कश्चन अर्थः )**—न कर्मोंको न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है।

जो मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे अपना सम्बन्ध मानता है और आलस्य, प्रमाद आदिमें रुचि रखता है, वह कर्मोंको नहीं करना चाहता; क्योंकि उसका प्रमाद, आलस्य, आराम आदिसे उत्पन्न तामस-सुखका प्रयोजन रहता है ( गीता १८।७ तथा ३९ )। परन्तु यह महापुरुष, जो सात्त्विक सुखसे भी ऊँचा उठ चुका है, तामस-सुखमें प्रवृत्त हो ही कैसे सकता है ? क्योंकि इसका शरीरादिसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता फिर आलस्य, आराम आदिमे रुचि रहनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता।

**मार्मिक बात—**

प्रायः साधक कर्मोंके न करनेको ही महत्त्व देते हैं। वे कर्मोंसे उपरत होकर समाधिमें स्थित होना चाहते है, जिससे कोई चिन्तन भी शेष न रहे। यह बात श्रेष्ठ और लाभप्रद तो है, पर सिद्धान्त नहीं है। यद्यपि प्रवृत्ति ( करना ) की अपेक्षा निवृत्ति ( न करना ) श्रेष्ठ है, तथापि यह तत्त्व नहीं है।

प्रवृत्ति ( करना ) और निवृत्ति ( न करना )—दोनो ही प्रकृतिके राज्यमें हैं। निर्विकल्प समाधितक सब प्रकृतिका राज्य है; क्योंकि निर्विकल्प समाधिसे भी व्युत्थान होता है। क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है—**'प्रकर्षेण करणं प्रकृतिः'**, और क्रिया हुए बिना व्युत्थानका होना सम्भव ही नहीं। इसलिये चलने, बोलने, देखने,

सुनने आदिकी तरह सोना, बैठना खड़ा होना, मौन होना, मूर्च्छित होना और समाधिस्थ होना भी क्रिया है। वास्तविक तत्त्व ( चेतन स्वरूप ) में प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों ही नहीं हैं। वह प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंका प्रकाशक है।

शरीरसे तादात्म्य होनेपर ही ( शरीरको लेकर ) 'करना' और 'न करना'—ये दो विभाग ( द्वन्द्व ) होते हैं। वास्तवमें 'करना' और 'न करना' दोनोंकी एक ही जाति है। शरीरसे सम्बन्ध रखकर 'न करना' भी वस्तुतः 'करना' ही है। जैसे 'गच्छति' ( जाता है ) यह क्रिया है, वैसे ही 'तिष्ठति' ( खड़ा है ) यह भी क्रिया ही है। यद्यपि स्थूल दृष्टिसे 'गच्छति' में क्रिया स्पष्ट दिखायी देती है और 'तिष्ठति' में क्रिया नहीं दिखायी देती है, तथापि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो जिस शरीरमें 'जाने' की क्रिया थी, उसीमें अब 'खड़े रहने' की क्रिया है, इसी प्रकार किसी कामको 'करना' और 'न करना'—इन दोनोंमें ही क्रिया है। अतः जिस प्रकार क्रियाओंका स्थूल रूपसे दिखायी देना ( प्रवृत्ति ) प्रकृतिमें ही है, उसी प्रकार स्थूलदृष्टिसे क्रियाओंका दिखायी न देना ( निवृत्ति ) भी प्रकृतिमें ही है। जिसका प्रकृति एवं उसके कार्यसे भौतिक तथा आध्यात्मिक और लौकिक तथा पारलौकिक कोई प्रयोजन नहीं रहता, उस महापुरुषका करने एवं न करनेसे कोई स्वार्थ नहीं रहता।

जड़ताके साथ सम्बन्ध रहनेपर ही करने एवं न करनेका प्रश्न होता है; क्योंकि जड़ताके सम्बन्धके बिना कोई क्रिया होती

ही नहीं। इस महापुरुषका जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और प्रवृत्ति एव निवृत्ति-दोनोंसे अतीत सहज-निवृत्त-तत्त्वमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। अतएव साधकको जड़ता ( शरीरमें अहंता एवं ममता ) से सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी ही आवश्यकता है। तत्त्व तो सदैव ज्यो-का-त्यों विद्यमान है ही।

च—तथा।

**सर्वभूतेषु अस्य कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः न**—सम्पूर्ण प्राणियोमें ( किसी भी प्राणीके साथ ) इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।

शरीर तथा संसारसे किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध न रहनेके कारण उस महापुरुषकी समस्त क्रियाएँ प्रवाहरूपसे स्वत. दूसरोंके हितके लिये होती हैं। जैसे शरीरके सभी अङ्ग स्वतः शरीरके हितमें लगे रहते हैं, वैसे ही उस महापुरुषका अपना कहलानेवाला शरीर ( जो संसारका एक छोटा-सा अङ्ग है ) स्वतः ससारके हितमें लगा रहता है। उसका भाव और उसकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ ससारके हितके लिये ही होती हैं। जैसे अपने हाथोंसे अपना ही मुख धोनेपर अपनेमे स्वार्थ, प्रत्युपकार अथवा अभिमानका भाव नहीं आता, वैसे ही अपने कहलानेवाले शरीरके द्वारा संसारका हित होनेपर उस महापुरुषमें किञ्चित् भी स्वार्थ, प्रत्युपकार अथवा अभिमानका भाव नहीं आता।

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने सिद्ध महापुरुषके लिये कहा कि उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है—**'तस्य कार्यं न विद्यते'**।

उसका हेतु बतलाते हुए भगवान्‌ने इस श्लोकमें उस महापुरुषके लिये तीन बातें बतलायी हैं—( १ ) कर्म करनेसे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता, ( २ ) कर्म न करनेसे भी उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता और ( ३ ) किसी भी प्राणी और पदार्थसे उसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् कुछ पानेसे भी उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता।

वस्तुतः स्वरूपमें करने अथवा न करनेका कोई प्रयोजन नहीं है और किसी व्यक्ति तथा वस्तुके साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं है। कारण कि शुद्ध स्वरूपके द्वारा कोई क्रिया होती ही नहीं। जो भी क्रिया होती है, वह प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंके सम्बन्धसे ही होती है। इसलिये अपने लिये कुछ करनेका विधान ही नहीं है।

जबतक मनुष्यमें करनेका राग, पानेकी इच्छा, जीनेकी आशा और मरनेका भय रहता है, तबतक उसपर कर्तव्यका दायित्व रहता है। परन्तु जिसमें किसी भी क्रियाको करने अथवा न करनेका कोई राग नहीं है, संसारकी किसी भी वस्तु आदिको प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है, जीवित रहनेकी कोई आशा नहीं है, और मृत्युसे कोई भय नहीं है, उसे कर्तव्य करना नहीं पड़ता, अपितु उससे स्वतः कर्तव्य-कर्म होते रहते हैं। जहाँ अकर्तव्य होनेकी सम्भावना हो, वहीं कर्तव्य-पालनकी प्रेरणा रहती है।

## विशेष बात—

गीतामें भगवान्‌की ऐसी शैली रही है कि वे भिन्न-भिन्न साधनोंसे परमात्माकी ओर चलनेवाले साधकोंके भिन्न-भिन्न लक्षणोंके अनुसार ही परमात्माको प्राप्त सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं। यहाँ सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें भी इसी शैलीका प्रयोग किया गया है।

जो साधन जहाँसे प्रारम्भ होता है, अन्तमें वहीं उसकी समाप्ति होती है। गीतामें कर्मयोगका प्रकरण यद्यपि दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकसे प्रारम्भ होता है, तथापि कर्मयोगके मूल साधनका विवेचन दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें किया गया है। उस श्लोक ( २ । ४७ )के चार चरणोंमें बतलाया गया है—

( १ ) **कर्मण्येवाधिकारस्ते** ( तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है )।

( २ ) **मा फलेषु कदाचन** ( कर्मफलोंमें तेरा कभी भी अधिकार नहीं है )।

( ३ ) **मा कर्मफलहेतुर्भूः** ( तू कर्मफलका हेतु मत बन )।

( ४ ) **मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** ( तेरी कर्म न करनेमें आसक्ति न हो )।

प्रस्तुत श्लोक ( ३ । १८ )में ठीक उपर्युक्त साधनाकी सिद्धिकी बात है। वहाँ ( २ । ४७में ) दूसरे और तीसरे चरणमें साधकके लिये जो बात कही गयी है, वह प्रस्तुत श्लोकके उत्तरार्धमें सिद्ध महापुरुषके लिये कही गयी है कि उसका किसी प्राणी और पदार्थसे कोई

सम्बन्ध नहीं रहता, वहाँ पहले और चौथे चरणमें साधकके लिये जो बात कही गयी है, वह प्रस्तुत श्लोकके पूर्वार्धमें सिद्ध महापुरुषके लिये कही गयी है कि उसका कर्म करने अथवा न करने—दोनोंसे ही कोई प्रयोजन नहीं रहता । इस प्रकार सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें 'कर्मयोग'से सिद्ध हुए महापुरुषके लक्षणोंका ही वर्णन किया गया है ।

कर्मयोगके साधनकी दृष्टिसे वास्तवमें अठारहवाँ श्लोक पहले तथा सत्रहवाँ श्लोक बादमें आना चाहिये । कारण कि जब कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषका कर्म करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा उसका किसी भी प्राणि-पदार्थसे किञ्चित् भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, तब उसकी रति, तृप्ति और संतुष्टि अपने-आपमें ही हो जाती है । परन्तु सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'मोघं पार्थ स जीवति'** पदोंसे कर्तव्य-पालन न करनेवाले मनुष्यके जीनेको निरर्थक बतलाया था; अतः सत्रहवें श्लोकमें **'यः तु'** पद देकर यह बतलाते हैं कि यदि सिद्ध महापुरुष कर्तव्य-कर्म नहीं करता तो उसका जीना निरर्थक नहीं है, प्रत्युत महान् सार्थक है । कारण कि उसने मनुष्यजन्मके उद्देश्यको पूरा कर लिया है । अतः उसके लिये अब कुछ भी करना शेष नहीं रहा ।

जिस स्थितिमें कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, उस स्थितिको साधारण-से-साधारण मनुष्य भी प्रत्येक अवस्थामें तत्परता एवं लगनपूर्वक निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म करनेपर प्राप्त कर सकता है; क्योंकि उसकी प्राप्तिमें सभी स्वतन्त्र और अधिकारी हैं । कर्तव्यका

सम्बन्ध प्रत्येक परिस्थितिसे जुड़ा हुआ है । इसलिये प्रत्येक परिस्थितिमें कर्तव्य निहित रहता है । केवल सुखलोलुपतासे ही मनुष्य कर्तव्यको भूलता है । यदि वह निःस्वार्थभावसे दूसरोकी सेवा करके अपनी सुखलोलुपता मिटा डाले तो जीवनके सभी दुःखोसे छुटकारा पाकर परम शान्तिको प्राप्त हो सकता है । इस परम शान्तिकी प्राप्तिमें सबका समान अधिकार है । संसारके सर्वोपरि पदार्थ, पद आदि सबको समानरूपसे मिलने सम्भव नहीं हैं; किन्तु परम शान्ति सबको समानरूपसे ही मिलती है ।

सम्बन्ध—

*पिछले दो श्लोकोंमें भगवान्ने बतलाया कि परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषके लिये कोई कर्तव्य शेष न रहनेपर भी उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके द्वारा लोकसंग्रहके लिये सुचारुरूपसे शास्त्रविहित क्रियाएँ होती रहती हैं । इस बातकी ओर लक्ष्य कराते हुए भगवान् अर्जुनको तदनुसार ( उन महापुरुषोंको आदर्श मानकर ) अनासक्तभावसे दूसरोंके लिये कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं ।*

श्लोक—

**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।**
**असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥**

भावार्थ—

कोई भी कर्म अपने लिये न करनेसे ही कर्मयोग सिद्ध होता है । अतएव भगवान् अर्जुनको आज्ञा देते है कि तू निरन्तर अनासक्त होकर प्राप्त कर्तव्य-कर्मको दूसरोके हितके लिये तत्परतापूर्वक

भली-भाँति करता रह, क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करते रहनेसे मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

आसक्तिके कारण ही नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव नहीं होता। अनासक्त होकर दूसरोंके लिये कर्म करनेसे संसारका पुराना सम्बन्ध टूट जाता है और नया सम्बन्ध नहीं बनता। इस प्रकार संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जाता है।

अन्वय—

तस्मात्, सततम्, असक्तः, कार्यम्, कर्म, समाचर, हि, असक्तः, कर्म, आचरन्, पूरुष, परम्, आप्नोति ॥ १९ ॥

पद-व्याख्या—

तस्मात्—इसलिये (तू)।

'तस्मात्' पद पिछले श्लोकोंसे इस श्लोकका सम्बन्ध बतलानेके लिये आया है। पिछले श्लोकोंमें भगवान्‌ने कहा कि अपने लिये कर्म करनेकी कोई आवश्यकता न रहनेपर भी सिद्ध महापुरुषके द्वारा लोक-संग्रहार्थ क्रियाएँ हुआ करती हैं। इसलिये अर्जुनको भी उसी प्रकार (अनासक्त भावसे) कर्तव्य-कर्म करते हुए परमात्माको प्राप्त करनेकी आज्ञा देनेके लिये भगवान्‌ने 'तस्मात्' पदका प्रयोग किया है। कारण कि अपने स्वरूप—'स्व' के लिये कर्म करने और न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। कर्म सदैव 'पर' (दूसरो) के लिये होता है, 'स्व' के लिये नहीं। अतः दूसरोंके लिये कर्म करनेसे करनेका राग मिट जाता है और स्वरूपमें स्थिति हो जाती है।

**सततम् असक्तः कार्यम् कर्म समाचर**—निरन्तर अनासक्त होकर कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति आचरण कर।

अपने स्वरूपसे विजातीय ( जड़ ) पदार्थोंके प्रति आकर्षणको 'आसक्ति' कहते हैं। अनासक्त होनेके लिये आसक्तिके कारणको जानना आवश्यक है। 'मै शरीर हूँ' और 'शरीर मेरा है'—ऐसा माननेसे शरीरादि नाशवान् पदार्थोंका महत्त्व अन्तःकरणमें अङ्कित हो जाता है। इसी कारण उन पदार्थोंमें आसक्ति हो जाती है।

आसक्ति ही पतन करनेवाली है, कर्म नहीं। आसक्तिके कारण ही मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जड पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मानकर अपने आराम, सुख-भोगके लिये भाँति-भाँतिके कर्म करता है। इस प्रकार जड़तासे आसक्तिपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही मनुष्यके बारंबार जन्म-मरणका कारण होता है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** ( गीता १३ । २१ )। अनासक्त होकर कर्म करनेसे जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

आसक्त मनुष्य दूसरोंका हित नहीं कर सकता, जबकि अनासक्त मनुष्यसे स्वतः-स्वाभाविक प्राणिमात्रका हित होता है। उसके सभी कर्म केवल दूसरोंके हितार्थ होते है।

संसारसे प्राप्त सामग्री ( शरीरादि ) से हमने अभीतक अपने लिये ही कर्म किये है। उसे अपने ही सुखभोग और संग्रहमे लगाया है। इसलिये संसारका हमपर ऋण है, जिसे उतारनेके लिये केवल संसारके हितके लिये कर्म करना आवश्यक है। अपने लिये ( फलकी कामना रखकर ) कर्म करनेसे पुराना ऋण तो समाप्त होता नहीं,

नया ऋण और उत्पन्न हो जाता है। ऋणसे मुक्त होनेके लिये बार-बार संसारमें आना पड़ता है। केवल दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करनेसे पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और अपने लिये कुछ न करने तथा कुछ न चाहनेसे नया ऋण उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार जब पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और नया ऋण उत्पन्न नहीं होता, तब बन्धनका कोई कारण न रहनेसे मनुष्य स्वतः मुक्त हो जाता है।

कोई भी कर्म निरन्तर नहीं रहता, पर आसक्ति (अन्तःकरणमें) निरन्तर रहा करती है। इसलिये भगवान् 'सततम् असक्तः' पदोंसे निरन्तर अनासक्त होनेके लिये कहते हैं। 'मुझे कहीं भी आसक्त नहीं होना है'—ऐसी जागृति साधकको निरन्तर रखनी चाहिये। निरन्तर अनासक्त रहते हुए जो विहित-कर्म सामने आ जाय, उसे कर्तव्यमात्र समझकर कर देना चाहिये—ऐसा उपर्युक्त पदोंका भाव है।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो किसीके भी अन्तःकरणमें आसक्ति निरन्तर नहीं रहती। जब संसार निरन्तर नहीं रहता, प्रति-क्षण बदलता रहता है, तब उसकी आसक्ति निरन्तर कैसे रह सकती है? ऐसा होते हुए भी माने हुए 'अहं' के साथ आसक्ति निरन्तर रहती हुई प्रतीत होती है।

'कार्यम्' अर्थात् कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसे कर सकते हैं और जिसे अवश्य करना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें कर्तव्यका अर्थ होता है—अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका हित करना अर्थात्

दूसरोकी उस शास्त्रविहित न्याययुक्त माँगको पूरा करना, जिसे पूरा करनेकी सामर्थ्य हममे है । इस प्रकार कर्तव्यका सम्बन्ध परहितसे है ।

कर्तव्यका पालन करनेमें सब स्वतन्त्र और समर्थ हैं, कोई पराधीन और असमर्थ नहीं है। हॉ, प्रमाद और आलस्यके कारण अकर्तव्य करनेका बुरा अभ्यास (आदत) हो जानेसे तथा फलकी इच्छा रहनेसे ही वर्तमानमें कर्तव्य-पालन कठिन प्रतीत होता है, अन्यथा कर्तव्य-पालनके समान सुगम कुछ नहीं है। कर्तव्यका सम्बन्ध परिस्थितिके अनुसार होता है । मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें स्वतन्त्रतापूर्वक कर्तव्यका पालन कर सकता है। कर्तव्यका पालन करनेसे ही आसक्ति मिटती है। अकर्तव्य करने तथा कर्तव्य न करनेसे आसक्ति और बढ़ती है। कर्तव्य अर्थात् दूसरोके हितार्थ कर्म करनेसे वर्तमानकी आसक्ति और कुछ न चाहनेसे भविष्यकी आसक्ति मिट जाती है।

**'समाचर'** पदका तात्पर्य है कि कर्तव्य-कर्म बहुत सावधानी, उत्साह तथा तत्परतासे विधिपूर्वक करने चाहिये । कर्तव्य-कर्म करनेमें थोड़ी भी असावधानी होनेपर कर्मयोगकी सिद्धिमें बाधा लग सकती है।

वर्ण, आश्रम, प्रकृति ( स्वभाव ) और परिस्थितके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म बतलाया गया है, अवसर प्राप्त होनेपर उसके लिये वही 'सहज कर्म' है । सहज

कर्ममें यदि कोई दोष दिखायी दे, तो भी उसका त्याग नहीं करना चाहिये—'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' ( गीता १८ । ४८ ); क्योंकि सहज कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता—'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' ( गीता १८ । ४७ ) । इसीलिये यहाँ भगवान् अर्जुनको मानो यह कह रहे हैं कि तू क्षत्रिय है; अतः युद्ध करना ( घोर दीखनेपर भी ) तेरा सहज कर्म है, घोर कर्म नहीं ( गीता १८।५९-६० ) अतः सामने आये हुए सहज कर्मको अनासक्त होकर कर देना चाहिये । अनासक्त होनेपर ही समता प्राप्त होती है ।

### विशेष बात—

जब मनुष्य पृथ्वीपर जन्म लेता है, तब उसे शरीर, धन, जमीन, मकान आदि सब सामग्री मिलती है; और जब वह यहाँसे जाता है, तब वह सब सामग्री यहीं छूट जाती है । इस सीधी-सादी बातसे यह सहज ही सिद्ध होता है कि शरीरादि सब सामग्री मिली हुई है, अपनी नहीं है । जैसे मनुष्य काम करनेके लिये किसी कार्यालय ( आफिस ) में जाता है तो उसे कुर्सी, मेज, कागज आदि सब सामग्री कार्यालयका काम करनेके लिये ही मिलती है, अपनी मानकर घर ले जानेके लिये नहीं, वैसे ही मनुष्यको संसारमें शरीरादि सब सामग्री संसारका काम ( सेवा ) करनेके लिये ही मिली है, अपनी माननेके लिये नहीं । मनुष्य तत्परता और उत्साह-पूर्वक कार्यालयका काम करता है तो उस कामके बदलेमें उसे वेतन मिलता है । काम कार्यालयके लिये होता है और वेतन अपने लिये । इसी

प्रकार संसारके लिये ही सब काम करनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और योग (परमात्माके साथ अपने नित्य-सम्बन्ध) का अनुभव हो जाता है। 'कर्म' और 'योग' दोनो मिलकर कर्मयोग कहलाता है। कर्म संसारके लिये होता है और योग अपने लिये। यह योग ही मानो वेतन है।

संसार साधनका क्षेत्र है। यहाँ प्रत्येक सामग्री साधनके लिये मिलती है, भोग और संग्रहके लिये कदापि नहीं। सांसारिक सामग्री अपनी और अपने लिये है ही नहीं। अपनी वस्तु—परमात्म-तत्त्व मिलनेपर फिर अन्य किसी वस्तुको पानेकी इच्छा नहीं रहती।* परन्तु सासारिक वस्तुएँ चाहे जितनी प्राप्त हो जायँ, पर उन्हें पानेकी इच्छा कभी मिटती नहीं, अपितु और बढती है।

जब मनुष्य मिली हुई वस्तुको अपनी और अपने लिये मान लेता है, तब वह अपनी इस भूलके कारण बँध जाता है। इस भूलको मिटानेके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान ही सुगम और श्रेष्ठ उपाय है। कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये न मानते हुए उसे दूसरोकी सेवामे (उन्हींकी मानकर) लगाता है। अतएव वह सुगमतापूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

कर्म तो सभी प्राणी किया करते हैं, पर साधारण प्राणी और कर्मयोगीद्वारा किये गये कर्मोमे महान् अन्तर होता है। साधारण

---

* यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
(गीता ६। २२)

'जिस लाभको पाकर मनुष्य उससे अधिक दूसरा कोई लाभ नही मानता।'

मनुष्य ( कर्मी ) आसक्ति, ममता, कामना आदिको साथ रखते हुए कर्म करता है, और कर्मयोगी आसक्ति, ममता, कामना आदिको त्यागकर कर्म करता है। कर्मीके कर्मोंका प्रवाह अपनी तरफ होता है। और कर्मयोगीके कर्मोंका प्रवाह संसारकी तरफ। इसलिये कर्मी बँधता है और कर्मयोगी मुक्त होता है।

हि—क्योंकि।

यहाँ 'हि' पद अनासक्त होकर किये गये आचरणको परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु बतलानेके लिये आया है।

**असक्तः कर्म आचरन्**—अनासक्त होकर कर्म करता हुआ।

मनुष्य ही आसक्तिपूर्वक संसारसे अपना सम्बन्ध जोड़ता है, संसार नहीं। अतः मनुष्यका कर्तव्य है कि वह संसारके हितके लिये ही सब कर्म करे और बदलेमें उनका कोई फल न चाहे। इस प्रकार अनासक्त होकर अर्थात् 'मुझे किसीसे कुछ नहीं चाहिये, इस भावसे संसारके लिये कर्म करनेसे संसारसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। कर्मयोगी संसारकी सेवा करनेसे, वर्तमानकी वस्तुओंसे और कुछ न चाहनेसे भविष्यकी वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद करता है।

मेलेमें स्वयंसेवक अपना कर्तव्य समझकर दिनभर यात्रियोंकी सेवा करते हैं और बदलेमें किसीसे कुछ नहीं चाहते, अतः रात्रिमें सोते समय उन्हें किसीकी याद नहीं आती। कारण कि सेवा करते समय उन्होंने किसीसे कुछ चाहा नहीं। इसी प्रकार जो सेवाभावसे दूसरोंके लिये ही सब कर्म करता है और किसीसे मान, बड़ाई आदि कुछ नहीं चाहता, उसे संसारकी याद नहीं आती। वह सुगमतापूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

कर्म तो सभी किया करते हैं, पर कर्मयोग तभी होता है, जब अनासक्त होकर दूसरोके लिये कर्म किये जाते हैं। आसक्ति शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करनेसे ही मिट सकती है—**'धर्म तें बिरति'** ( मानस ३ । १५ । १ ) । शास्त्रनिषिद्ध कर्म करनेसे आसक्ति कभी नहीं मिट सकती ।

**पूरुषः परम् आप्नोति**—मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

जैसे तेरहवे अध्यायके चौंतीसवे श्लोकमे भगवान्‌ने **'परम्'** पदसे सांख्ययोगीके परमात्माको प्राप्त होनेकी बात कही*, वैसे ही यहाँ **'परम्'** पदसे कर्मयोगीके परमात्माको प्राप्त होनेकी बात कहते हैं । तात्पर्य यह है कि साधक ( रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार ) किसी भी मार्ग—कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोगपर क्यो न चले, उसके द्वारा प्राप्तव्य वस्तु एक परमात्मा ही हैं ( गीता ५ । ४-५ ) । वह प्राप्तव्य तत्त्व वही हो सकता है, जिसकी प्राप्तिमें विकल्प, सन्देह और निराशा न हो तथा जो सदा हो, सब देशमें हो, सब कालमें हो, सभीके लिये हो, सबका अपना हो और जिस तत्त्वसे कोई कभी किसी अवस्थामें किञ्चिन्मात्र भी अलग हो नहीं सकता अर्थात् जो सबको सदा अभिन्नरूपसे स्वतः प्राप्त है ।

*शङ्का*—कर्म करते हुए कर्मयोगीका कर्तृत्वाभिमान कैसे मिट सकता है ? क्योकि कर्तृत्वाभिमान मिटे बिना परमात्म-तत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता ।

---

* क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥
( गीता १३ । ३४ )

*समाधान*—साधारण मनुष्य सभी अपने लिये करता है। अपने लिये कर्म करनेसे मनुष्यमें कर्तृत्वाभिमान रहता है। कर्मयोगी कोई भी क्रिया अपने लिये नहीं करता। वह ऐसा मानता है कि संसारसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, रुपये आदि जो कुछ सामग्री मिली है, वह सब संसारकी ही है, अपनी नहीं। जब कभी अवसर मिलता है, तभी वह सामग्री, समय, सामर्थ्य आदिको संसारकी सेवामें लगा देता है। उन्हें संसारकी सेवामें लगाते हुए कर्मयोगी ऐसा मानता है कि संसारकी वस्तु ही संसारकी सेवामें लगा रहा हूँ अर्थात् सामग्री, समय, सामर्थ्य आदि उन्हींके हैं, जिनकी सेवा हो रही है। ऐसा माननेसे कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता।

कर्तृत्वमें कारण है—भोक्तृत्व। कर्मयोगी भोगकी आशा रखकर कर्म करता ही नहीं। भोगकी आशावाला मनुष्य कर्मयोगी नहीं होता। जैसे अपने हाथोंसे अपना ही मुख धोनेपर यह भाव नहीं आता कि मैंने बड़ा उपकार किया है; क्योंकि मनुष्य हाथ और मुख—दोनोंको अपने ही अङ्ग मानता है, वैसे ही कर्मयोगी भी शरीरको संसारका ही अङ्ग मानता है। अतः यदि अङ्गने अङ्गीकी ही सेवा की है तो उसमें कर्तृत्वाभिमान कैसा?

यह नियम है कि मनुष्य जिस उद्देश्यको लेकर कर्ममें प्रवृत्त होता है, कर्मके समाप्त होते ही वह उसी लक्ष्यमें तल्लीन हो जाता है। जैसे, व्यापारी धनके उद्देश्यसे ही व्यापार करता है, तो दूकान बन्द करते ही उसका ध्यान स्वतः रुपयोंकी ओर जाता है और वह रुपये गिनने लगता है। उसका ध्यान इस ओर नहीं

जाता कि आज कौन-कौन ग्राहक आये ? किस-किस जातिके आये ? आदि-आदि। कारण कि ग्राहकोंसे उसका कोई प्रयोजन नहीं। संसारका उद्देश्य रखकर कर्म करनेवाला मनुष्य संसारमें कितना ही तल्लीन क्यो न हो जाय, पर उसकी संसारसे एकता नहीं हो सकती; क्योंकि वास्तवमें संसारसे एकता है ही नहीं। कारण कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील और जड़ है, जबकि 'स्वयं' ( अपना स्वरूप ) अचल और चेतन है। परन्तु परमात्माका उद्देश्य रखकर कर्म करनेवालेकी परमात्मासे एकता हो ही जाती है ( चाहे साधकको इसका अनुभव हो या न हो ) क्योंकि 'स्वयं' की परमात्माके साथ स्वतःसिद्ध ( तात्त्विक एवं स्वरूपगत ) एकता है। इस प्रकार जब कर्ता 'कर्तव्य' बनकर अपने उद्देश्य ( परमात्मतत्त्व ) के साथ एक हो जाता है, तब कर्तृत्वाभिमानका प्रश्न ही नहीं रहता।

कर्मयोगी जिस उद्देश्य—परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये सब कर्म करता है, उस ( परमात्मतत्त्व ) मे कर्तृत्वाभिमान अथवा कर्तृत्व ( कर्तापन ) नहीं है। अतः प्रत्येक क्रियाके आदि और अन्तमें उस उद्देश्यके साथ एकताका अनुभव होनेके कारण कर्मयोगीमें कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता।

प्राणिमात्रके द्वारा किये हुए प्रत्येक कर्मका आरम्भ और अन्त होता है। कोई भी कर्म निरन्तर नहीं रहता। अतः किसीका भी कर्तृत्व निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत कर्मका अन्त होनेके साथ ही कर्तृत्वका भी अन्त हो जाता है। परन्तु मनुष्यसे भूल यह होती है

कि जब वह कोई क्रिया करता है, तब तो अपनेको उस क्रियाका कर्ता मानता ही है, पर जब उस क्रियाको नहीं करता, तब भी अपनेको वैसा ही कर्ता मानता रहता है। इस प्रकार अपनेको निरन्तर कर्ता मानते रहनेसे उसका कर्तृत्वाभिमान मिटता नहीं, प्रत्युत दृढ होता है। उदाहरणार्थ—कोई पुरुष व्याख्यान देते समय तो वक्ता ( व्याख्यानदाता ) होता है, पर जब अन्य समयमें भी वह अपनेको वक्ता मानता रहता है, तब उसका कर्तृत्वाभिमान नहीं मिटता। अपनेको निरन्तर व्याख्यानदाता माननेसे ही उसके मनमें यह भाव आता है कि 'श्रोता मेरी सेवा करें, मेरा आदर करें, मेरी आवश्यकताओंकी पूर्ति करें'; और 'मैं इन साधारण आदमियोंके पास कैसे बैठ सकता हूँ, मैं यह साधारण काम कैसे कर सकता हूँ' इत्यादि। इस प्रकार उसका व्याख्यानरूप कर्मके साथ निरन्तर सम्बन्ध बना रहता है। इसका कारण है—व्याख्यानरूप कर्मसे धन, मान, बडाई, आराम आदि कुछ-न-कुछ पानेका भाव होना। यदि अपने लिये कुछ भी पानेका भाव न रहे तो कर्तापन केवल कर्म करनेतक ही सीमित रहता है और कर्म समाप्त होते ही कर्तापन अपने उद्देश्यमें लीन हो जाता है।

जैसे मनुष्य भोजन करते समय ही अपनेको उसका भोक्ता अर्थात् भोजन करनेवाला मानता है, भोजन करनेके बाद नहीं, वैसे ही कर्मयोगी किसी क्रियाको करते समय ही अपनेको उस क्रियाका कर्ता मानता है, अन्य समय नहीं। उदाहरणार्थ—कर्मयोगी व्याख्यानदाता है और लोगोंमें उसकी बहुत प्रतिष्ठा है।

परन्तु कभी व्याख्यान सुननेका काम पड जाय तो वह कहीं भी बैठकर सुगमतापूर्वक व्याख्यान सुन सकता है। उस समय उसे न आदरकी आवश्यकता है, न ऊँचे आसनकी, क्योंकि तब वह अपनेको श्रोता मानता है, व्याख्यानदाता नहीं। कभी व्याख्यान देनेके बाद उसे कोई कमरा साफ करनेका काम प्राप्त हो जाय तो वह उस कामको वैसी ही तत्परतासे करता है, जैसी तत्परतासे वह व्याख्यान देनेका काम करता है। उसके मनमे थोडा भी यह भाव नहीं आता कि 'इतना बडा व्याख्यानदाता होकर मै यह कमरा-सफाईका तुच्छ काम कैसे कर सकता हूँ! लोग क्या कहेंगे! मेरी इज्जत धूलमे मिल जायगी' इत्यादि। वह अपनेको व्याख्यान देते समय व्याख्यानदाता, कथा-श्रवणके समय श्रोता और कमरा साफ करते समय कमरा साफ करनेवाला मानता है। अतः उसका कर्तृत्वाभिमान निरन्तर नहीं रहता। जो वस्तु निरन्तर नहीं रहती, अपितु बदलती रहती है, वह वास्तवमे नहीं होती और उसका सम्बन्ध भी निरन्तर नहीं रहता—यह सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तपर दृष्टि जाते ही साधकको वास्तविकता (कर्तृत्वाभिमानसे रहित स्वरूप) का अनुभव हो जाता है।

*शङ्का*—कर्मयोगमे क्रिया करते समय तो कर्तृत्वाभिमान रहता ही है, अत क्रिया करते समय कर्मयोगीका कर्तृत्वाभिमान कैसे मिटेगा?

*समाधान*—एक बात तो पहले बतलायी जा चुकी है कि कर्मयोगी जिस लक्ष्यको रखकर क्रिया करता है, उसी लक्ष्यमे उसका

कर्तृत्व लीन हो जाता है। जिसका उद्देश्य कर्तृत्व मिटानेका होता है, वह कर्तव्य-कर्म करनेके लिये जिस स्वीकृतिको ग्रहण करता है, निष्कामभावपूर्वक उस कर्तव्य-कर्मको पूरा करनेपर वह ग्रहण की हुई स्वीकृति उसी कार्यमे लीन हो जाती है अर्थात् उस कार्यका कर्तृत्व उसमें नहीं आता। जैसे, 'मै विद्यार्थी हूँ'—यह स्वीकृति केवल विद्या पढनेके समय ही है। विद्या पढनेके अतिरिक्त यह स्वीकृति नहीं रहती। यदि यह स्वीकृति हर समय रहती है तो उसका उद्देश्य कर्तृत्व मिटानेका नहीं है।

दूसरी बात यह है कि कर्मयोगी सब क्रियाएँ उसी भावसे करता है, जिस भावसे नाटकमें एक स्वाँगधारी पात्र करता है। जैसे नाटकमे हरिश्चन्द्रका स्वाँग नाटक ( खेल )के लिये ही होता है, और नाटक समाप्त होते ही हरिश्चन्द्ररूप स्वाँगका स्वाँगके साथ ही त्याग हो जाता है, वैसे ही कर्मयोगीका कर्तापन भी स्वाँगके समान केवळ क्रिया करनेतक ही सीमित रहता है। जैसे नाटकमें हरिश्चन्द्र बना हुआ व्यक्ति हरिश्चन्द्रकी सब क्रियाएँ करते हुए भी वास्तवमें अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता ( वास्तविक हरिश्चन्द्र ) नहीं मानता, वैसे ही कर्मयोगी शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी वास्तवमें अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता नहीं मानता। कर्मयोगी शरीरादि सब पदार्थोंको स्वाँगकी तरह अपना और अपने लिये न मानकर उन्हें ( संसारका मानते हुए ) संसारकी ही सेवामे लगाता है। अतएव किसी भी अवस्थामें कर्मयोगीमें किञ्चित् भी कर्तृत्वाभिमान नहीं रह सकता।

कर्मयोगी जैसे कर्तृत्वको अपनेमें निरन्तर नहीं मानता, वैसे ही माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, भौजाई आदिके साथ अपना सम्बन्ध भी निरन्तर नहीं मानता। केवल सेवा करते समय ही उनके साथ अपना सम्बन्ध ( सेवा करनेके लिये ही ) मानता है। जैसे, यदि कोई पति है तो पत्नीके लिये पति है अर्थात् पत्नी कर्कशा हो, कुरूपा हो, कलह करनेवाली हो, पर उसे पत्नीरूपमें स्वीकार कर लिया तो अपनी योग्यता, सामर्थ्यके अनुसार उसका भरण-पोषण करना पतिका कर्तव्य है। पतिके नाते उसके सुधारकी बात कह देनी है, चाहे वह माने या न माने। हर समय अपनेको पति नहीं मानना है; क्योंकि इस जन्मसे पहले वह पत्नी थी, इसका क्या पता ? और मरनेके बाद भी वह पत्नी रहेगी, इसका भी क्या निश्चय ? तथा वर्तमानमें भी वह किसीकी माँ है, किसीकी पुत्री है, किसीकी बहन है, किसीकी भाभी है, किसीकी ननद है, आदि-आदि। वह सदा पत्नी ही तो है नहीं। ऐसा माननेसे उससे सुख लेनेकी इच्छा स्वतः मिटती है और 'केवल भरण-पोषण ( सेवा ) करनेके लिये ही पत्नी है' यह मान्यता दृढ होती है। इस प्रकार कर्मयोगीको संसारमें पिता, पुत्र, पति, भाई आदिके रूपमें जो स्वाँग मिला है, उसे वह ठीक-ठीक निभाता है। दूसरा अपने कर्तव्यका पालन करता है या नहीं, उसकी ओर वह नहीं देखता। अपनेमें कर्तृत्वाभिमान होनेसे ही दूसरोंके कर्तव्यपर दृष्टि जाती है और दूसरोंके कर्तव्यपर दृष्टि जाते ही मनुष्य अपने कर्तव्यसे गिर जाता है; क्योंकि दूसरेका कर्तव्य देखना अपना कर्तव्य नहीं है।

जिस प्रकार कर्मयोगी संसारके प्राणियोंके साथ अपना सम्बन्ध निरन्तर नहीं मानता, उसी प्रकार वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय, घटना, परिस्थिति आदिके साथ भी अपना सम्बन्ध निरन्तर नहीं मानता। जो वस्तु निरन्तर नहीं है, उसका अभाव स्वतः है। अतः कर्मयोगीका कर्तृत्वाभिमान स्वतः मिट जाता है।

## मार्मिक बात—

जिसमें कर्तृत्व नहीं है, उस परमात्माके साथ प्राणिमात्रकी स्वतःसिद्ध एकता है। साधकसे भूल यह होती है कि वह इस वास्तविकताकी ओर ध्यान नहीं देता।

जिस प्रकार झूला कितनी ही तेजीसे आगे-पीछे क्यों न जाय, हर बार वह समता ( मध्यस्थितिमें ) आता ही है अर्थात् जहाँसे झूलेकी रस्सी बँधी है, उसकी सीधमें ( आगे-पीछे जाते समय ) एक बार आता ही है, इसी प्रकार प्रत्येक क्रियाके बाद अक्रिय-अवस्था ( समता ) आती ही है। दूसरे शब्दोंमें, पहली क्रियाके अन्त तथा दूसरी क्रियाके आरम्भके बीच और प्रत्येक संकल्प तथा विकल्पके बीच समता रहती ही है।

दूसरी बात, यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो झूला चलते हुए ( विषम दीखनेपर ) भी निरन्तर समतामें ही रहता है अर्थात् झूला आगे-पीछे जाते समय भी निरन्तर ( जहाँसे झूलेकी रस्सी बँधी है, उसकी ) सीधमें ही रहता है। इसी प्रकार जीव भी प्रत्येक क्रियामें समतामें ही स्थित रहता है। परमात्मासे उसकी एकता निरन्तर रहती है। क्रिया करते समय समतामें स्थिति न दीखनेपर

भी वास्तवमें समता रहती ही है, जिसका अनुभव करना चाहे तो क्रिया समाप्त होते ही हो जाता है। यदि साधक इस विषयमें निरन्तर सावधान रहे तो उसे निरन्तर रहनेवाली समता या परमात्मासे अपनी एकताका अनुभव हो जाता है, जहाँ कर्तृत्व नहीं है।

माने हुए कर्तृत्वाभिमानको मिटानेके लिये प्रतीति और प्राप्तका भेद समझ लेना आवश्यक है। जो दीखता है, पर मिलता नहीं, उसे 'प्रतीति' कहते हैं, और जो मिलता है, पर दीखता नहीं, उसे 'प्राप्त' कहते है। देखने-सुनने आदिमें आनेवाला प्रतिक्षण परिवर्तन-शील संसार 'प्रतीति' है, और सर्वत्र नित्य परिपूर्ण परमात्म-तत्त्व 'प्राप्त' है। परमात्म तत्त्व ब्रह्मासे चींटी-पर्यन्त सबको समानरूपसे स्वतः प्राप्त है।

इदंतासे दीखनेवाली प्रतीतिका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। दृश्यमात्र प्रतिक्षण अदृश्यमें जा रहा है। जिनसे प्रतीति होती है, वे इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी प्रतीति ही है। नित्य अचल रहनेवाले 'स्वयं' को प्रतीतिकी प्राप्ति नहीं होती। सदैव सबमें रहनेवाला परमात्मतत्त्व 'स्वय' को नित्यप्राप्त है। इसलिये 'प्रतीति' अभावरूप और 'प्राप्त' भावरूप है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' ( गीता २।१६ )।

यावन्मात्र पदार्थ और क्रिया 'प्रतीति' है। क्रियामात्र अक्रियतामें लीन होती है। प्रत्येक क्रियाके आदि और अन्तमें सहज ( स्वत -सिद्ध ) अक्रिय-तत्त्व विद्यमान रहता है। जो आदि और अन्तमें होता है, वही मध्यमें भी होता है—यह सिद्धान्त है। अत क्रियाके

समय भी अखण्ड और सहज अक्रिय-तत्त्व ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता है। वह सहज अक्रिय-तत्त्व ( चेतनस्वरूप अथवा परमात्म-तत्त्व ) अक्रिय और सक्रिय— दोनों अवस्थाओंको प्रकाशित करनेवाला है अर्थात् वह प्रवृत्ति और निवृत्ति ( करने और न करने ) दोनोंसे परे है।

प्रतीति ( देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदि ) से माने हुए सम्बन्ध अर्थात् आसक्तिके कारण ही नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं होता। आसक्तिका नाश होते ही नित्यप्राप्त परमात्म-तत्त्वका अनुभव हो जाता है। अतः अनासक्तभावसे प्रतीति ( अपने कहलानेवाले शरीरादि पदार्थों ) को प्रतीति ( संसारमात्र ) की सेवामें लगा देनेसे प्रतीति ( शरीरादि पदार्थों ) का प्रवाह प्रतीति ( संसार ) की ओर ही हो जाता है और स्वतः प्राप्त परमात्मतत्त्व शेष रह जाता है।

सम्बन्ध—

*अनासक्त होकर कर्म करने अर्थात् अपने लिये कोई कर्म न करनेसे क्या कोई परमात्माको प्राप्त हो चुका है? इसके उत्तरमें जनकादि महापुरुषोंका उदाहरण देते हुए भगवान् अर्जुनको अनासक्त होकर कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं।*

श्लोक—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

भावार्थ—

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष, जो राजा जनकसे पहले तथा बादमे हो चुके हैं, आसक्तिरहित कर्मके द्वारा परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। इसलिये लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी तुझे अनासक्तभावसे कर्म करना ही उचित है। कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना तुम्हारे लिये किसी भी प्रकारसे उचित नहीं है।

लोगोंको पतनके मार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगाना 'लोकसंग्रह' कहलाता है। लोकसंग्रह तभी होता है, जब अपने लिये कोई कर्म नहीं किया जाता। जो पुरुष अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब पदार्थोंको किञ्चिन्मात्र भी अपने और अपने लिये न मानकर, प्रत्युत केवल संसारके और संसारके लिये ही मानकर उन्हें संसारकी सेवामें लगाता है, ऐसे निष्काम, निर्मम और अनासक्त महापुरुषके द्वारा स्वतः लोकसंग्रह ( लोगोंके हित ) की चेष्टा होती है।

अन्वय—

जनकादयः, हि, कर्मणा, एव, संसिद्धिम्, आस्थिताः, लोकसंग्रहम्, संपश्यन्, अपि, कर्तुम्, एव, अर्हसि ॥ २० ॥

पद-व्याख्या—

**जनकादयः**—राजा जनक-जैसे महापुरुष।

'आदि' पद 'प्रभृति' ( आरम्भ ) तथा 'प्रकार'—दोनोंका वाचक माना जाता है। यदि यहाँ आये 'आदि' पदको 'प्रभृति' का वाचक माना जाय तो '**जनकादयः**' पदका अर्थ होगा—

जिनके आदि ( आरम्भ )में राजा जनक हैं अर्थात् राजा जनक तथा उनके बाद होनेवाले महापुरुष। परन्तु यहाँ ऐसा अर्थ मानना ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि राजा जनकसे पहले भी अनेक महापुरुष आसक्तिरहित कर्मोंके द्वारा परमसिद्धिको प्राप्त हो चुके थे, जैसे सूर्य, वैवस्वत मनु, राजा इक्ष्वाकु आदि ( गीता ४ । १-२ )। इसलिये यहाँ 'आदि' पदको 'प्रकार' का वाचक मानना ही उचित है, जिसके अनुसार 'जनकादयः' पदका अर्थ है—राजा जनक-जैसे गृहस्थाश्रममें रहकर अनासक्तभावसे सब कर्म करते हुए परमसिद्धिको प्राप्त हुए महापुरुष, जो राजा जनकसे पहले तथा बादमें ( आजतक ) हो चुके हैं।

कर्मयोग बहुत पुरातन योग है, जिसके द्वारा राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं। इसलिये वर्तमानमें तथा भविष्यमें भी यदि कोई कर्मयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त करना चाहे तो उसे चाहिये कि वह मिली हुई प्राकृत वस्तुओं ( शरीरादि ) को कभी अपनी और अपने लिये न माने। कारण कि वास्तवमें वे अपनी और अपने लिये हैं ही नहीं, अपितु संसारकी और संसारके लिये ही हैं। इस वास्तविकताको मानकर संसारसे मिली वस्तुओंको संसारकी ही सेवामें लगा देनेसे सुगमतापूर्वक संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर परमात्मप्राप्ति हो जाती है। अतएव कर्मयोग परमात्मप्राप्तिका सुगम, श्रेष्ठ और स्वतन्त्र साधन है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

हि—भी ।

**कर्मणा एव संसिद्धिम् आस्थिताः**—( आसक्ति रहित ) कर्मके द्वारा ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं ।

यहाँ **'कर्मणा एव'** पदोंका सम्बन्ध पिछले ( उन्नीसवें ) श्लोकके **'असक्तो ह्याचरन्कर्म'** पदोंसे अर्थात् अनासक्त होकर कर्म करनेसे है, क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करनेसे ही मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त होता है, केवल कर्म करनेसे नहीं । केवल कर्म करनेसे तो प्राणी बँधता है— **'कर्मणा बध्यते जन्तुः'** ( महा० शान्ति० २४१ । ७ )

गीताकी यह शैली है कि भगवान् पिछले श्लोकमे वर्णित विषयकी मुख्य बातको ( जो साधकोंके लिये विशेष उपयोगी होती है ) संक्षेपसे अगले श्लोकमें पुन. कह देते हैं, जैसे–बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें* वर्णित विषयकी मुख्य बातको सातवें श्लोकमे सक्षेपसे **'मय्यावेशितचेतसाम्'** ( मुझमे चित्त लगानेवाले भक्त ) पदसे पुनः कहते हैं । इसी प्रकार यहाँ भी उन्नीसवें श्लोकमे अनासक्त होकर कर्म करनेकी आज्ञा देकर इस बीसवे श्लोकमे उसी बातको संक्षेपसे **'कर्मणा एव'** पदोसे कहते हैं ।

---

* ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते ॥
( गीता १२ । ६ )

'जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं ।'

यहाँ भगवान् 'कर्मणा एव' के स्थानपर 'योगेन एव' भी कह सकते थे। परन्तु अर्जुनका आग्रह कर्मोका स्वरूपसे त्याग करनेका होने तथा ( अनासक्त होकर किये जानेवाले ) कर्मका ही प्रसङ्ग चलनेके कारण 'कर्मणा एव' पदोका प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ इन पदोका अभिप्राय ( पिछले श्लोकके अनुसार ) अनासक्त होकर किये गये कर्मयोगसे ही है।

वास्तवमे चिन्मय परमात्माकी प्राप्ति जड कर्मोसे नहीं होती। नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव होनेमे जो बाधाएँ है, वे अनासक्त होकर कर्म करनेसे दूर हो जाती हैं। फिर सर्वत्र परिपूर्ण स्वतः-सिद्ध परमात्माका अनुभव हो जाता है। इस प्रकार परमात्मतत्त्व-के अनुभवमें आनेवाली बाधाओको दूर करनेके कारण यहाँ कर्मके द्वारा परमसिद्धि ( परमात्मतत्त्व ) की प्राप्तिकी बात कही गयी है।

### परमात्मप्राप्ति-सम्बन्धी मार्मिक बात—

मनुष्य सासारिक पदार्थोकी प्राप्तिकी तरह परमात्माकी प्राप्तिको भी कर्मजन्य मान लेते हैं। वे ऐसा विचार करते है कि जब किसी बडे ( उच्चपदाधिकारी ) मनुष्यसे मिलनेमें भी इतना परिश्रम करना पडता है, तब अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परमात्मासे मिलनेमें तो बहुत ही परिश्रम ( तप, व्रत आदि ) करना पडेगा। वस्तुतः यही साधककी सबसे बडी भूल है।

मनुष्ययोनिका कर्मोसे घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिये मनुष्ययोनिको 'कर्मसङ्गी' अर्थात 'कर्मोमें आसक्तिवाली' कहा गया है—

**'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते'** ( गीता १४ । १५ ) । यही कारण है कि कर्मोंमें मनुष्यकी विशेष प्रवृत्ति रहती है और वह कर्मोंके द्वारा ही अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त करना चाहता है । प्रारब्धका साथ रहनेपर वह कर्मोंके द्वारा अभीष्ट सांसारिक वस्तुओंको प्राप्त भी कर लेता है, जिससे उसकी यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि प्रत्येक वस्तु कर्म करनेसे ही मिलती है, और मिल सकती है । परमात्माके विषयमें भी उसका यही भाव रहता है और वह चेतन परमात्माको भी जड कर्मोंके ही द्वारा प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है । परंतु वास्तविकता यही है कि परमात्माकी प्राप्ति कर्मोंके द्वारा नहीं होती । इस विषयको बहुत गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिये ।

कर्मोंसे नाशवान् वस्तु (संसार)की प्राप्ति होती है, अविनाशी वस्तु ( परमात्मा ) की नहीं; क्योंकि सम्पूर्ण कर्म नाशवान् ( शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि ) के सम्बन्धसे ही होते हैं, जबकि परमात्माकी प्राप्ति नाशवान्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होती है ।

प्रत्येक कर्मका आरम्भ और अन्त होता है, इसलिये कर्मके फलरूप प्राप्त होनेवाली वस्तु भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाली होती है । कर्मोंके द्वारा उसी वस्तुकी प्राप्ति होती है, जो देश, काल आदिकी दृष्टिसे दूर ( अप्राप्त ) हो । सांसारिक वस्तु एक देश-काल आदिमें रहनेवाली, उत्पन्न और नष्ट होनेवाली एवं प्रतिक्षण बदलनेवाली है । अत. उसकी प्राप्ति कर्म-साध्य है । इसके विपरीत

परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें परिपूर्ण ( नित्यप्राप्त )* एवं उत्पत्ति-विनाश और परिवर्तनसे सर्वथा रहित है। अतः उनकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है, कर्म-साध्य नहीं। यही कारण है कि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति चिन्तनसे नहीं होती, जबकि परमात्माकी प्राप्तिमें चिन्तन मुख्य है। चिन्तनसे वही वस्तु प्राप्त हो सकती है, जो समीप-से-समीप हो। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो परमात्माकी प्राप्ति चिन्तनरूप क्रियासे भी नहीं होती। परमात्माका चिन्तन करनेकी सार्थकता दूसरे ( संसारके ) चिन्तनका त्याग करानेमें ही है। संसारका चिन्तन सर्वथा छूटते ही नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जाता है।

सर्वव्यापी परमात्माकी हमसे दूरी है ही नहीं और हो सकती भी नहीं। जिससे हम अपनी दूरी नहीं मानते, उस 'मैं'-पनसे भी परमात्मा अत्यन्त समीप है। 'मैं'-पन तो परिच्छिन्न ( एकदेशीय ) है, पर परमात्मा परिच्छिन्न नहीं है। ऐसे अत्यन्त समीपस्थ, नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव करनेके लिये सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके समान तर्क तथा युक्तियाँ लगाना अपने-आपको धोखा ही देना है।

सांसारिक वस्तुकी प्राप्ति इच्छामात्रसे नहीं होती; परंतु परमात्माकी प्राप्ति उत्कट अभिलाषामात्रसे हो जाती है। इस उत्कट अभिलाषाके जाग्रत होनेमें सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छा ही

---

* देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥ ( मानस १। १८५। ३ )

बाधक है, दूसरा कोई बाधक है ही नहीं। यदि परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा अभी जाग्रत् हो जाय तो अभी ही परमात्माका अनुभव हो जाय।

मनुष्यजीवनका उद्देश्य कर्म करना और उसका फल भोगना नहीं है। सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छाके नाशपूर्वक परमात्मप्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा तभी जाग्रत् हो सकती है, जब साधकके जीवनभरका एक ही उद्देश्य—परमात्मप्राप्ति करना हो जाय। परमात्माको प्राप्त करनेके अतिरिक्त अन्य किसी भी कार्यका कोई महत्त्व न रहे। वास्तवमे परमात्मप्राप्तिके अतिरिक्त मनुष्यजीवनका अन्य कोई प्रयोजन है ही नहीं। आवश्यकता केवल इस प्रयोजन या उद्देश्यको पहचानकर इसे पूरा करनेकी ही है।

यहाँ उद्देश्य और फलेच्छा—दोनोमे भेद समझ लेना आवश्यक है। नित्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका 'उद्देश्य' होता है, और अनित्य ( उत्पत्ति-विनाशशील ) पदार्थोंको प्राप्त करनेकी 'फलेच्छा' होती है। उद्देश्य तो पूरा होता है, पर फलेच्छा मिटनेवाली होती है। सेवा ( कर्मयोग ), स्वरूपबोध ( ज्ञानयोग ) और भगवत्प्राप्ति ( भक्तियोग )—ये तीनो उद्देश्य है, फल नहीं। उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये किया गया कर्म सकाम नहीं कहलाता। इसलिये निष्काम पुरुष ( कर्मयोगी ) के सभी कर्म उद्देश्यसे होते हैं फलेच्छासे नहीं।

कर्मयोगमे कर्मो ( जडता ) से सम्बन्ध-विच्छेदका उद्देश्य रखकर शास्त्रविहित शुभ-कर्म किये जाते हैं। सकाम पुरुष फलको

इच्छा रखकर अपने लिये कर्म करता है, और कर्मयोगी फलकी इच्छाको त्यागकर दूसरोंके लिये कर्म ( सेवा ) करता है। कर्म ही फलरूपसे परिणत होता है। अतः फलका सम्बन्ध कर्मसे होता है। उद्देश्यका सम्बन्ध कर्मसे नहीं होता। निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे 'परमात्मा दूर हैं' यह धारणा दूर हो जाती है।

**लोकसंग्रहं सम्पश्यन् अपि कर्तुम् एव अर्हसि**—( तथा ) लोकसंग्रहको देखते हुए भी ( तू कर्म ) करनेके योग्य है।

'लोक' शब्दके तीन अर्थ होते हैं—( १ ) मनुष्यलोक आदि लोक, ( २ ) उन लोकोंमें रहनेवाले प्राणी और ( ३ ) शास्त्र ( वेदोंके अतिरिक्त सब शास्त्र )। मनुष्यलोककी, उसमें रहनेवाले प्राणियोंकी और शास्त्रोंकी मर्यादाके अनुसार समस्त आचरणों ( जीवनचर्यामात्र ) का होना 'लोकसंग्रह' है।

लोगोंको दिखानेके लिये अपने कर्तव्यका पालन करना लोक-संग्रह नहीं है। कोई देखे या न देखे, लोकमर्यादाके अनुसार अपने-अपने ( वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके अनुसार ) कर्तव्यका पालन करनेसे लोकसंग्रह स्वतः होता है।

कोई भी कर्तव्य-कर्म छोटा या बड़ा नहीं होता। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कर्म कर्तव्यमात्र समझकर ( सेवाभावसे ) करनेपर समान ही है। देश, काल, परिस्थिति, अवसर, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके अनुसार जो कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, वही कर्म बड़ा होता है। कर्मके स्वरूप और फलकी दृष्टिसे ही

कर्म छोटा या बड़ा, घोर या सौम्य प्रतीत होता है ।* फलेच्छाका त्याग करनेपर सभी कर्म उद्देश्यकी सिद्धि करनेवाले हो जाते हैं । अतः जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें छोटे-बड़े सभी कर्म समान हैं ।

किसी भी मनुष्यका जीवन दूसरोंकी सहायताके बिना नहीं चल सकता । शरीर माता-पितासे मिलता है और विद्या, योग्यता, शिक्षा आदि गुरुजनोंसे मिलती है । जो अन्न ग्रहण करते है, वह दूसरोंके द्वारा उत्पन्न किया गया होता है, जो वस्त्र पहनते है, वे दूसरोंके द्वारा बनाये गये होते है, जिस मकानमें रहते हैं, उसका निर्माण दूसरोंके द्वारा किया गया होता है, जिस सड़कपर चलते हैं, वह दूसरोंके द्वारा बनायी गयी होती है, आदि-आदि । इस प्रकार प्रत्येक मनुष्यका जीवन-निर्वाह दूसरोंके आश्रित है । अतएव प्रत्येक मनुष्यपर दूसरोंका ऋण है, जिसे उतारनेके लिये यथाशक्ति दूसरोंकी निःस्वार्थभावसे सेवा ( हित ) करना आवश्यक है । अपने कहलाने-वाले शरीरादि सम्पूर्ण सासारिक पदार्थोंको किञ्चिन्मात्र भी अपना और अपने लिये न माननेसे मनुष्य ऋणसे मुक्त हो जाता है ।

सम्बन्ध—

*कर्म करनेसे लोकसंग्रह कैसे होता है ? इसका विवेचन भगवान् अगले श्लोकमें करते हैं ।*

---

* उदाहरणार्थ—कर्म-स्वरूपकी दृष्टिसे झाड़ू लगाना छोटा कर्म और व्याख्यान देना बड़ा कर्म प्रतीत होता है, एवं कर्म फलकी दृष्टिसे कम दान करनेका कम पुण्य और अधिक दान करनेका अधिक पुण्य प्रतीत होता है ।

श्लोक—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

भावार्थ—

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य मनुष्य भी ( उसके आचरणोंको आदर्श मानते हुए ) वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष वही होता है, जिसके लिये कोई कर्तव्य नहीं होता एवं जिसमें कामना, ममता, आसक्ति, अहंकार और स्वार्थकी गन्ध भी नहीं होती। उसका यह स्वाभाविक अनुभव होता है कि अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब पदार्थ संसारसे अभिन्न होनेके कारण अपने और अपने लिये नहीं हैं, अपितु संसारके और संसारके लिये ही हैं। इसलिये उसके अपने कहलानेवाले शरीरादि पदार्थोंके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक संसारकी सेवा होती है। ऐसा श्रेष्ठ पुरुष अपने वचनसे, संकेतसे, शास्त्रसे, इतिहास आदिसे जो कुछ प्रमाण देता है, दूसरे मनुष्य उसीके अनुसार आचरण करने लग जाते हैं।

श्रेष्ठ पुरुषके द्वारा 'लोकसंग्रह' दो प्रकारसे होता है— ( १ ) आचरणके द्वारा और ( २ ) वचनोंके द्वारा। श्रेष्ठ पुरुष जिस वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिमें है, उसके अनुसार स्वयं आचरण करके और अन्य वर्णों, आश्रमों, सम्प्रदायों आदिके लिये अपने वचनोंके द्वारा शास्त्रप्रमाण, उपदेश, संकेत, उदाहरण आदि देकर लोगोंको कर्मबन्धनसे छूटनेकी प्रेरणा एवं शिक्षा देता है।

यद्यपि आचरणका क्षेत्र सीमित और प्रमाण ( वचनो ) का क्षेत्र विस्तृत होता है, तथापि भगवान्‌के द्वारा श्रेष्ठ पुरुषके आचरणमें पॉच पद—**'यत्'**,**'यत्'**,**'तत्'**,**'तत्'** और ( विशेषरूपसे ) **'एव'** देनेका अभिप्राय है कि उसके आचरणका प्रभाव समाजपर पॉच गुना ( अधिक ) पड़ता है, और प्रमाणमें दो पद—**'यत्'** और **'तत्'** देनेका अभिप्राय है कि प्रमाणका प्रभाव समाजपर केवल दो गुना (अपेक्षाकृत कम) पड़ता है। इसीलिये भगवान्‌ने पिछले ( बीसवें ) श्लोकमें लोकसंग्रहके लिये अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करनेपर ही विशेषरूपसे जोर दिया है । अतः साधकोको भी अपने आचरणोको ही सुधारनेका अधिक प्रयत्न करना चाहिये ।

अन्वय—

**श्रेष्ठः, यत्, यत्, आचरति, इतर, जनः, तत्, तत्, एव ( आचरति ), सः, यत्, प्रमाणम्, कुरुते, लोक, तत्, अनुवर्तते ॥२१॥**

पद-व्याख्या—

**श्रेष्ठः**—श्रेष्ठ पुरुष ।

श्रेष्ठ पुरुष वही है, जो संसार ( शरीरादि पदार्थों ) को और 'स्वयं' ( अपने स्वरूप ) को तत्त्वसे जानता है । उसका यह स्वाभाविक अनुभव होता है कि शरीर, इन्द्रियॉ, मन, बुद्धि, धन, कुटुम्ब, जमीन आदि पदार्थ संसारके हैं, अपने नहीं । इतना ही नहीं, वह श्रेष्ठ पुरुष त्याग, वैराग्य, प्रेम, ज्ञान, सद्गुण आदिको भी अपना नहीं मानता; क्योंकि उन्हें भी अपना माननेसे व्यक्तित्व पुष्ट होता है, जो तत्त्वप्राप्तिमें बाधक होता है । 'मै त्यागी हूँ',

'मैं वैरागी हूँ', 'मैं सेवक हूँ', 'मैं भक्त हूँ' इत्यादि भाव भी व्यक्तित्वको पुष्ट करनेवाले होनेके कारण तत्त्वप्राप्तिमें बाधक होते हैं। श्रेष्ठ पुरुषमें ( जड़ताके सम्बन्धसे होनेवाला ) 'व्यष्टि अहंकार' तो होता ही नहीं, और 'समष्टि अहंकार' व्यवहारमात्रके लिये होता है, जो संसारकी सेवामें लगा रहता है, क्योंकि अहंकार भी संसारका ही है*।

संसारसे मिले हुए शरीर, धन, परिवार, पद, योग्यता, अधिकार आदि सब पदार्थ सदुपयोग करने अर्थात् दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये ही मिले हैं; उपभोग करने अथवा अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं। जो इन्हें अपना और अपने लिये मानकर इनका उपभोग करता है, उसे भगवान् चोर कहते हैं— 'यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः' ( गीता ३। १२ )। ये सब पदार्थ समष्टिके ही हैं, व्यष्टिके कभी किसी प्रकार नहीं! वास्तवमें इन पदार्थोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रेष्ठ पुरुषके अपने कहलानेवाले शरीरादि पदार्थ ( संसारके होनेसे ) स्वतः स्वाभाविक संसारकी सेवामें लगते हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

'देने'के भावसे समाजमें एकता, प्रेम उत्पन्न होता है और 'लेने'के भावसे संघर्ष उत्पन्न होता है। 'देने'का भाव उद्धार करनेवाला और 'लेने'का भाव पतन करनेवाला होता है। शरीरको

* अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। ( गीता ७। ४ )
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। ( गीता १३। ५ )

'मैं', 'मेरा' अथवा 'मेरे लिये' माननेसे ही 'लेने'का भाव उत्पन्न होता है। शरीरसे अपना कोई सम्बन्ध न माननेके कारण श्रेष्ठ पुरुषमें 'लेने'का भाव किञ्चिन्मात्र भी नहीं होता। अतः उसकी प्रत्येक क्रिया दूसरोंका हित करनेवाली ही होती है। ऐसे श्रेष्ठ पुरुषके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन आदिसे स्वतः लोगोंका हित होता है। इतना ही नहीं, उसके शरीरको स्पर्श करके बहनेवाली वायुतकसे लोगोंका हित होता है।

ऐसे श्रेष्ठ पुरुष दो प्रकारके होते हैं—(१) अवधूतकोटिके और (२) आचार्यकोटिके। अवधूतकोटिके श्रेष्ठ पुरुष अवधूतोंके लिये ही आदर्श होते है, साधारण जनताके लिये नहीं। परन्तु आचार्यकोटिके श्रेष्ठ पुरुष मनुष्यमात्रके लिये आदर्श होते है। यहाँ आचार्यकोटिके श्रेष्ठ पुरुषोंका वर्णन किया गया है, जिनके आचरण सदैव शास्त्रमर्यादाके अनुकूल ही होते हैं। कोई देखे या न देखे, अहंता-ममता न रहनेके कारण उनके द्वारा स्वाभाविक ही कर्तव्यका पालन होता है। जैसे, जंगलमें कोई पुष्प खिला और कुछ समयके बाद मुरझा गया और सूखकर गिर गया। उसे किसीने देखा नहीं, फिर भी उसने (चारों ओर) अपनी सुगन्ध फैलाकर दुर्गन्धका नाश किया ही है। इसी प्रकार श्रेष्ठ पुरुषसे (परहितका असीम भाव होनेके कारण) संसारमात्रका स्वाभाविक ही बहुत उपकार हुआ करता है, चाहे कोई समझे या न समझे। कारण यह है कि व्यक्तित्व (अहंता-ममता) मिट जानेके कारण भगवान्‌की उस पालन-शक्तिके साथ उसकी एकता हो जाती है, जिसके द्वारा संसारमात्रका हित हो रहा है।

जैसे एक ही शरीरके सब अङ्ग भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही है ( उदाहरणार्थ—किसी भी अङ्गमें पीड़ा होनेपर मनुष्य उसे अपनी पीडा मानता है ), ऐसे ही संसारके सब प्राणी भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही है। जैसे शरीरका कोई भी पीडित ( रोगी ) अङ्ग ठीक हो जानेपर सम्पूर्ण शरीरका हित होता है, ऐसे ही मर्यादामें रहकर प्राप्त वस्तु, समय, परिस्थिति आदिके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करनेवाले पुरुषके द्वारा सम्पूर्ण संसारका स्वत हित होता है।

श्रेष्ठ पुरुषके आचरणो और वचनोका प्रभाव ( स्थूलशरीरसे होनेके कारण ) स्थूलरीतिसे पडता है, जो सीमित होता है। परन्तु उसके भावोका प्रभाव सूक्ष्मरीतिसे पडता है, जो असीम होता है। कारण यह है कि 'क्रिया' तो सीमित होती है, पर 'भाव' असीम होता है।

## विशेष बात—

प्राय. देखा जाता है कि जिस समाज, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, आश्रम आदिमे जो श्रेष्ठ पुरुष कहलाते हैं और जिन्हे लोग श्रेष्ठ मानकर आदरकी दृष्टिसे देखते है, वे जैसा आचरण करते है, उस समाज, सम्प्रदाय. जाति आदिके लोग भी वैसा ही आचरण करने लग जाते हैं।

अन्त करणमे धन और पदका महत्त्व एवं लोभ रहनेके कारण लोग अधिक धनवाले ( लखपति, करोडपति ) तथा ऊँचे पदवाले ( नेता, मन्त्री आदि ) पुरुषोको श्रेष्ठ मान लेते है और उन्हें बहुत

आदरकी दृष्टिसे देखते है। जिनके अन्तःकरणमे जड वस्तुओं ( धन, पद आदि )-का महत्त्व है, वे पुरुष वास्तवमें न तो स्वयं श्रेष्ठ होते है और न श्रेष्ठ व्यक्तिको समझ ही सकते हैं। जिसे वे श्रेष्ठ समझते है, वह भी वास्तवमे श्रेष्ठ नही होता। यदि उनके हृदयमे धनका अधिक आदर है तो उनपर अधिक धनवालोका ही प्रभाव पड़ता है; जैसे—चोरपर चोरोके सरदारका ही प्रभाव पड़ता है। वास्तवमे श्रेष्ठ न होनेपर भी लोगोके द्वारा श्रेष्ठ मान लिये जानेके कारण उन धनी तथा उच्च पदाधिकारी पुरुषोके आचरणोका समाजमे स्वतः प्रचार हो जाता है। जैसे, धनके कारण जो श्रेष्ठ माने जाते हैं, वे पुरुष जिन-जिन उपायोसे धन कमाते और जमा करते है, उन-उन उपायोका लोगोमे स्वतः प्रचार हो जाता है, चाहे वे उपाय कितने ही गुप्त क्यों न हो! यही कारण है कि वर्तमानमें झूठ, कपट, बेईमानी, धोखा, चोरी आदि बुराइयोका समाजमे, किसी पाठशालामे पढाये बिना ही, स्वतः प्रचार होता चला जा रहा है।

यह दुःख और आश्चर्यकी बात है कि वर्तमानमे लोग लखपतिको तो श्रेष्ठ मान लेते है, पर प्रतिदिन भगवन्नामका लाख जप करनेवालेको श्रेष्ठ नहीं मानते! वे यह विचार ही नहीं करते कि लखपतिके मरनेपर एक कौडी भी साथ नहीं जायगी, जबकि भगवन्नामका जप करनेवालेके मरनेपर पूरा-का-पूरा भगवन्नामरूप धन उसके साथ जायगा, एक भी भगवन्नाम पीछे नहीं रहेगा!

अपने-अपने स्थान या क्षेत्रमें जो पुरुष मुख्य कहलाते हैं, उन अध्यापक, व्याख्यानदाता, आचार्य, गुरु, नेता, शासक, महन्त,

कथावाचक, पुजारी आदि सभीको अपने आचरणोंमें विशेष सावधानी रखनेकी अत्यधिक आवश्यकता है, जिससे दूसरोंपर उनका अच्छा प्रभाव पड़े। इसी प्रकार परिवारके मुख्य व्यक्ति ( मुखिया ) को भी अपने आचरणोंमें पूरी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। कारण यह है कि मुख्य व्यक्तिकी ओर सबकी दृष्टि रहती है। रेलगाड़ीके चालकके समान मुख्य व्यक्तिपर विशेष जिम्मेदारी रहती है। रेलगाड़ीमें बैठे अन्य व्यक्ति सोये भी रह सकते हैं, पर चालकको सदा जाग्रत् रहना पड़ता है। उसकी थोड़ी भी असावधानीसे दुर्घटना हो जानेकी सम्भावना रहती है। इसलिये संसारमें अपने-अपने क्षेत्रमें श्रेष्ठ माने जानेवाले सभी पुरुषोंको अपने आचरणोंपर विशेष ध्यान रखनेकी बहुत आवश्यकता है।

**यत् यत् आचरति इतरः जनः तत् तत् एव (आचरति)—** ( श्रेष्ठ पुरुष ) जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं।

श्रेष्ठ पुरुष जिन भावोंको अपने आचरणोंमें लाता है, उन भावोंका दूसरे मनुष्योंपर बहुत प्रभाव पड़ता है। अपने वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके आचरणोंका भलीभाँति पालन करनेके कारण उसके द्वारा कहे हुए वचनोंका दूसरे वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके लोगोंपर भी बहुत प्रभाव पड़ता है।

यद्यपि तत्त्वज्ञ होनेके कारण श्रेष्ठ पुरुष अपने लिये कोई आचरण नहीं करता और उसमें कर्तृत्वाभिमान भी नहीं होता, तथापि लोगोंकी दृष्टिमें वह आचरण करता हुआ दीखनेके कारण यहाँ

'आचरति' क्रियाका प्रयोग हुआ है। उसके द्वारा सबके उपकारके स्वतः-स्वाभाविक क्रियाएँ होती है। अपना कोई स्वार्थ न रहनेके कारण उसकी छोटी-बड़ी प्रत्येक क्रिया लोगोका स्वतः हित करनेवाली होती है। यद्यपि उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है—'तस्य कार्यं न विद्यते' (गीता ३। १०) और करनेका अभिमान भी नहीं है—'निर्ममो निरहंकारः' (गीता २। ७१), तथापि उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक सुचारुरूपसे कर्तव्यका पालन होता है। इस प्रकार उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक लोकसंग्रह होता है।

**सः यत् प्रमाणम् कुरुते लोकः तत् अनुवर्तते**—वह (श्रेष्ठ पुरुष) जो कुछ प्रमाण देता है, दूसरे लोग उसीका अनुवर्तन अर्थात् वैसा ही आचरण करते है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जब आचरणकी बात कह दी, तब प्रमाणके कहनेकी क्या आवश्यकता है और प्रमाणकी बात कहनेपर आचरणके कहनेकी क्या आवश्यकता है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि आचरण मुख्य होता है, तथापि एक ही पुरुषके द्वारा सभी वर्णो, आश्रमो, सम्प्रदायो आदिके भावोंका आचरण करना सम्भव नहीं है। अतः श्रेष्ठ पुरुष स्वयं जिस वर्ण, आश्रम आदिमें है, उसके अनुसार तो वह साङ्गोपाङ्ग आचरण करता ही है और अन्य वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके लोगोके लिये भी वह अपने वचनोसे शास्त्र, इतिहास आदिके प्रमाणसे यह शिक्षा देता है कि अपने लिये कुछ न करके, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितके भावसे अपने-अपने (वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके अनुसार) कर्तव्यका पालन

करना कल्याणका सुगम और श्रेष्ठ साधन है—'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' ( गीता १८ । ४५ )। उसके वचनोंसे प्रभावित होकर दूसरे वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिके लोग तदनुसार अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करने लग जाते हैं।

यदि श्रेष्ठ पुरुष स्वयं अपने वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार आचरण न करके केवल प्रमाण दे, तो उसका लोगोंपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। उसमें लोगोंका ऐसा भाव हो सकता है कि ये बातें तो केवल कहने-सुननेकी हैं, क्योंकि कहनेवाला स्वयं भी तो अपने कर्तव्य-कर्मका पालन नहीं कर रहा है। ऐसा भाव होनेपर लोगोंमें अपने कर्तव्यके प्रति अश्रद्धा और अरुचि होनेकी सम्भावना रहती है। इसलिये श्रेष्ठ पुरुष स्वयं आचरण करके और प्रमाण देकर—दोनों ही प्रकारसे लोगोंको अपने-अपने कर्तव्य-पालनमें लगाकर उनका हित करता है।

श्रेष्ठ पुरुषके आचरणोंका अनुवर्तन ( अनुसरण ) वे ही लोग करते हैं, जो उसे श्रेष्ठ मानते हैं। अतः वास्तवमें श्रेष्ठ होनेपर भी यदि कोई मनुष्य उसे श्रेष्ठ नहीं मानता, तो वह उस श्रेष्ठ पुरुषके आचरणों और वचनोंके अनुसार आचरण नहीं कर पाता।

वर्तमानमें पारमार्थिक ( भगवत्सम्बन्धी ) भावोंका प्रचार करनेवाले बहुत-से पुरुषोंके होनेपर भी लोगोंपर उन भावोंका प्रभाव बहुत कम दिखायी देता है। इसका कारण यही है कि प्रायः वक्ता जैसा कहता है, वैसा स्वयं पूरा आचरण नहीं करता। स्वयं आचरण करके कही गयी बात गोलीसे भरी बन्दूकके समान है, जो गोलीके

छूटनेपर आवाजके साथ-साथ मार भी करती है। इसके विपरीत आचरणमें लाये बिना कही गयी बात केवल बारूदसे भरी बन्दूकके समान है, जो केवल आवाज करके ही शान्त हो जाती है। हाँ, पारमार्थिक बातें ऐसे ही समाप्त नहीं हो जातीं, अपितु कुछ-न-कुछ प्रभाव डालती ही हैं। भगवच्चर्चा, कथा-कीर्तन आदिका कुछ-न-कुछ प्रभाव सबपर पड़ता ही है। यदि सुननेवालोंमें श्रद्धा है और वे साधन करते हैं अथवा करना चाहते हैं, तो उनपर ( अपनी श्रद्धा और साधनकी रुचिके कारण ) वचनोंका प्रभाव अधिक पड़ता है।

जिसके अन्तःकरणमें कामना, ममता, आसक्ति, स्वार्थ, पक्षपात आदि दोष नहीं हैं और नाशवान् पदार्थोंका महत्त्व या कुछ भी लेनेका भाव नहीं है, ऐसे पुरुषके द्वारा कहे हुए वचनोंका प्रभाव दूसरोंपर स्वतः पड़ता है और वे उसके वचनानुसार स्वयं आचरण करने भी लग जाते हैं।

सम्बन्ध—

*लोक-संग्रहके प्रकरणमें अब भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें अपना उदाहरण देकर कर्तव्य-कर्म करनेपर विशेषरूपसे जोर देते हैं।*

श्लोक—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

भावार्थ—

हे पृथानन्दन! मेरे लिये त्रिलोकीमें कुछ भी करना शेष नहीं है। कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही करनेका भाव उत्पन्न

होता है, जबकि मेरे लिये त्रिलोकीमें प्राप्त होनेयोग्य कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है। ऐसा होते हुए भी मैं लोकसंग्रहके लिये कर्म करता हूँ।

अपने लिये कोई कर्तव्य न होनेपर भी भगवान् केवल दूसरोंके हितके लिये अवतार लेते हैं और साधु पुरुषोंका उद्धार, पापी पुरुषोंका विनाश और धर्मकी संस्थापना करनेके लिये कर्म करते हैं ( गीता ४ । ८ ) । अवतारके अतिरिक्त भगवान्‌की सृष्टिरचना भी जीवमात्रके उद्धारके लिये ही होती है । स्वर्गलोक पुण्य-कर्मोंका फल भुगतानेके लिये है, और चौरासी लाख योनियाँ एवं नरकलोक पाप-कर्मोंका फल भुगतानेके लिये हैं । मनुष्ययोनि पुण्य और पाप—दोनोंसे ऊँचे उठकर अपना कल्याण करनेके लिये है । ऐसा तभी सम्भव है, जब मनुष्य अपने लिये कुछ न करे । वह सम्पूर्ण कर्म—स्थूलशरीरसे होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारणशरीरसे होनेवाली 'स्थिरता' केवल दूसरोंके हितके लिये ही करे, अपने लिये नहीं । कारण कि जिनसे सब कर्म किये जाते हैं, वे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीर संसारके हैं अपने नहीं ।

अन्वय—

पार्थ, मे, त्रिषु, लोकेषु, न, किंचन, कर्तव्यम्, अस्ति, च, न, अवाप्तव्यम्, अनवाप्तम्, कर्मणि, एव, वर्ते ॥ २२ ॥

पद-व्याख्या—

**पार्थ—हे अर्जुन !**

जब अर्जुनके प्रति एकान्तमे कहनेयोग्य कोई रहस्यकी बात कहनी होती है, तब भगवान् अर्जुनको 'पार्थ' नामसे सम्बोधित करते हैं।

**मे त्रिषु लोकेषु न किंचन कर्तव्यम् अस्ति च न अवाप्तव्यम् अनवाप्तम्**—मुझे तीनों लोकोमे न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है।

भगवान् किसी एक लोकमे सीमित नहीं है। इसलिये वे तीनो लोकोमे अपना कोई कर्तव्य न होनेकी बात कह रहे हैं।

भगवान्के लिये त्रिलोकीमे कोई भी कर्तव्य शेष नहीं है, क्योंकि उनके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं है। कुछ-न-कुछ पानेके लिये ही सब ( मनुष्य, पशु, पक्षी आदि ) कर्म करते हैं। भगवान् उपर्युक्त पदोमें बहुत विलक्षण बात कह रहे है कि कुछ भी करना और पाना शेष न होनेपर भी मै कर्म करता हूँ !

कर्मयोगी शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि सम्पूर्ण सामग्रीको ( जो वास्तवमें संसारकी ही है ) ससारकी ही मानता है और उसे संसारकी सेवामे लगाता है। यदि मनुष्य संसारकी वस्तुको संसारकी सेवामे न लगाकर अपने सुख-भोगमें लगाता है तो बहुत बड़ी भूल करता है। संसारकी वस्तुको अपनी मान लेनेसे ही फलकी इच्छा होती है और फल-प्राप्तिके लिये कर्म होता है। इस प्रकार जबतक मनुष्य कुछ पानेकी इच्छासे कर्म करता है, तबतक उसके लिये कर्तव्य अर्थात् 'करना' शेष रहता है।

गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि मनुष्यमात्रका अपने लिये कोई कर्तव्य है ही नहीं। कारण कि प्रापणीय वस्तु ( परमात्मतत्त्व ) नित्यप्राप्त है और स्वयं ( स्वरूप ) भी नित्य है, जबकि कर्म और कर्म-फल अनित्य अर्थात् उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाला है। अनित्य ( कर्म और फल ) का सम्बन्ध नित्य ( स्वयं ) के साथ हो ही कैसे सकता है! कर्मका सम्बन्ध 'पर' ( शरीर और संसार ) से है, 'स्व' से नहीं। कर्म सदैव 'पर' के द्वारा और 'पर' के लिये ही होता है। इसलिये अपने लिये कुछ करना है ही नहीं। जब मनुष्यमात्रके लिये कोई कर्तव्य नहीं है तब भगवान्‌के लिये कोई कर्तव्य हो ही कैसे सकता है!

कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषके लिये भगवान्‌ने इसी अध्यायके सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें कहा है कि उस महापुरुषके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, क्योंकि उसकी रति, तृप्ति और सन्तुष्टि अपने-आपमें ही होती है। इसलिये उसे संसारमें करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा उसका किसी भी प्राणीसे किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसा होनेपर भी वह महापुरुष लोकसंग्रहार्थ कर्म करता है। इसी प्रकार यहाँ भगवान् अपने लिये कहते हैं कि कोई भी कर्तव्य न होने तथा कुछ भी पाना शेष न होनेपर भी मैं लोकसंग्रहार्थ कर्म करता हूँ। तात्पर्य यह कि तत्त्वज्ञ महापुरुषकी भगवान्‌के साथ एकता होती है—'मम साधर्म्यमागताः' ( गीता १४। २ )।

जैसे भगवान् त्रिलोकीमें आदर्श पुरुष हैं (गीता ३ । २३, ४ । ११), वैसे ही संसारमें तत्त्वज्ञ पुरुष भी आदर्श हैं ( गीता ३ । २१ ) ।

**कर्मणि एव वर्ते**—( तो भी मैं लोकसंग्रहके लिये ) कर्म ही करता हूँ ।

'एव' पदसे भगवान्‌का तात्पर्य है कि मैं उत्साह एवं तत्परतासे, आलस्यरहित होकर, सावधानीपूर्वक, साङ्गोपाङ्ग कर्तव्य-कर्मोंको करता हूँ । कर्मोंका न त्याग करता हूँ, न उपेक्षा ।

जैसे इंजनके पहियोंके चलनेसे इंजनसे जुड़े हुए डिब्बे भी चलते रहते हैं, वैसे ही भगवान् और सन्त-महापुरुष ( जिनमें करने और पानेकी इच्छा नहीं है ) इंजनके समान कर्तव्य-कर्म करते हैं, जिससे अन्य मनुष्य भी उन्हींका अनुसरण करते हैं । अन्य मनुष्योंमें करने और पानेकी इच्छा रहती है । ये इच्छाएँ निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेसे ही दूर होती हैं । यदि भगवान् और सन्त-महापुरुष कर्तव्य-कर्म न करें तो अन्य मनुष्य भी कर्तव्य-कर्म नहीं करेंगे, जिससे उनमें प्रमाद-आलस्य आ जायगा और वे अकर्तव्य करने लग जायँगे । फिर उन मनुष्योंकी इच्छाएँ कैसे मिटेंगी । इसलिये सम्पूर्ण मनुष्योंके हितके लिये भगवान् और सन्त-महापुरुषोंके द्वारा स्वाभाविक ही कर्तव्य-कर्म होते हैं ।

भगवान् सदैव कर्तव्यपरायण रहते हैं, कभी कर्तव्यच्युत नहीं होते । अतएव भगवत्परायण साधकको भी कभी कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये । कर्तव्यच्युत होनेसे ही वह भगवत्तत्त्वके अनुभवसे

वञ्चित रहता है । सदैव कर्तव्यपरायण रहनेसे साधकको भगवत्तत्त्वका अनुभव सुगमतापूर्वक हो सकता है ।

श्लोक—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

भावार्थ—

हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्तव्य-कर्म न करूँ तो बहुत हानि हो जाय, क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका ही अनुसरण करते हैं । इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो वे भी कर्तव्य-कर्मकी उपेक्षा करेंगे, जिससे उनका समय तमोगुण ( प्रमाद-आलस्य )में व्यतीत होगा । फलस्वरूप उन्हें नरकों तथा चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति होगी ।

यदि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे और मैं कर्मसंकर, धर्मसंकर, उपासनासंकर, वर्णसंकर, आश्रम-संकर, जातिसंकर आदि संकर-दोषोंको उत्पन्न करनेवाला बन जाऊँगा और इस प्रकार समस्त प्रजाका नाश करनेवाला हो जाऊँगा ।

उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्यको किसी भी अवस्थामें कर्तव्य-कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये । उसे निःस्वार्थभावसे, केवल दूसरोंके हितके लिये, कर्तव्य-बुद्धिसे प्रत्येक परिस्थितिमें सावधानीपूर्वक कर्तव्य-कर्म करते रहना

चाहिये । वास्तवमें मनुष्य कहलाने योग्य वही है, जो भगवान्‌को आदर्श मानकर अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करता है, इसीलिये मनुष्य-शरीर है ।

पिछले ( बाईसवें ) श्लोकमें भगवान्‌ने अन्वय-रीतिसे कर्तव्य-पालनकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया और इन श्लोकोंमें भगवान् व्यतिरेक-रीतिसे कर्तव्य-पालन न करनेसे होनेवाली हानिका प्रतिपादन करते हैं ।

अन्वय—

हि, पार्थ, यदि, जातु, अहम्, अतन्द्रितः, कर्मणि, न, वर्तेयम्, मनुष्याः, सर्वशः, मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते ॥ २३ ॥

चेत्, अहम्, कर्म, न, कुर्याम्, इमे, लोकाः, उत्सीदेयुः, सङ्करस्य, कर्ता, स्याम्, च, इमाः, प्रजाः, उपहन्याम् ॥ २४ ॥

पद-व्याख्या—

हि—क्योंकि ।

पूर्वश्लोकमें आये **'वर्त एव च कर्मणि'**पदोंकी पुष्टिके लिये यहाँ **'हि'** पद आया है । इन पदोंसे भगवान्‌ने यह कहा था कि मैं बहुत सावधानी और तत्परतापूर्वक लोकहितार्थ कर्तव्य-कर्म करता हूँ । अब इस श्लोकमें भगवान् **'हि'** पदसे अपने द्वारा कर्तव्य-कर्म करनेका हेतु बतलाते हैं ।

**पार्थ**—हे पृथानन्दन !

**यदि जातु अहम् अतन्द्रितः कर्मणि न वर्तेयम्**—यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ ( तो बहुत हानि हो जाय ) ।

मैं सावधानीपूर्वक कर्म न करूँ—ऐसा हो ही नहीं सकता, परन्तु 'यदि ऐसा मान लें' कि मैं कर्म न करूँ—इस अर्थमें भगवान्‌ने यहाँ 'यदि जातु' पदोंका प्रयोग किया है।

'अतन्द्रितः' पदका तात्पर्य यह है कि कर्तव्य-कर्म करनेमें आलस्य और प्रमाद नहीं करना चाहिये, अपितु उन्हें बहुत सावधानी और तत्परतासे करना चाहिये। सावधानीपूर्वक कर्तव्य-कर्म न करनेसे मनुष्य आलस्य और प्रमादके वशमें होकर अपना अमूल्य जीवन नष्ट कर देता है।

कर्मोंमें शिथिलता ( आलस्य-प्रमाद ) न लाकर उन्हें सावधानी एवं तत्परतापूर्वक करनेसे ही कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। जैसे वृक्षकी कड़ी टहनी शीघ्र टूट जाती है, पर जो अधूरी टूटनेके कारण लटक रही है, ऐसी शिथिल ( ढीली ) टहनी शीघ्र नहीं टूटती, वैसे ही सावधानी एवं तत्परतापूर्वक कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, पर आलस्य-प्रमादपूर्वक ( शिथिलतापूर्वक ) कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। इसीलिये भगवान्‌ने उन्नीसवें श्लोकमें 'समाचर' पदका तथा इस श्लोकमें 'अतन्द्रितः' पदका प्रयोग किया है।

यदि किसी कर्मकी बार-बार याद आती है, तो यही समझना चाहिये कि कर्म करनेमें कोई त्रुटि ( कामना, आसक्ति, अपूर्णता, आलस्य, प्रमाद, उपेक्षा आदि ) हुई है, जिसके कारण उस कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ है। कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद न होनेके कारण ही किये गये कर्मकी याद आती है।

**मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते**—( क्योंकि ) मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ।

इसी अध्यायके इक्कीसवे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि श्रेष्ठ पुरुषके आचरण और प्रमाणके अनुसार सब मनुष्य उनका अनुसरण करते हैं, और इस श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठ पुरुष तो एक ही लोक ( मनुष्यलोक )में आदर्श पुरुष हैं, पर मैं तीनो ही लोकोमें आदर्श पुरुष हूँ ।

मनुष्यका आदर्श क्या है ? उसे ससारमें कैसे रहना चाहिये ?—यह बतलानेके लिये भगवान् मनुष्यलोकमें अवतरित होते हैं । संसारमें अपने लिये रहना ही नहीं है—यही संसारमे रहनेकी विद्या है । संसार वस्तुतः एक विद्यालय है, जहाँ हमे कामना, ममता, स्वार्थ आदिके त्यागपूर्वक दूसरोके हितके लिये कर्म करना सीखना है और तदनुसार कर्म करके अपना उद्धार करना है । संसारके सभी सम्बन्धी एक-दूसरेकी सेवा ( हित ) करनेके लिये ही हैं । इसलिये पिता, पुत्र, पति, पत्नी, भाई, बहन आदि सबको चाहिये कि वे एक-दूसरेके अधिकारकी रक्षा करते हुए अपने-अपने कर्तव्यका पालन करे और एक-दूसरेके कल्याणकी चेष्टा करें ।

उपर्युक्त पदोसे भगवान् मानो यह कहते हैं कि मेरे मार्गका अनुसरण करनेवाले ही वास्तवमें मनुष्य कहलानेयोग्य हैं । जो मुझे आदर्श न मानकर आलस्य-प्रमादवश कर्तव्य-कर्म नहीं करते

और अधिकार चाहते हैं, वे आकृतिसे मनुष्य होनेपर भी वस्तुतः मनुष्य कहलानेयोग्य नहीं है।

**चेत् अहम् कर्म न कुर्याम्**—यदि मैं कर्म न करूँ (तो)।

यद्यपि ऐसा हो ही नहीं सकता कि मै कर्तव्य-कर्म न करूँ, तथापि यदि ऐसा मान लिया जाय—इस अर्थमें भगवान्‌ने यहाँ 'चेत्' पदका प्रयोग किया है।

भगवान्‌ने तेईसवें श्लोकमें 'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः' पदोंसे कर्मोंमें सावधानी न रखनेसे होनेवाली हानिकी बात कही और अब इस (चौबीसवें) श्लोकमें उपर्युक्त पदोंसे कर्म न करनेसे होनेवाली हानिकी बात कहते है।

इन पदोंसे भगवान्‌का मानो यह तात्पर्य है कि मनुष्यकी कर्म न करनेमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' (गीता २।४७)। इसीलिये भगवान् अपना उदाहरण देते हुए कहते हैं कि मेरे लिये कुछ भी प्राप्तव्य न होनेपर भी मैं कर्म करता हूँ। यदि मे कर्म न करूँ तो बहुत हानि हो जाय।

**इमे लोकाः उत्सीदेयुः**—ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ।

भगवान् कहते हैं कि यदि मै (जिस वर्ण, आश्रम आदिमें मैंने अवतार लिया है, उसके अनुसार) अपने कर्तव्यका पालन न करूँ तो त्रिलोकीमें सम्पूर्ण प्राणी नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ अर्थात् उनका पतन हो जाय। अपने कर्तव्यका त्याग करनेसे मनुष्योंमें तामस भाव आ जाता है, जिससे उनकी अधोगति होती है—'अधो गच्छन्ति तामसाः' (गीता १४।१८)।

भगवान् त्रिलोकीमें आदर्श पुरुष हैं और सम्पूर्ण प्राणी उन्हींके मार्गका अनुसरण करते है। इसलिये यदि भगवान् कर्तव्यका पालन नहीं करेंगे तो त्रिलोकीमें भी कोई अपने कर्तव्यका पालन नहीं करेगा। अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे उनका अपने-आप पतन हो जायगा।

अपने कर्तव्यका पालन किये बिना प्राप्तव्य ( श्रेय ) की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये अपने कर्तव्यका पालन करना प्रत्येक मनुष्यके लिये अत्यावश्यक है।

**संकरस्य कर्ता स्याम्**—( तथा मैं ) संकरताको करनेवाला बनूँ।

परस्परविरुद्ध दो धर्म ( भाव ) एकमें मिल जायँ तो वह 'संकर' कहलाता है।

पहले अध्यायके चालीसवें और इकतालीसवें श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि 'यदि मै युद्ध करूँगा तो कुलका नाश हो जायगा। कुलके नाशसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाता है; धर्मके नष्ट होनेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप फैल जाता है; पापके अधिक बढ़नेपर कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं; और स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है। इस प्रकार अर्जुनका भाव यह था कि युद्ध करनेसे वर्णसंकरता उत्पन्न होगी।* परंतु यहाँ भगवान् उससे विपरीत

* अर्जुनकी दलीलके अनुसार भी यदि विचार किया जाय तो वास्तवमें कर्तव्यका पालन न करना ही वर्णसंकरताका कारण है। युद्धमें कुलका नाश होनेपर स्त्रियोंका दूषित होना उनका कर्तव्यच्युत होना ही है और कर्तव्यच्युत होनेसे ही वर्णसंकरता आती है। यदि स्त्रियोंमें यह

बात कहते हैं कि युद्धरूप कर्तव्यकर्म न करनेसे वर्णसंकरता उत्पन्न होगी। इस विषयमें भगवान् अपना उदाहरण देते हैं कि यदि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ तो कर्म, धर्म, उपासना, वर्ण, आश्रम, जाति आदि सबमें स्वतः संकरता आ जायगी। तात्पर्य यह है कि कर्तव्य-कर्म न करनेसे ही संकरता उत्पन्न होती है। इसलिये यहाँ भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि तू युद्धरूप कर्तव्य-कर्म न करनेसे ही वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाला बनेगा, न कि युद्ध करनेसे ( जैसा कि तू मानता है )।

च—और।

**इमाः प्रजाः उपहन्याम्**—इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।

भगवान् कहते हैं कि यदि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ, तो सब लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे और उनके नष्ट होनेका कारण मैं ही बनूँगा, जबकि ऐसा सम्भव नहीं है।

## विशेष बात—

अर्जुनके मूल प्रश्न ( मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ) का उत्तर भगवान् बाईसवें, तेईसवें और चौबीसवें—तीन श्लोकोंमें अपने उदाहरणसे देते हैं कि मैं तुझे ही कर्ममें लगाता हूँ, ऐसी

भाव रहे कि हमारे पतिने युद्धरूप कर्तव्यका पालन करते हुए अपने प्राणोंका त्याग कर दिया, पर अपने कर्तव्यका त्याग नहीं किया, फिर हम अपने कर्तव्यका त्याग क्यों करें। तो वे कर्तव्यच्युत नहीं होंगी। कर्तव्यच्युत न होनेसे उनका सतीत्व सुरक्षित रहेगा, जिससे वर्णसंकरता आयेगी ही नहीं।

बात नहीं है, अपितु मै स्वयं भी कर्ममें लगा रहता हूँ, जबकि वास्तवमें मेरे लिये त्रिलोकीमें कुछ भी कर्तव्य एवं प्राप्तव्य नहीं है।

भगवान् अर्जुनको मानो इस बातका संकेत करते हैं कि अभी इस अवतारमें तुमने भी स्वीकार किया और मैने भी स्वीकार किया कि तू रथी बने और मै सारथि बनूँ; तो देख, क्षत्रिय होते हुए भी आज मै तेरा सारथि बना हुआ हूँ और इस प्रकार स्वीकार किये हुए अपने कर्तव्यका सावधानी और तत्परतापूर्वक पालन कर रहा हूँ। मेरे इस कर्तव्य-पालनका भी त्रिलोकीपर प्रभाव पडेगा; क्योंकि मैं त्रिलोकीमे आदर्श पुरुष हूँ। समस्त प्राणी मेरे ही मार्गका अनुसरण करते है। इस प्रकार तुम्हें भी अपने कर्तव्य-कर्मकी उपेक्षा न करके मेरी तरह उसका सावधानी एवं तत्परतापूर्वक पालन करना चाहिये।

सम्बन्ध—

*पिछले तीन श्लोकोंमें भगवान्‌ने जैसे अपने लिये कर्म करनेमे सावधानी रखनेका वर्णन किया, वैसे ही अगले दो श्लोकोंमें ज्ञानी महापुरुषके लिये कर्म करनेमें सावधानी रखनेकी प्रेरणा करते हैं।*

श्लोक—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

भावार्थ—

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! कर्म और कर्मफलमें आसक्त हुए

अर्थात् शास्त्र, शास्त्रविहित शुभ-कर्म और उनके फलोंमें श्रद्धा-विश्वास रखनेवाले आसक्तियुक्त पुरुष जिस प्रकार फल-प्राप्तिके लिये लगन, सावधानी एव तत्परतापूर्वक कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त विद्वान्‌को भी लोकसंग्रहके लिये उसी प्रकार ( लगन, सावधानी एवं तत्परता-पूर्वक) कर्म करने चाहिये ।

परमात्मतत्त्वके अनुभवी विद्वान्‌को चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न न करे, अपितु स्वयं सावधानीपूर्वक शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका भलीभाँति आचरण करता हुआ उन अज्ञानी पुरुषोंसे भी वैसे ही कर्म करवाये । वह इस रीतिसे व्यवहार करे, जिससे वे पुरुष अनासक्त होकर कर्म करना तो सीखें, पर कर्मोंके पालनमें शिथिलता न आने दें ।

वर्तमानमें कई पुरुष ज्ञानकी कुछ बातें सीखकर अपनेको ज्ञानी मान बैठते हैं और कर्तव्य-कर्मोंकी निन्दा तथा उपेक्षा करने लगते हैं । इससे उनका भी पतन होता है और उनके देखादेखी दूसरे लोगोंका भी । ऐसे पुरुषोंके लिये ही कहा गया है कि—

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय ।
तुलसी ऐसी आतमा, सहज नरक महँ जाय ॥

अतएव ज्ञानी महापुरुषको चाहिये कि वह सावधानी एवं तत्परतापूर्वक कर्तव्य-कर्म करे, जिससे दूसरे लोग भी उससे कर्तव्य-कर्म करनेकी शिक्षा प्राप्त करें ।

अन्वय—

भारत, कर्मणि, सक्ता, अविद्वांसः, यथा, कुर्वन्ति, असक्तः, विद्वान्, लोकसंग्रहम्, चिकीर्षुः, तथा कुर्यात् ॥ २५ ॥

युक्त, विद्वान्, कर्मसङ्गिनाम्, अज्ञानाम्, बुद्धिभेदम्, न, जनयेत्, सर्वकर्माणि, समाचरन्, जोषयेत् ॥ २६ ॥

पद-व्याख्या—

**भारत**—हे भरतवंशी अर्जुन।

**कर्मणि**—कर्ममें।

यहाँ '**कर्मणि**' पद शास्त्रविहित शुभ-कर्मोंका वाचक है।

**सक्ताः अविद्वांसः यथा कुर्वन्ति**—आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते है।

जिन पुरुषोकी शास्त्र, शास्त्र-पद्धति और शास्त्रविहित शुभकर्मोंपर पूरी श्रद्धा है एवं शास्त्रविहित कर्मोंका फल अवश्य मिलता है—इस बातपर पूरा विश्वास है, जो न तो तत्त्वज्ञ हैं और न दुराचारी है; किन्तु कर्मो, भोगो एव पदार्थोमे आसक्त हैं, ऐसे पुरुषोके लिये यहाँ '**सक्ताः अविद्वांसः**' पद आये हैं। शास्त्रोके ज्ञाता होनेपर भी केवल कामनाके कारण ऐसे पुरुष अविद्वान् ( अज्ञानी ) कहे गये है। ऐसे पुरुष शास्त्रज्ञ तो हैं, पर तत्त्वज्ञ नहीं। ये केवल अपने लिये कर्म करते है, इसीलिये अज्ञानी कहलाते हैं।

ऐसे अविद्वान् पुरुष कर्मोंमें कभी प्रमाद, आलस्य आदि न रखकर सावधानी और तत्परतापूर्वक सङ्गोपाङ्ग विधिसे कर्म करते हैं; क्योकि उनकी ऐसी मान्यता रहती है कि कर्मोंको करनेमें कोई

कमी आ जानेसे उनके फलमें भी कमी आ जायगी। भगवान् उनके इस प्रकार कर्म करनेकी रीतिको आदर्श मानकर सर्वथा अनासक्त विद्वान्के लिये भी इसी विधिसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करनेकी प्रेरणा ( अगले पदोंमें ) करते हैं।

**असक्तः विद्वान्**—अनासक्त विद्वान् ( भी )।

जिसमें कामना, ममता, आसक्ति, वासना, पक्षपात, स्वार्थ आदिका सर्वथा अभाव हो गया है और शरीरादि पदार्थोंके साथ किञ्चिन्मात्र भी लगाव नहीं रहा, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषके लिये यहाँ '**असक्तः विद्वान्**' पद आये हैं। ऐसा महापुरुष दूसरे शरीरोंके समान ही अपने शरीरको जानता है*।

**लोकसंग्रहम् चिकीर्षुः**—लोकसंग्रह करना चाहता हुआ।

बीसवें श्लोकमें '**लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्**' कहकर फिर इक्कीसवें श्लोकमें जिसकी व्याख्या की गयी, उसीको यहाँ '**लोकसंग्रहम् चिकीर्षुः**' पदोंसे कहा गया है।

श्रेष्ठ पुरुष ( अनासक्त विद्वान् ) के सभी आचरण स्वाभाविक ही यज्ञके लिये, मर्यादा सुरक्षित रखनेके लिये होते हैं। जैसे भोगी पुरुषकी भोगोंमें रति होती है अथवा जैसे लोभी पुरुषकी धनमें रति

---

* आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
( गीता ६।३२ )

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

होती है, वैसे ही श्रेष्ठ पुरुषकी प्राणिमात्रके हितमें रति होती है। उसके अन्तःकरणमें 'मै लोकहित करता हूँ'—ऐसा भाव भी नहीं होता, अपितु उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक लोकहित होता है। प्राकृत पदार्थमात्रसे आत्यन्तिक सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण उस ज्ञानी महापुरुषके कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी 'लोक' के अन्तर्गत आते हैं।

दूसरे लोगोको ऐसे ज्ञानी महापुरुष इच्छायुक्त दीखते हैं, पर वास्तवमें उनमें लोकसंग्रहकी भी इच्छा नहीं होती। कारण यह है कि वे संसारसे प्राप्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, पद, अधिकार, धन, योग्यता, सामर्थ्य आदिको साधनावस्थासे ही कभी किञ्चिन्मात्र भी अपने और अपने लिये नहीं मानते, अपितु संसारके और संसारकी सेवाके लिये ही मानते हैं, जो कि वास्तवमें है। वही प्रवाह रहनेके कारण सिद्धावस्थामें भी उनके कहलानेवाले शरीरादि पदार्थ स्वतः-स्वाभाविक, किसी प्रकारकी इच्छाके बिना संसारकी सेवामें लगे रहते है।

**तथा कुर्यात्**—उसी प्रकार ( कर्म ) करे।

इस श्लोकमें '**यथा**' और '**तथा**' पद कर्म करनेके प्रकारके अर्थमे आये हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अज्ञानी ( सकाम ) पुरुष अपने स्वार्थके लिये सावधानी और तत्परतापूर्वक कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी लोकसग्रह अर्थात दूसरोके हितके लिये कर्म करे। ज्ञानी पुरुषको प्राणिमात्रके हितका भाव रखकर सम्पूर्ण लौकिक और वैदिक कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करते रहना चाहिये।

सबका कल्याण कैसे हो ?—इस भावसे कर्तव्य-कर्म करनेपर लोकमें अच्छे भावोंका प्रचार स्वतः होता है।

अज्ञानी पुरुष तो फलकी प्राप्तिके लिये सावधानी और तत्परतासे विधिपूर्वक कर्तव्य-कर्म करता है, पर ज्ञानी पुरुषकी फलमें आसक्ति नहीं होती और उसके लिये कोई कर्तव्य भी नहीं होता। अतएव उसके द्वारा कर्मकी उपेक्षा होना सम्भव है। इसीलिये भगवान् कर्म करनेके विषयमें ज्ञानी पुरुषको भी अज्ञानी ( सकाम ) पुरुषकी ही भाँति कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

इक्कीसवें श्लोकमें तो विद्वान् ( ज्ञानी पुरुष ) को 'आदर्श' बतलाया गया था, पर यहाँ उसे 'अनुयायी' बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि विद्वान् चाहे आदर्श हो अथवा अनुयायी, उसके द्वारा स्वतः लोकसंग्रह होता है। भगवान् श्रीराम त्रिलोकीके आदर्श होते हुए भी ऐसा ही आचरण करते हैं। वे प्रजाको उपदेश भी देते हैं और पिताजीकी आज्ञाका पालन करके वनवास भी जाते हैं। दोनों ही परिस्थितियोंमें उनके द्वारा लोकसंग्रह होता है; क्योंकि उनका कर्मोंके करने अथवा न करनेसे अपना कोई प्रयोजन नहीं था।

जब विद्वान् अनासक्त होकर कर्तव्य-कर्म करता है, तब आसक्तियुक्त चित्तवाले पुरुषोंके अन्तःकरणपर भी विद्वान्‌के कर्मोंका गुप्त प्रभाव पड़ता है, चाहे उन पुरुषोंको 'यह महापुरुष अनासक्त-भावसे कर्म कर रहा है'—ऐसा प्रत्यक्ष दीखे या न दीखे। मनुष्यके निष्काम-भावोंका दूसरोंपर स्वाभाविक प्रभाव पड़ता है—यह सिद्धान्त है। इसलिये अनासक्त विद्वान्‌के भावों, आचरणोंका प्रभाव मनुष्योंपर ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी आदिपर भी पड़ता है।

## विशेष बात—

मनुष्य जबतक निष्कामभावपूर्वक विहित-कर्म नहीं करता, तबतक उसका जन्म-मरण नहीं मिट सकता। वह जबतक अपने लिये कर्म करता है, तबतक वह कृतकृत्य नहीं होता अर्थात् उसका 'करना' समाप्त नहीं होता। कारण यह है कि 'स्वयं' नित्य रहनेवाला है और कर्म एवं उसका फल नष्ट होनेवाला है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यके लिये स्वार्थ-त्यागपूर्वक ( अपने लिये न करके केवल दूसरोंके हितके लिये ) कर्तव्य-कर्म करनेकी अत्यधिक आवश्यकता है।

सांसारिक पदार्थोंको मूल्यवान् समझनेके कारण ही कर्मयोग ( निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म )के पालनमें कठिनाई प्रतीत होती है। हमें दूसरोंसे कुछ न चाहकर केवल दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करने हैं—इस बातको यदि स्वीकार कर ले तो आज ही कर्मयोगका पालन सुगम हो जाय।

वास्तवमें महत्ता पदार्थकी नहीं, अपितु आचरण ( उसके उपयोग )की ही होती है। आचरणकी महत्ता भी तब है, जब अन्तःकरणमें पदार्थकी महत्ता न हो। कोई भी पदार्थ व्यक्तिगत नहीं है; केवल उपयोगके लिये ही व्यक्तिगत है। पदार्थको व्यक्तिगत माननेसे ही परहितके लिये उसका त्याग कठिन प्रतीत होता है। कोई भी पदार्थ या क्रिया बन्धनकारक नहीं, उनका सम्बन्ध ही बन्धनकारक है।

विद्वान् पुरुषोंसे भी लोकसंग्रहके लिये सब कर्म होते हैं। परंतु ऐसा होते हुए भी उसमें 'मैं लोकसंग्रह कर रहा हूँ'—यह अभिमान नहीं रहता। कारण यह है कि शरीर, इन्द्रियाँ,

मन, बुद्धि, विद्या, योग्यता, पद आदि सब संसारके हैं और संसारसे मिले हैं। संसारसे मिली सामग्रीको संसारकी ही सेवामें लगा देना ईमानदारी है। उस सामग्रीको बहुत सच्चाईसे, ईमानदारीसे संसारको अर्पित कर देना है। यह अर्पण करना कोई बड़ा काम नहीं है। जैसे किसीने हमारे पास धरोहररूपसे रुपये रखे, और कुछ समय बाद उसके माँगनेपर हमने उसके रुपये उसे वापस कर दिये, तो कौन-सा बड़ा काम किया ? हाँ, हमारा दायित्व समाप्त हो गया, हम ऋणमुक्त हो गये। इसी प्रकार संसारकी वस्तु संसारको अर्पित कर देनेसे हमारा दायित्व समाप्त हो जाता है, हम ऋणमुक्त हो जाते हैं—जन्म-मरणके बन्धनसे सदाके लिये छूट जाते हैं। इसलिये सांसारिक पदार्थोंको संसारकी सेवामें लगाकर कोई दान-पुण्य नहीं करना है, अपितु उन पदार्थोंसे अपना पिण्ड छुड़ाना है।

युक्तः विद्वान्—तत्त्वज्ञ महापुरुष।

पिछले ( पचीसवें ) श्लोकमें 'असक्तः विद्वान्' पदोंसे जिसका वर्णन हुआ है, उसी अनासक्त विद्वान्‌को यहाँ 'युक्तः विद्वान्' पदोंसे कहा गया है।

जिसके अन्तःकरणमें स्वतः-स्वाभाविक समता है, जिसकी स्थिति निर्विकार है, जिसकी समस्त इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण समान हैं, ऐसा तत्त्वज्ञ महापुरुष ही 'युक्तः विद्वान्' कहलाता है।*

---

* ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ( गीता ६। ८ )

**कर्मसङ्गिनाम् अज्ञानाम्**—कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानी पुरुषोंकी।

पिछले ( पचीसवें ) श्लोकमें '**सक्ताः अविद्वांसः**' पदोंसे जिनका वर्णन हुआ है, उन्हीं शास्त्रविहित शुभ-कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानी पुरुषोंको यहाँ '**कर्मसङ्गिनाम् अज्ञानाम्**' पदोंसे कहा गया है।

शास्त्रविहित कर्मोंको अपने लिये ( सुख-भोग, मान, बड़ाई आदिकी प्राप्तिके लिये ) करनेके कारण इन पुरुषोंको 'कर्मसङ्गी' और 'अज्ञानी' कहा गया है।

**बुद्धिभेदम् न जनयेत्**—बुद्धिमें भ्रम ( कर्मोंके प्रति अश्रद्धा ) उत्पन्न न करे।

श्रेष्ठ पुरुषपर विशेष जिम्मेदारी होती है, क्योंकि दूसरे लोग स्वाभाविक ही उसका अनुसरण करते हैं। इसलिये भगवान् उपर्युक्त पदोंसे विद्वान्‌को आज्ञा देते हैं कि उसे ऐसा कोई आचरण नहीं करना चाहिये और ऐसी कोई बात नहीं कहनी चाहिये, जिससे अज्ञानी ( कामनायुक्त ) पुरुषोंका वर्तमान स्थितिसे पतन हो जाय। अज्ञानी पुरुष अभी जिस स्थितिमें हैं, उस स्थितिसे उन्हें विचलित करना ( नीचे गिराना ) ही उनमें 'बुद्धिभेद' उत्पन्न करना है। अतएव विद्वान्‌को सबके हितका भाव रखते हुए अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार शास्त्रविहित शुभ-कर्मोंका आचरण करते रहना चाहिये, जिससे दूसरे पुरुषोंको भी अनासक्तभावसे कर्तव्य-कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती रहे। समाज एवं परिवारके मुख्य

व्यक्तियोंपर भी यही बात लागू होती है। उन्हें भी सावधानीपूर्वक अपने कर्तव्य-कर्मोंका भलीभाँति आचरण करते रहना चाहिये, जिससे समाज एवं परिवारपर अच्छा प्रभाव पड़े।

बुद्धिभेद उत्पन्न करनेके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

१—'कर्मोंमें क्या रखा है? कर्मोंसे तो जीव बँधता है, कर्म निकृष्ट हैं; कर्म छोड़कर ज्ञानमें लगना चाहिये' इत्यादि उपदेश देना अथवा इस प्रकारके अपने आचरणों और वचनोंसे दूसरोंमें कर्तव्य-कर्मोंके प्रति अश्रद्धा-अविश्वास उत्पन्न करना।

२—'जहाँ देखो, वहीं स्वार्थ है; स्वार्थके बिना कोई रह नहीं सकता; सभी स्वार्थके लिये कर्म करते हैं; मनुष्य कोई कर्म करे तो फलकी इच्छा रहती ही है, इत्यादि उपदेश देना।

३—'फलकी इच्छा रखकर (अपने लिये) कर्म करनेसे (फल भोगनेके लिये) बारंबार जन्म लेना पड़ता है' इत्यादि उपदेश देना। इस प्रकारके उपदेशोंसे कामनावाले पुरुषोंका कर्मफलपर विश्वास नहीं रहता। फलस्वरूप उनकी (फलमें) आसक्ति तो छूटती नहीं, शुभ कर्म अवश्य छूट जाते हैं। बन्धनका कारण आसक्ति ही है, कर्म नहीं।

४—'नाम-जप करते हुए भगवान्‌में मन नहीं लगा तो नाम-जपसे कोई लाभ नहीं' इत्यादि उपदेश देना।

इस प्रकार लोगोंमें बुद्धि-भेद उत्पन्न न करके तत्त्वज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार स्वयं कर्तव्य-कर्म

करे और दूसरोसे भी वैसे ही करवाये । उसे चाहिये कि वह अपने आचरणो और वचनोके द्वारा अज्ञानियोकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करते हुए उन्हे वर्तमान स्थितिसे क्रमशः ऊँचे उठाये । जिन शास्त्रविहित शुभ-कर्मोको अज्ञानी पुरुष अभी कर रहे हैं, उनकी वह विशेषरूपसे प्रशसा करे और उनके कर्मोंमें होनेवाली त्रुटियोसे उन्हें अवगत कराये, जिससे वे उन त्रुटियोको दूर करके साङ्गोपाङ्ग विधिसे कर्म कर सके । इसके साथ ही ज्ञानी पुरुष उन्हे यह उपदेश दे कि यज्ञ, दान, पूजा, पाठ आदि शुभ-कर्म करना तो बहुत अच्छा है, पर उन कर्मोमे फलकी इच्छा रखना उचित नहीं, क्योकि हीरेको कंकड-पत्थरोके बदले बेचना बुद्धिमत्ता नहीं है । अतएव सकामभावको त्यागकर शुभ-कर्म करनेसे बहुत शीघ्र लाभ होता है । इस प्रकार सकामभावसे निष्कामभावकी ओर जाना बुद्धिभेद नहीं है, अपितु वास्तविकता है ।

प्रायः लोग कह दिया करते है कि नाम-जप करते समय भगवान्में मन नहीं लगा तो नाम-जप करना व्यर्थ है । परन्तु तत्त्वज्ञ पुरुषको ऐसा न कहकर यह उपदेश देना चाहिये कि नाम-जप कभी व्यर्थ हो ही नहीं सकता, क्योंकि भगवान्के प्रति कुछ-न-कुछ भाव रहनेसे ही नाम-जप होता है । भावके बिना नाम-जपमें प्रवृत्ति ही नहीं होती । अतः नाम-जपका किसी भी अवस्थामे त्याग नहीं करना चाहिये । जो यह कहा गया है कि **'मनुवॉ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं'**, इसका भी यही अर्थ है कि मन न लगनेसे यह 'सुमिरन' ( स्मरण ) नहीं

है, 'जप' तो है ही। हाँ, मन लगाकर ध्यानपूर्वक नाम-जप करनेसे बहुत शीघ्र लाभ होता है।

कोई भी मनुष्य सर्वथा गुण-रहित नहीं होता। उसमें कुछ-न-कुछ गुण रहते ही हैं। इसलिये तत्त्वज्ञ पुरुषको चाहिये कि यदि किसी व्यक्तिको ( उसकी उन्नतिके लिये ) कोई शिक्षा देनी हो, कोई बात समझानी हो तो उस व्यक्तिकी निन्दा या अपमान न करके उसके गुणोंकी प्रशंसा करे। गुणोकी प्रशंसा करते हुए आदरपूर्वक उसे जो शिक्षा दी जायगी, उस शिक्षाका उसपर विशेष प्रभाव पडेगा। समाज एवं परिवारके मुख्य व्यक्तियोको भी इसी रीतिसे दूसरोको शिक्षा देनी चाहिये।

**सर्वकर्माणि समाचरन् जोषयेत्**—( अपितु स्वयं परिस्थितिके अनुसार प्राप्त ) समस्त कर्तव्य-कर्मोंको सम्यक् प्रकारसे करता हुआ ( उनसे भी वैसे ही ) करवाये।

इन पदोंसे भगवान् विद्वान्‌को दो आज्ञाएँ देते हैं—( १ ) स्वयं सावधानीपूर्वक शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंको भलीभाँति करे और ( २ ) कर्मोंमें आसक्त अज्ञानी पुरुषोंसे भी वैसे ही कर्म करवाये।

लोगोंको दिखानेके लिये कर्म करना 'दम्भ' है, जो पतन करनेवाली आसुरी-सम्पत्तिका लक्षण है ( गीता १६। ४ )। इसलिये भगवान् लोगोंको दिखानेके लिये नहीं, अपितु लोकसंग्रहके लिये ही कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

तत्त्वज्ञ पुरुषको चाहिये कि कर्म करनेसे अपना कोई प्रयोजन न रहनेपर भी वह समस्त कर्तव्य-कर्मोंको भलीभाँति करता रहे, जिससे कर्मोंमें आसक्त पुरुषोंकी आसक्ति-रहित कर्मोंके प्रति महत्त्वबुद्धि जाग्रत् हो और वे भी वैसे ही कर्म करने लगें। तात्पर्य यह है कि उस महापुरुषके आसक्तिरहित आचरणोंको देखकर अन्य पुरुष भी वैसा ही आचरण करनेकी चेष्टा करने लगेंगे।

इस प्रकार ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह कर्मोंमें आसक्त पुरुषोंको आदरपूर्वक समझाकर उनसे निषिद्ध-कर्मोंका स्वरूपसे ( सर्वथा ) त्याग करवाये, और विहित-कर्मोंमेंसे सकाम-भावका त्याग करनेकी प्रेरणा करे।

सम्बन्ध—

*अब भगवान् इसी अध्यायके पचीसवें श्लोकमें वर्णित विद्वान् और अविद्वान् पुरुषोंका विवेचन अगले तीन श्लोकोंमें करते हैं।*

श्लोक—

**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।**
**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥**

भावार्थ—

सत्त्व, रज और तम—तीनों प्रकृतिके गुण हैं। इन्हीं तीनों गुणोंके कार्य होनेसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी प्रकृतिके गुण कहे जाते हैं। सम्पूर्ण क्रियाएँ सब प्रकारसे इन गुणों (शरीरादि) के द्वारा ही की जाती हैं।

यद्यपि सम्पूर्ण क्रियाएँ सब प्रकारसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि प्रकृतिके गुणोंके द्वारा ही की जाती हैं, तथापि इन शरीरादिको 'स्वयं' ( अपना स्वरूप ) मान लेनेके कारण अविद्वान् ( अज्ञानी ) पुरुष उनसे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है। स्वरूपसे अकर्ता होनेपर भी अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला पुरुष केवल मान्यतासे अपनेमें कर्तापनका आरोप कर लेता है। यह 'माना' हुआ कर्तापन 'न मानने' से ( विवेकपूर्वक तत्त्वसे समझनेपर ) सुगमतापूर्वक मिटाया जा सकता है।

जिस समष्टि शक्तिसे संसारकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उसी शक्तिसे व्यष्टि शरीरकी भी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं। परंतु मनुष्य कुछ क्रियाओंको ( जैसे—शरीरका बढ़ना, भोजनका पचना, नाड़ियोंमें रक्तका संचालन, श्वासोंका आवागमन आदिको ) तो स्वतः ( समष्टि शक्तिसे ) होनेवाली क्रियाएँ मान लेता है, पर कुछ क्रियाओंको ( जैसे—देखना, सुनना, बोलना, खाना-पीना, पढ़ना, व्यापार करना, व्याख्यान देना आदिको ) अपने द्वारा की जानेवाली क्रियाएँ मान लेता है। यही उसकी भूल है।

अन्वय—

कर्माणि, सर्वशः, प्रकृतेः, गुणैः, क्रियमाणानि, अहंकारविमूढात्मा, अहम्, कर्ता, इति, मन्यते ॥ २७ ॥

पद-व्याख्या—

**कर्माणि सर्वशः प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानि**—सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं।

जिस समष्टि शक्तिसे शरीर, वृक्ष आदि उत्पन्न होते और बढ़ते-घटते हैं, गङ्गा आदि नदियाँ प्रवाहित होती हैं, मकान आदि पदार्थोंमें परिवर्तन होता है, उसी समष्टि शक्तिसे मनुष्यकी देखना, सुनना, खाना-पीना आदि सब क्रियाएँ होती हैं। परंतु मनुष्य अहंकारसे मोहित होकर, अज्ञानवश एक ही समष्टि शक्तिसे होनेवाली क्रियाओंके दो विभाग कर लेता है—एक तो स्वतः होनेवाली क्रियाएँ जैसे—शरीरका बनना, भोजनका पचना इत्यादि; और दूसरी, ज्ञान-पूर्वक होनेवाली क्रियाएँ; जैसे—देखना, बोलना, भोजन करना इत्यादि।

प्रकृतिसे उत्पन्न गुणों ( सत्त्व, रज और तम ) का कार्य होनेसे बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके शब्दादि पाँच विषय—ये सब भी प्रकृतिके गुण कहे जाते हैं। उपर्युक्त पदोंमें भगवान् स्पष्ट करते हैं कि सम्पूर्ण क्रियाएँ ( चाहे समष्टिकी हो या व्यष्टिकी ) प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही की जाती हैं, स्वरूपके द्वारा नहीं।

**अहंकारविमूढात्मा**—अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी ( अविद्वान् पुरुष )।

'अहंकार' अन्तःकरणकी एक वृत्ति है। 'स्वयं' ( स्वरूप ) उस वृत्तिका ज्ञाता है। परंतु भूलसे 'स्वयं' को उस वृत्तिसे मिलाने अर्थात् उस वृत्तिको ही अपना स्वरूप मान लेनेसे यह मनुष्य विमूढात्मा कहा जाता है।

जैसे शरीर 'इदम्' ( यह ) है, वैसे ही अहंकार भी 'इदम्' ( यह ) है। 'इदम्' ( यह ) कभी 'अहम्' ( मैं ) नहीं हो

सकता—यह सिद्धान्त है। जब मनुष्य भूलसे 'इदम्' को 'अहम्' अर्थात् 'यह' को 'मैं' मान लेता है, तब वह 'अहंकारविमूढात्मा' कहलाता है। यह माना हुआ अहंकार उद्योग करनेसे नहीं मिटता; क्योंकि उद्योग करनेमें भी अहंकार रहता है। माना हुआ अहंकार मिटता है—अस्वीकृतिसे अर्थात् 'न मानने' से।

## विशेष बात—

'अहम्' दो प्रकारका होता है—

(१) वास्तविक (आधाररूप) 'अहम्'*; जैसे—'मैं हूँ' (अपनी सत्तामात्र)।

(२) अवास्तविक (माना हुआ) 'अहम्', जैसे—'मैं शरीर हूँ'।

'वास्तविक अहम्' स्वाभाविक एवं नित्य और 'अवास्तविक अहम्' अस्वाभाविक एवं अनित्य होता है। अतएव 'वास्तविक अहम्' विस्मृत तो हो सकता है, पर मिट नहीं सकता; और 'अवास्तविक अहम्' प्रतीत तो हो सकता है, पर टिक नहीं सकता। मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह 'वास्तविक अहम्' (अपने स्वरूप) को विस्मृत करके 'अवास्तविक अहम्' (मैं शरीर हूँ) को ही सत्य मान लेता है।

अहम् कर्ता इति मन्यते—मैं कर्ता हूँ—ऐसा मानता है।

---

* यहाँ केवल समझनेकी दृष्टिसे 'वास्तविक अहम्' नाम दिया है। वास्तवमें यह 'अहम्' नहीं, अपितु वह आधार है, जिससे 'अहम्' उत्पन्न होता है।

यद्यपि सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिजन्य गुणोंके द्वारा ही किये जाते हैं, तथापि अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य कुछ कर्मोंका कर्त्ता अपनेको मान लेता है। कारण कि वह अहंकारको ही अपना स्वरूप मान बैठता है। अहंकारके कारण ही मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिमें 'मैं'पन कर लेता है और उन ( शरीरादि ) की क्रियाओंका कर्त्ता अपनेको मान लेता है। यह विपरीत मान्यता मनुष्यने स्वयं की है, इसलिये इसे मिटा भी वही सकता है। इसे मिटानेका उपाय है—इसे विवेक-विचारपूर्वक न मानना; क्योंकि मान्यतासे ही मान्यता कटती है (गीता ५। ८-९)।

एक 'करना' होता है, और एक 'न करना'। जैसे 'करना' क्रिया है, वैसे ही 'न करना' भी क्रिया है। सोना, जागना, बैठना, चलना, समाधिस्थ होना आदि सब क्रियाएँ हैं। क्रियामात्र प्रकृतिमें होती है। 'स्वयं' ( चेतन-स्वरूप ) में करना और न करना—दोनों ही नहीं है; क्योंकि वह इन दोनोंसे परे अक्रिय-तत्त्व और प्रकाशक है। यदि 'स्वयं'में भी क्रिया होती, तो वह क्रिया ( शरीरादिमें परिवर्तनरूप क्रियाओं ) का ज्ञाता कैसे होता? करना और न करना वहाँ होता है, जहाँ 'अहम्' ( मैं ) रहता है। 'अहम्' न रहनेपर क्रियाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। करना और न करना—दोनों जिससे प्रकाशित होते हैं, उस अक्रिय-तत्त्व ( अपने स्वरूप ) में मनुष्यमात्रकी स्वाभाविक स्थिति है। परन्तु 'अहम्'के कारण मनुष्य प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाओंमें अपना सम्बन्ध मान लेता है। प्रकृति ( जड ) में माना हुआ सम्बन्ध ही 'अहम्' कहलाता है।

## विशेष बात—

जिस प्रकार समुद्रका ही अंश होनेके कारण लहर और समुद्रमें जातीय एकता है अर्थात् जिस जातिकी लहर है, उसी जातिका समुद्र है, उसी प्रकार संसारका ही अंश होनेके कारण शरीरकी संसारसे जातीय एकता है। मनुष्य संसारको तो 'मै' नहीं मानता, पर भूलसे शरीरको 'मै' मान लेता है।

जिस प्रकार समुद्रके बिना लहरका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार संसारके बिना शरीरका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। परन्तु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला मनुष्य जब शरीरको 'मै' ( अपना स्वरूप ) मान लेता है, तब उसमें अनेक प्रकारकी कामनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं, जैसे—मुझे स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ मिल जायँ, लोग मुझे अच्छा समझें, मेरा आदर-सम्मान करें, मेरे अनुकूल चलें इत्यादि। उसका इस ओर ध्यान ही नहीं जाता कि शरीरको अपना स्वरूप मानकर मैं पहलेसे ही बँधा बैठा हूँ, अब कामनाएँ करके और बन्धन बढ़ा रहा हूँ—अपनेको और विपत्तिमें डाल रहा हूँ।

साधनकालमें 'मैं (स्वयं) प्रकृतिजन्य गुणोंसे सर्वथा अतीत हूँ'—ऐसा अनुभव न होनेपर भी जब साधक 'मैं प्रकृतिजन्य गुणोंसे सर्वथा अतीत हूँ'—ऐसा मान लेता है, तब उसे वैसा ही अनुभव हो जाता है। इस प्रकार जैसे वह गलत मान्यता करके बँधा था, वैसे ही सही मान्यता करके मुक्त हो जाता है; क्योंकि मानी हुई बात न माननेसे मिट जाती है—यह सिद्धान्त है। इसी

बातको भगवान्‌ने पाँचवे अध्यायके आठवें श्लोकमें—'**नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' पदोंमें 'मन्येत' पदसे प्रकट किया है कि 'मै कर्ता हूँ'—इस अवास्तविक मान्यताको मिटानेके लिये 'मै कुछ भी नहीं करता'—ऐसी वास्तविक मान्यता करनी होगी।

'मै शरीर हूँ; मैं कर्ता हूँ' आदि असत्य मान्यताएँ भी इतनी दृढ हो जाती है कि उन्हे छोडना कठिन प्रतीत होता है, फिर 'मै अशरीर हूँ; मै अकर्ता हूँ' आदि सत्य मान्यताएँ दृढ कैसे नहीं होगी? और एक बार दृढ हो जानेपर फिर कैसे छूटेंगी?

श्लोक—

**तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।**
**गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥**

भावार्थ—

हे महाबाहो! गुण-विभाग और कर्म-विभागका तत्त्वसे अनुभव करनेवाला ज्ञानी पुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोमें बरत रहे है'—ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।

प्रकृति एवं प्रकृतिजन्य गुणोसे अपनी एकता मानकर ही अज्ञानी पुरुष प्रकृतिके गुणोमें आसक्त होता है। परन्तु ज्ञानी पुरुष गुण (पदार्थ) और कर्म (क्रिया) के विभागको भलीभाँति जानकर उनमें आसक्त नहीं होता। कारण यह कि वास्तवमें इनके साथ अपना सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। इस वास्तविकताको जान लेनेपर ज्ञानी पुरुषमें कर्तृत्वाभिमान

नहीं रहता। वह स्वरूपसे कर्मोंका त्याग नहीं करता, अपितु जिनके द्वारा कर्म होते हैं, उन करणों ( शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण ) और उपकरणों ( कर्म करनेमें उपयोगी सामग्री ) से अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता। करण-उपकरणोंसे माने हुए सम्बन्धका त्याग ही वास्तविक त्याग है।

अन्वय—

तु, महाबाहो, गुणकर्मविभागयोः, तत्त्ववित्, गुणाः, गुणेषु, वर्तन्ते, इति, मत्वा, न, सज्जते ॥ २८ ॥

पद-व्याख्या—

तु—परन्तु।

पिछले ( सत्ताईसवें ) श्लोकमें वर्णित 'अहंकारविमूढात्मा' ( अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाले पुरुष ) की अपेक्षा तत्त्वज्ञ महापुरुषको सर्वथा भिन्न और विलक्षण बतलानेके लिये यहाँ 'तु' पदका प्रयोग हुआ है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञ महापुरुष प्रकृतिके गुणोंसे सर्वथा असम्बद्ध, निर्लिप्त होता है।

**महाबाहो**—हे महाबाहो!

**गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित्**—गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिजन्य हैं। इन तीनों गुणोंका कार्य होनेसे सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। अतः शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणी, पदार्थ आदि सब गुणमय ही हैं। यही 'गुण-विभाग' कहलाता है। इन ( शरीरादि ) से होनेवाली

क्रिया 'कर्मविभाग' कहलाती है। अज्ञानी पुरुष जब इन गुण-विभाग और कर्म-विभागसे अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बँध जाता है। शास्त्रीय दृष्टिसे तो इस बन्धनका मुख्य कारण 'अज्ञान' है, पर साधककी दृष्टिसे 'राग' ही मुख्य कारण है। राग 'अविवेक' से होता है। विवेक जाग्रत् होनेपर राग नष्ट हो जाता है। यह विवेक मनुष्यमे विशेषरूपसे है। आवश्यकता केवल इस विवेकको महत्त्व देकर जाग्रत् करनेकी है। अतएव साधकको ( विवेक जाग्रत् करके ) विशेषरूपसे रागको ही मिटाना चाहिये।

गुण और कर्म अर्थात् पदार्थ और क्रियाएँ निरन्तर परिवर्तन-शील हैं। पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं और क्रियाएँ आरम्भ और समाप्त होनेवाली। ऐसा ठीक-ठीक अनुभव करना ही गुण और कर्म-विभागको तत्त्वसे जानना है। चेतन ( स्वरूप ) मे कभी कोई क्रिया नहीं होती। वह सदा निर्लिप्त, निर्विकार रहता है अर्थात् उसका किसी भी प्राकृत पदार्थ और क्रियासे सम्बन्ध नहीं होता। ऐसा ठीक-ठीक अनुभव करना ही चेतनको तत्त्वसे जानना है। इस तत्त्वका अनुभव होनेपर अविवेक मिट जाता है।

तत्त्वको जाननेकी इच्छा रखनेवाला साधक भी यदि गुण ( पदार्थ ) और कर्म ( क्रिया ) से अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता, तो वह भी गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जान लेता है। चाहे गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाने, चाहे 'स्वय' ( चेतन-स्वरूप ) को तत्त्वसे जाने, दोनोका परिणाम एक ही होगा।

## गुण-कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेके उपाय—

१—शरीरमें रहते हुए भी चेतन-तत्त्व ( स्वरूप ) सर्वथा अक्रिय और निर्लिप्त रहता है—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** ( गीता १३ । ३१ ) । प्रकृतिका कार्य ( शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि ) **'इदम्'** ( यह ) कहा जाता है । **'इदम्'** ( यह ) कभी **'अहम्'** ( मैं ) नहीं होता । जब 'यह' ( शरीरादि ) 'मैं' नहीं है, तब 'यह' में होनेवाली क्रिया 'मेरी' कैसे हुई ? तात्पर्य यह कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब प्रकृतिके कार्य हैं और 'स्वयं' इनसे सर्वथा असम्बद्ध, निर्लिप्त है । अतः इनमें होनेवाली क्रियाओंका कर्ता 'स्वयं' कैसे हो सकता है ? इस प्रकार अपनेको पदार्थ एवं क्रियाओंसे अलग अनुभव करनेवाला बन्धनमें नहीं पड़ता । सब अवस्थाओंमें **'नैव किञ्चित्करोमीति'** ( गीता ५ । ८ ) 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा अनुभव करना ही अपनेको क्रियाओंसे अलग जानना अर्थात् अनुभव करना है ।

२—देखना-सुनना, खाना-पीना आदि सब 'क्रियाएँ' हैं और देखने-सुनने आदिके विषय, खाने-पीनेकी सामग्री आदि सब पदार्थ हैं । इन क्रियाओं और पदार्थोंको हम इन्द्रियों ( आँख, कान, मुँह आदि ) से जानते हैं । इन्द्रियोंको 'मन'से, मनको 'बुद्धि'से और बुद्धिको माने हुए 'अहम्' ( मैं-पन ) से जानते हैं । यह 'अहम्' भी एक सामान्य प्रकाश ( चेतन ) से प्रकाशित होता है ।

वह सामान्य प्रकाश ही सबका ज्ञाता, सबका प्रकाशक और सबका आधार है।*

इनमें बुद्धितकका जानना तो सरलतापूर्वक समझमें आ जाता है, पर बुद्धिसे परे 'अहम्' अर्थात् 'मै हूँ' को कैसे जाने? गाढ निद्रामे यद्यपि बुद्धि अविद्यामें लीन हो जाती है, फिर भी मनुष्य जगनेपर कहता है कि 'मैं बहुत सुखसे सोया'। इस प्रकार जगनेके बाद 'मैं हूँ' का अनुभव सबको होता है। इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिकालमें भी अपनी सत्ता थी। यदि ऐसा न होता तो 'मै बहुत सुखसे सोया, मुझे कुछ भी पता नहीं'—ऐसी स्मृति या ज्ञान नहीं होता। स्मृति अनुभवजन्य होती है।† अतएव सबको प्रत्येक अवस्थामें अपनी सत्ताका अखण्ड अनुभव होता है। किसी भी अवस्थामें अपने अभावका ( 'मैं नहीं हूँ'—इसका ) अनुभव नहीं होता। जिन्होने माने हुए 'अहम्' ( मैं-पन )से भी सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूप ( 'है' )का बोध कर लिया है, वे 'तत्त्ववित्' कहलाते हैं।

---

* रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद् दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥
( दृग्दृश्यविवेक १ )

'सर्वप्रथम नेत्र द्रष्टा है और रूप दृश्य है। फिर मन द्रष्टा है और नेत्रादि इन्द्रियाँ दृश्य है। फिर बुद्धि द्रष्टा है और मन दृश्य है। अन्तमे बुद्धिकी वृत्तियोंका भी जो द्रष्टा है, वह साक्षी ( स्वयंप्रकाश-स्वरूप ) किसीका भी दृश्य नही है।'

† अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। ( योगदर्शन १। ११ )

अपरिवर्तनशील परमात्मतत्त्वके साथ हमारा स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है। परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ हमारा सम्बन्ध वस्तुतः है नहीं, केवल माना हुआ है। प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धको यदि विचारके द्वारा मिटाते हैं तो उसे 'ज्ञानयोग' कहते हैं; और यदि वही सम्बन्ध परहितार्थ कर्म करते हुए मिटाते हैं तो उसे 'कर्मयोग' कहते हैं। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही 'योग' ( परमात्मासे नित्य-सम्बन्धका अनुभव ) होता है, अन्यथा केवल 'ज्ञान' और 'कर्म' ही होता है। अतः प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक परमात्मासे अपने नित्य-सम्बन्धको पहचाननेवाला ही 'तत्त्ववित्' है।

**गुणाः गुणेषु वर्तन्ते**—सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं।

प्रकृतिजन्य गुणोंसे उत्पन्न होनेके कारण शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी 'गुण' ही कहलाते हैं और इन्हींसे सम्पूर्ण कर्म होते हैं। अविवेकके कारण अज्ञानी पुरुष इन गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मानकर इनसे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है।* परन्तु 'स्वयं' ( सामान्य प्रकाश—चेतन )में अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव होनेपर 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव आ ही नहीं सकता।

रेलगाडीका इंजन चलता है अर्थात् उसमें क्रिया होती है; परन्तु खींचनेकी शक्ति इंजन और चालकके मिलनेपर है। वास्तवमें

* उदाहरणार्थ—वाणी 'पदार्थ' है, बोलनेकी प्रवृत्ति 'क्रिया' है और बोलना समष्टि शक्तिसे हो रहा है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, परन्तु मनुष्य अज्ञानवश पदार्थ और क्रियाको अपना मानकर स्वयं 'कर्ता' बन जाता है।

खींचनेकी शक्ति तो इंजनकी ही है, पर चालकके द्वारा संचालन करनेपर ही वह गन्तव्य स्थानपर पहुँच पाता है। कारण यह कि इंजनमे इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि नहीं है, इसलिये उसे इन्द्रिय-मन-बुद्धि-वाले चालक ( मनुष्य ) की आवश्यकता होती है। परन्तु मनुष्यके पास शरीररूप इंजन भी है और संचालनके लिये इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि भी। परन्तु शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—ये चारो एक सामान्य प्रकाश ( चेतन ) से सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही कार्य करनेमें समर्थ होते है। सामान्य प्रकाश अथवा ज्ञान बुद्धिमें आता है, बुद्धिके ज्ञानको मन ग्रहण करता है, मनके ज्ञानको इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं, और फिर शरीररूप इंजनका सचालन होता है। बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीर—ये सब-के-सब गुण हैं और इन्हे प्रकाशित करनेवाला अर्थात् इन्हें सत्तास्फूर्ति देनेवाला 'स्वय' इन गुणोंसे असम्बद्ध, निर्लिप्त रहता है। अतएव वस्तुत: सम्पूर्ण गुण ही गुणोमें बरत रहे हैं।

श्रेष्ठ पुरुषके आचरणोका सब लोग अनुसरण करते हैं। इसीलिये भगवान् ज्ञानी महापुरुषके द्वारा लोकसंग्रह कैसे होता है—इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार वह महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोमें बरत रहे हैं'—ऐसा अनुभव करके उनमें आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार साधकको भी वैसा ही मानकर उनमें आसक्त नहीं होना चाहिये।

प्रकृति-पुरुष-सम्बन्धी मार्मिक बात—

आकर्षण सदा सजातीयतामें ही होता है, जैसे—कानोका शब्दमें, त्वचाका स्पर्शमें, नेत्रोका रूपमें, जिह्वाका रसमें और

नासिकाका गन्धमें आकर्षण होता है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें ही आकर्षण होता है। एक इन्द्रियका दूसरी इन्द्रियके विषयमें कभी आकर्षण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि एक वस्तुका दूसरी वस्तुके प्रति आकर्षण होनेमें मूल कारण उन दोनोंकी सजातीयता ही है।

आकर्षण, प्रवृत्ति एवं प्रवृत्तिकी सिद्धि सजातीयतामें ही होती है। विजातीय वस्तुओंमें न तो आकर्षण होता है, न प्रवृत्ति होती है और न प्रवृत्तिकी सिद्धि ही होती है। इसलिये आकर्षण, प्रवृत्ति और प्रवृत्तिकी सिद्धि सजातीयताके कारण 'प्रकृति'में ही होती है, परन्तु पुरुष ( चेतन )में विजातीय प्रकृति ( जड़ )का जो आकर्षण प्रतीत होता है, उसमें भी वास्तवमें प्रकृतिका अंश ही प्रकृतिकी ओर आकर्षित होता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी प्रकृतिमें ही हैं, पुरुषमें नहीं। पुरुष तो सदा निर्विकार, नित्य, अचल तथा एकरस रहता है।

तेरहवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने बतलाया है कि शरीरमें स्थित होनेपर भी पुरुष वस्तुतः न तो कुछ करता है और न लिप्त होता है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।**' पुरुष तो केवल 'प्रकृतिस्थ' होने अर्थात् प्रकृतिसे तादात्म्य माननेके कारण सुख-दुःखोंके भोक्तृत्वमें हेतु कहा जाता है—'**पुरुषः सुख-दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**' ( गीता १३ । २० ) और '**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' ( गीता १३ । २१ )। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सम्पूर्ण क्रियाएँ, क्रियाओंकी सिद्धि और आकर्षण प्रकृतिमें ही होता है, तथापि प्रकृतिसे तादात्म्यके कारण पुरुष 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ'—ऐसा मानकर भोक्तृत्वमें

हेतु बन जाता है। कारण कि सुखी-दुःखी होनेका अनुभव प्रकृति ( जड़ )में हो ही नहीं सकता, और प्रकृति ( जड )के बिना केवल पुरुष ( चेतन ) सुख-दुःखका भोक्ता बन ही नहीं सकता।

पुरुषमें प्रकृतिकी परिवर्तनरूप क्रिया या विकार नहीं है; परन्तु उसमे सम्बन्ध मानने अथवा न माननेकी योग्यता तो है ही। वह पत्थरकी भाँति जड नहीं, अपितु ज्ञानस्वरूप है। यदि पुरुषमें सम्बन्ध मानने अथवा न माननेकी योग्यता न होती, तो वह प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध कैसे मानता? प्रकृतिसे सम्बन्ध मानकर उसकी क्रियाको अपनेमें कैसे मानता? और अपनेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व कैसे स्वीकार करता? सम्बन्धको मानना अथवा न मानना 'भाव' है, 'क्रिया' नहीं।

जीवमें सम्बन्ध मानने अथवा न माननेकी योग्यता ( शक्ति ) है, इसे इस उदाहरणसे समझा जा सकता है—कोई मनुष्य हवाई जहाजमें बैठकर विदेश जाता है। वह हवाई जहाजके द्वारा जितनी शीघ्रतासे विदेश पहुँच सकता है, उतनी शीघ्रतासे किसी अन्य साधनसे नहीं। अतः शीघ्र पहुँचनेकी शक्ति जहाजकी है, मनुष्यकी नहीं। परंतु वह शक्ति मनुष्यके कारण ही आयी है; क्योंकि उसका संचालन मनुष्य ही करता है। ऐसे ही जीवमें सम्बन्ध मानने अथवा न माननेकी जो शक्ति है, उसका दुरुपयोग करके वह प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध मान लेता है तो उसमें क्रिया करनेकी विशेष शक्ति प्रकृति—शरीरके सम्बन्धसे ही आती है। जीव शरीरसे जो कार्य कर सकता है, वह कार्य स्वयं ( शरीरके बिना ) नहीं कर सकता।

ऐसे ही सृष्टिकी रचनाका कार्य भी प्रकृति परमात्माकी अध्यक्षतामें ही करती है, स्वयं नहीं—'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' ( गीता ९ । १० ) ।

पुरुषमें सम्बन्ध जोड़ने अथवा न जोड़नेकी योग्यता तो है, पर क्रिया करनेकी योग्यता उसमें नहीं है । क्रिया करनेकी योग्यता उसीमें होती है, जिसमें परिवर्तन ( विकार ) होता है । पुरुषमें परिवर्तनका स्वभाव नहीं है, जबकि प्रकृतिमें परिवर्तनका स्वभाव है अर्थात् प्रकृतिमें क्रियाशीलता स्वाभाविक है । इसलिये प्रकृतिसे सम्बन्ध जोडनेपर ही पुरुष अपनेमें क्रिया मान लेता है—'कर्ताहमिति मन्यते' ( गीता ३ । २७ ) ।

पुरुषमें कोई परिवर्तन नहीं होता, यह ( परिवर्तनका न होना ) उसकी कोई अशक्तता या कमी नहीं है, अपितु उसकी महत्ता है । वह निरन्तर एकरस, एकरूप रहनेवाला है । परिवर्तन होना उसका स्वभाव ही नहीं है; जैसे—बर्फमें गरम होनेका स्वभाव या योग्यता नहीं है । परिवर्तनरूप क्रिया होना प्रकृतिका स्वभाव है, पुरुषका नहीं । परन्तु प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध न माननेकी इसमें पूरी योग्यता, सामर्थ्य, स्वतन्त्रता है; क्योंकि वास्तवमें प्रकृतिसे सम्बन्ध मूलमें नहीं है ।

प्रकृतिके अंश शरीरको पुरुष जब अपना स्वरूप मान लेता है, तब प्रकृतिके उस अंशमें ( सजातीय प्रकृतिका ) आकर्षण, क्रियाएँ एवं उनके फलकी प्राप्ति होती रहती है । इसीका संकेत यहाँ 'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते' पदोंसे किया गया है । गुणोंमें अपनी

स्थिति मानकर पुरुष ( चेतन ) सुखी-दुःखी होता रहता है । वास्तवमे सुख-दुःखकी पृथक् सत्ता नहीं है । इसलिये भगवान् गुणोसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये विशेष जोर देते है ।

तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो सम्बन्ध-विच्छेद पहलेसे ( सदासे ) ही है । केवल भूलसे सम्बन्ध माना हुआ है । अतः माने हुए सम्बन्धको अस्वीकार करके केवल 'गुण ही गुणोमें बरत रहे हैं' इस वास्तविकताको पहचानना है ।

**इति मत्वा न सज्जते**—ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता ।

यहाँ **'मत्वा'** पद 'जानने'के अर्थमें आया है । तत्त्वज्ञ महापुरुष प्रकृति ( जड़ ) और पुरुष ( चेतन ) को स्वाभाविक ही अलग-अलग जानता है । इसलिये वह प्रकृतिजन्य गुणोमें आसक्त नहीं होता ।

भगवान् **'मत्वा'** पदका प्रयोग करके मानो साधकोंको यह आज्ञा देते है कि वे भी प्रकृतिजन्य गुणोको अपना मानकर उनमें आसक्त न हो ।

*शङ्का*—भगवान्ने पिछले ( सत्ताईसवें ) और इस श्लोकमें यह बतलाया है कि सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिजन्य गुणोके द्वारा ही किये जाते हैं अर्थात् 'स्वयं' अकर्ता है; परंतु इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमे भगवान्ने बतलाया है कि कोई भी मनुष्य किसी भी

कालमें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता अर्थात् 'स्वयं' कर्ता है। इन दोनो बातोमे परस्पर विरोध प्रतीत होता है।

*समाधान*—वास्तवमें उपर्युक्त दोनो बातोमे विरोध नहीं है, अपितु दोनोका प्रसङ्ग ही अलग-अलग है। सत्ताईसवे-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें सांख्ययोगीका प्रसङ्ग है, और पाँचवें श्लोकोंमें कर्मयोगीका प्रसङ्ग है। कर्मयोगी और साख्ययोगी—दोनोकी क्रियाओके प्रकारमें अन्तर होता है। कर्मयोगी गुणोके परवश होकर कर्म करता है और साख्ययोगी स्ववश होकर कर्म करता है। इसीलिये पॉचवे श्लोकमें कर्मयोगीके लिये **'अवशः'** पद और अट्ठाईसवें श्लोकमे साख्ययोगीके लिये **'तत्त्ववित्'** पद आया है। गुणोसे बँधे हुए तथा गुणोसे छूटे हुए—दोनों पुरुषोकी बाह्य क्रिया समान होनेपर भी क्रिया करनेके प्रकारमें आन्तरिक भेद होता है।

कर्मयोगी और सांख्ययोगी—दोनोकी साधन-प्रणालीमें एकता नहीं होती। **'कर्मयोगी'** गुणो ( शरीरादि ) से मानी हुई एकताको मिटानेकी चेष्टा करता है, इसीलिये श्रीमद्भागवतमें **'कर्मयोगस्तु कामिनाम्'** ( ११ । २० । ७ ) कहा गया है। भगवान्‌ने भी इसीलिये कर्मयोगीके लिये कर्म करनेकी आवश्यकतापर विशेष जोर दिया है; जैसे—**'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते'** ( गीता ३ । ४ ) 'कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य निष्कर्मताको प्राप्त नहीं होता।' **'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'** ( गीता ६ । ३ )। 'योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये कर्म करना ही हेतु कहा जाता है।' कर्मयोगी

*

कर्मोंको तो करता है, पर उन्हें अपने लिये नहीं, अपितु दूसरोंके हितके लिये ही करता है; इसलिये वह उन कर्मोंका भोक्ता नहीं बनता। भोक्ता न बननेसे अर्थात् भोक्तृत्वका नाश होनेसे कर्तृत्वका नाश स्वतः हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्तृत्वमें जो कर्तापन है, वह फलके लिये ही है। फलका उद्देश्य न रहनेपर कर्तृत्व नहीं रहता। इसलिये वास्तवमें कर्मयोगी भी कर्ता नहीं बनता।

साङ्ख्ययोगीमें विवेक-विचारकी प्रधानता रहती है। वह 'प्रकृतिजन्य गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' ऐसा जानकर अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता नहीं मानता। इसी बातको भगवान्‌ने तेरहवें अध्यायके उनतीसवें श्लोकमें कहा है कि जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और 'स्वयं' ( आत्मा ) को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है *। इस प्रकार साङ्ख्ययोगी कर्तृत्वका नाश करता है। कर्तृत्वका नाश होनेपर भोक्तृत्वका नाश स्वतः हो जाता है।

तीसरे अध्यायके आरम्भसे ही भगवान्‌ने कई उदाहरणों एवं दृष्टिकोणोंसे कर्म करनेपर ही जोर दिया है; जैसे—'ज्ञानी महापुरुषके द्वारा भी लोकसंग्रहार्थ कर्म होते हैं' ( ३ । २० ); 'मैं भी कर्म करता हूँ' ( ३ । २२ ), 'ज्ञानी महापुरुष भी अज्ञानी पुरुषोंके समान लोक-सग्रहार्थ कर्म करता है' ( ३ । २५-२६ )। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक दृष्टिकोणसे कर्म करना ही श्रेयस्कर है।

---

* प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥
( गीता १३ । २९ )

श्लोक—

**प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।**
**तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥**

*भावार्थ*—

प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए अज्ञानी पुरुष गुणों और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं। शास्त्रविहित शुभ-कर्मोंको सकामभावसे करनेवाले ऐसे अज्ञानी पुरुष गुणों और कर्मोंके तत्त्वको भलीभाँति नहीं जानते। गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेवाले महापुरुषको चाहिये कि वह इन मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको शास्त्रविहित शुभ-कर्मोंसे कभी विचलित न करे। यह उस ज्ञानी महापुरुषका लोकसंग्रह है।

अन्वय—

प्रकृतेः, गुणसम्मूढाः, गुणकर्मसु, सज्जन्ते, तान्, अकृत्स्नविदः, मन्दान्, कृत्स्नवित्, न, विचालयेत् ॥२९॥

पद-व्याख्या—

**प्रकृतेः गुणसम्मूढाः गुणकर्मसु सज्जन्ते**—प्रकृतिजन्य गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए अज्ञानी पुरुष गुणों और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं।

सत्त्व, रज और तम—तीनों प्रकृतिजन्य गुण मनुष्यको बाँधनेवाले हैं। सत्त्वगुण सुख और ज्ञानकी आसक्तिसे, रजोगुण कर्मकी आसक्तिसे और तमोगुण प्रमाद, आलस्य तथा निद्रासे मनुष्यको बाँधता है*। उपर्युक्त पदोंसे उन अज्ञानियोंका वर्णन है,

* तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥

जो प्रकृतिजन्य गुणोसे अत्यन्त मोहित अर्थात् बँधे हुए हैं; परंतु जिनका शास्त्रोमें शास्त्रविहित शुभ-कर्मोंमें एवं उन कर्मोंके फलोंमें श्रद्धा-विश्वास है । इसी अध्यायके पचीसवें-छब्बीसवे श्लोकोमें ऐसे अज्ञानी पुरुषोका **'सक्ताः अविद्वांसः'** और **'कर्मसङ्गिनाम् अज्ञानाम्'** नामसे वर्णन हुआ है । लौकिक और पारलौकिक भोगोकी कामनाके कारण ये पुरुष पदार्थों और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं । इस कारण इनसे ऊँचे उठनेकी बात समझ नहीं पाते । इसीलिये भगवान्‌ने इन्हें अज्ञानी कहा है ।

**तान् अकृत्स्नविदः मन्दान्**—उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोको ।

अज्ञानी पुरुष शुभ-कर्म तो करते हैं, पर नित्य-निरन्तर न रहनेवाले नाशवान् पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये । धनादि प्राप्त पदार्थोंमें वे ममता रखते हैं और अप्राप्त पदार्थोंकी कामना करते हैं । इस प्रकार ममता और कामनासे बँधे रहनेके कारण वे गुणों ( पदार्थों ) और कर्मोंके तत्त्वको पूर्णरूपसे नहीं जान पाते ।

अज्ञानी पुरुष शास्त्रविहित कर्म और उनकी विधिको तो भलीभाँति जानते है, पर गुणो और कर्मोंके तत्त्वको भलीभाँति न जाननेके कारण उन्हे 'अकृत्स्नविदः' ( पूर्णतया न जाननेवाले )

---

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥
( गीता १४ । ६–८ )

कहा गया है और सांसारिक भोग एवं संग्रहमें रुचि होनेके कारण उन्हें 'मन्दान्' ( मन्दबुद्धि ) कहा गया है।

कृत्स्नवित् न विचालयेत्—पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी पुरुष विचलित न करे।

गुण और कर्म-विभागको पूर्णतया जाननेवाले तथा कामना-ममतासे रहित ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह पूर्ववर्णित ( सकाम भावपूर्वक शुभ-कर्मोंमें लगे हुए ) अज्ञानी पुरुषोंको शुभ-कर्मोंसे विचलित न करे, जिससे वे मन्दबुद्धि पुरुष अपनी वर्तमान स्थितिसे नीचे न गिर जायँ। इसी अध्यायके पचीसवें-छब्बीसवें श्लोकोंमें ऐसे ज्ञानी पुरुषोंका 'असक्तः विद्वान्' और 'युक्तः विद्वान्' नामसे वर्णन हुआ है।

भगवान्‌ने तत्त्वज्ञ महापुरुषको पचीसवें श्लोकमें 'कुर्यात्' पदसे स्वयं कर्म करनेकी तथा छब्बीसवें श्लोकमें 'जोषयेत्' पदसे अज्ञानी पुरुषोंसे भी वैसे ही कर्म करवानेकी आज्ञा दी थी। परन्तु यहाँ भगवान्‌ने 'न विचालयेत्' पदोंसे वैसी आज्ञा न देकर मानो उसमें कुछ ढील दी है कि ज्ञानी पुरुष अधिक नहीं तो कम-से-कम अपने संकेत, वचन और क्रियासे अज्ञानी पुरुषोंको विचलित न करे। कारण कि जीवन्मुक्त महापुरुषपर भगवान् और शास्त्र अपना शासन नहीं रखते। उनके कहलानेवाले शरीरसे स्वतः-स्वाभाविक लोकसंग्रहार्थ क्रियाएँ हुआ करती हैं*।

* क्रिया और कर्म—इन दोनोंमें भी भेद है। क्रियामें जब 'मैं करता हूँ' ऐसा अहंभाव रहता है, तब वह क्रिया 'कर्म' हो जाती है

तत्त्वज्ञ महापुरुष कर्मयोगी हो अथवा ज्ञानयोगी—सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी उसका कर्मों और पदार्थोंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध स्वतः नहीं रहता, जो वस्तुतः था नहीं।

अज्ञानी मनुष्य स्वर्ग-प्राप्तिके लिये शुभ-कर्म किया करते हैं। इसलिये भगवान्‌ने ऐसे मनुष्योंको विचलित न करनेकी आज्ञा दी है अर्थात् वे महापुरुष अपने संकेत, वचन और क्रियासे ऐसी कोई बात प्रकट न करें, जिससे उन सकाम पुरुषोंकी शास्त्रविहित शुभ कर्मोंमें अश्रद्धा, अविश्वास या अरुचि उत्पन्न हो जाय और वे उन कर्मोंका त्याग कर दें; क्योंकि ऐसा करनेसे उनका पतन हो सकता है। इसलिये ऐसे पुरुषोंको सकामभावसे विचलित करना है, शास्त्रीय कर्मोंसे नहीं। जन्म-मरणरूप बन्धनसे छुटकारा दिलानेके लिये उन्हें सकामभावसे विचलित करना उचित भी है और आवश्यक भी।

सम्बन्ध—

*अर्जुनके मूल प्रश्न ( मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? ) के उत्तरमें भगवान्‌ने सर्वप्रथम कर्तव्य-कर्म करनेसे होनेवाले लाभ और न करनेसे होनेवाली हानिका विवेचन करते हुए अर्जुनको अनासक्त-भावसे कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा दी ( ३ । ९ )। फिर कर्तव्य-*

---

और उसका इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित—तीन प्रकारका फल मिलता है ( गीता १८ । १२ )। परन्तु जहाँ 'मैं कर्ता नहीं हूँ' ऐसा भाव रहता है, वहाँ वह क्रिया 'कर्म' नहीं बनती अर्थात् फलदायक नहीं होती। तत्त्वज्ञ महापुरुषके द्वारा फलदायक कर्म नहीं होते, अपितु केवल क्रियाएँ ( चेष्टामात्र ) होती हैं ( गीता ३ । ३३ )।

कर्म करनेकी आवश्यकताको भिन्न-भिन्न युक्तियोंसे समझाते हुए उन्होंने कहा कि कर्तव्य-कर्म करनेके लिये प्रजापति ब्रह्माजीकी आज्ञा है, जिसका पालन करनेसे मनुष्य परम कल्याणको प्राप्त करता है ( ३ । १०-११ )। सृष्टि-चक्रको सुरक्षित रखनेके लिये भी कर्तव्य-कर्म करना अति आवश्यक है ( ३ । १४-१६ )। अनासक्तभावसे कर्तव्य-कर्म करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ( ३ । १९ )। फिर भगवान्‌ने अपना उदाहरण देते हुए कहा कि कुछ भी कर्तव्य और प्राप्तव्य न होनेपर भी मैं लोकसंग्रहके लिये सावधानीपूर्वक कर्तव्य-कर्म करता हूँ ( ३ । २२ )। कर्मयोगी तो कर्तव्य-कर्म करता ही है, ज्ञानयोगीको भी कर्तव्य-कर्मका स्वरूपसे त्याग नहीं करना चाहिये ( ३ । २५-२६ )।

इस प्रकार कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यतामें अनेक हेतु बतलाकर अब भगवान् अगले श्लोकमें भगवन्निष्ठाके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेकी विशेष विधि बतलाते हुए अर्जुनको कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

श्लोक—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

भावार्थ—

हे अर्जुन ! तू विवेकवती बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मेरे अर्पण करके कामना, ममता और सन्ताप-रहित होकर युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको कर।

शरीरादि पदार्थों एवं कर्मोंको कर्मयोगी संसारका, ज्ञानयोगी प्रकृतिका और भक्तियोगी भगवान्‌का मानता है। संसारमात्र प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है। अतः शरीरादि पदार्थों एवं कर्मोंको चाहे संसारका माने, चाहे प्रकृतिका माने और चाहे भगवान्‌का माने—तीनो ही दृष्टियोसे वे अपने नहीं हैं, अपितु भगवान्‌के ही हैं। उन्हें अपना न मानना ही अर्पण करना है।

जब भक्तको यह अनुभव हो जाता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण, बुद्धि, पदार्थ आदि सब-के-सब भगवान्‌के ही हैं, मेरे है ही नहीं, तभी उनका वास्तविक अर्पण होता है। वास्तविक अर्पण होनेपर फिर कामना, ममता और सन्ताप नहीं रहते।

अन्वय—

**अध्यात्मचेतसा, सर्वाणि, कर्माणि, मयि, संन्यस्य, निराशीः, निर्ममः, विगतज्वरः, भूत्वा, युध्यस्व ॥ ३० ॥**

पद-व्याख्या—

**अध्यात्मचेतसा सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य**—अध्यात्मचित्त ( विवेक-विचारयुक्त अन्तःकरण )के द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझे अर्पण करके।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिपर अपना कोई अधिकार नहीं चलता—यह मनुष्यमात्रका अनुभव है। ये सब प्रकृतिके हैं—'**प्रकृतिस्थानि**'और 'स्वय' परमात्माका है—'**ममैवांशो जीवलोके**' ( गीता १५। ७ )। अतः शरीरादि पदार्थोंमें भूलसे माने हुए अपनेपनको हटाकर इन्हे भगवान्‌का ही मानना

जो वास्तवमें है )'अर्पण' कहलाता है। अतएव अपने विवेकको महत्त्व देकर पदार्थों और कर्मोंसे मूर्खतावश माने हुए सम्बन्धका त्याग करना ही अर्पण करनेका तात्पर्य है।

प्रायः साधकका यह विचार रहता है कि कर्मोंसे बन्धन होता है और कर्म किये बिना कोई रह सकता नहीं; अतः कर्म करनेसे तो मैं बँध जाऊँगा! अतः कर्म किस प्रकार करने चाहिये, जिससे बन्धन न हो—इसके लिये भगवान् कहते हैं कि अध्यात्म-चित्त ( विवेक-विचारयुक्त अन्तःकरण )से सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मेरे अर्पण कर दो अर्थात् इनसे अपना कोई सम्बन्ध न मानो। वास्तवमें संसारमात्रकी सम्पूर्ण क्रियाओंमें केवल भगवान्की शक्ति ही काम कर रही है। शरीर, इन्द्रियाँ, पदार्थ आदि भी भगवान्के हैं और शक्ति भी भगवान्की है। इसलिये सब कुछ भगवान्का है और भगवान् अपने हैं—गम्भीरतापूर्वक ऐसा विचार करके जब भक्त कर्तव्य-कर्म करता है, तब वे कर्म उसे बाँधनेवाले नहीं होते, अपितु उसका उद्धार करनेवाले हो जाते हैं।

'अध्यात्मचेतसा' पदसे भगवान्का यह तात्पर्य है कि किसी भी योगमार्गका साधक हो, उसका उद्देश्य आध्यात्मिक होना चाहिये, लौकिक नहीं। वस्तुतः उद्देश्य या आवश्यकता सदैव नित्यतत्त्वकी ( आध्यात्मिक ) होती है और कामना सदैव अनित्य-तत्त्व ( उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु )की होती है। साधकमें उद्देश्य होना चाहिये, कामना नहीं। उद्देश्यवाला अन्तःकरण विवेक-विचार-युक्त ही रहता है।

जीवकी वास्तविक आवश्यकता परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति ही है। आवश्यकता एक और कामनाएँ अनेक होती हैं। आवश्यकताकी पूर्ति तो होती है, पर कामनाकी कभी पूर्ति नहीं होती। जैसे, शारीरिक दृष्टिसे भोजनकी भूख शरीरकी आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति होती हुई दीखती है, पर भोजनमे रुचिकर पदार्थोंके मिलनेकी कामना कभी पूर्ण नहीं होती, वैसे ही जीवकी वास्तविक आवश्यकता ( भूख ) केवल परमात्मतत्त्वकी है, जिसकी पूर्ति होती है, पर इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी कामनाकी कभी पूर्ति नहीं होती। कुछ कामनाओकी पूर्ति होती हुई दीखनेपर भी उनकी निवृत्ति नहीं होती, अपितु कामना-पूर्तिकी आसक्तिके कारण नयी-नयी कामनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं।

दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक किसी भी दृष्टिसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि शरीरादि भौतिक पदार्थ अपने है। वास्तवमें ये पदार्थ अपने और अपने लिये हैं ही नहीं, अपितु केवल सदुपयोग करनेके लिये मिले हुए हैं। अपने न होनेके कारण ही इनपर किसीका आधिपत्य नहीं चलता।

ससारमात्र परमात्माका है; परन्तु जीव भूलसे परमात्माकी वस्तुको अपनी मान लेता है और इसीलिये बन्धनमें पड जाता है। अतः विवेक-विचारके द्वारा इस भूलको मिटाकर सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंको अध्यात्मतत्त्व ( परमात्मा ) का स्वीकार कर लेना ही अध्यात्म-चित्तके द्वारा उनका अर्पण करना है।

प्रस्तुत श्लोकमें 'अध्यात्मचेतसा' पद मुख्यरूपसे आया है। तात्पर्य यह है कि अविवेकसे ही उत्पत्ति-विनाशशील शरीर ( संसार ) अपना दीखता है। यदि विवेक-विचारपूर्वक देखा जाय तो शरीर या संसार अपना नहीं दीखेगा, अपितु एक अविनाशी परमात्मतत्त्व ही अपना दीखेगा। संसारको अपना देखना ही पतन है और अपना न देखना ही उत्थान है—

> **द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।**
> **ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥**
> ( महा० शान्ति० १३। ४, आश्वमेधिक० ५१। २९ )

'दो अक्षरोंका **'मम'** ( यह मेरा है—ऐसा भाव ) मृत्यु है और तीन अक्षरोंका **'न मम'** ( यह मेरा नहीं है—ऐसा भाव ) अमृत—सनातन ब्रह्म है।'

## अर्पण-सम्बन्धी विशेष बात—

भगवान्‌ने **'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य'** पदोंसे सम्पूर्ण कर्मोंको अर्पण करनेकी बात इसलिये कही है कि मनुष्यने करण ( शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण ), उपकरण ( कर्म करनेमें उपयोगी सामग्री ) तथा क्रियाओंको भूलसे अपनी और अपने लिये मान लिया, जो कभी इसके थे नहीं, हैं नहीं, होंगे नहीं और हो सकते भी नहीं। उत्पत्ति-विनाशवाली वस्तुओंसे अविनाशीका क्या सम्बन्ध? अतएव कर्मोंको चाहे संसारके अर्पण कर दें, चाहे प्रकृतिके अर्पण कर दें और चाहे भगवान्‌के अर्पण कर दें—तीनोंका एक ही परिणाम होगा, क्योंकि संसार प्रकृतिका कार्य है और भगवान् प्रकृतिके स्वामी हैं। इस दृष्टिसे संसार और प्रकृति—दोनों भगवान्‌के

हैं । अतः 'मै भगवान्का हूँ और अपनी कहलानेवाली मात्र वस्तुएँ भगवान्की है' इस प्रकार सब कुछ भगवान्के अर्पण कर देना चाहिये । ऐसा करनेके बाद फिर साधकको संसार या भगवान्से कुछ भी चाहना नहीं पड़ता, क्योंकि जो उसे चाहिये, उसकी व्यवस्था भगवान् स्वतः करते है । अर्पण करनेके बाद फिर शरीरादि पदार्थ अपने प्रतीत नहीं होने चाहिये । यदि अपने प्रतीत होते हैं तो वस्तुतः अर्पण हुआ ही नहीं । इसीलिये भगवान्ने विवेक-विचारयुक्त चित्तसे अर्पण करनेके लिये कहा है, जिससे यह वास्तविकता भलीभाँति समझमें आ जाय कि ये पदार्थ भगवान्के ही हैं, अपने हैं ही नहीं ।

समस्त आस्तिक सज्जनोकी यह धारणा रहती है कि सबके स्वामी भगवान् हैं । विचार करे कि जब सबके स्वामी भगवान् है, तब अपने कहलानेवाले शरीरादि पदार्थोंके स्वामी हम कैसे हुए ? यदि हमारी तरह प्रत्येक व्यक्ति अपने कहलानेवाले शरीरादि पदार्थों-का स्वामी अपनेको मानने लगे, तो फिर भगवान्के लिये क्या शेष बचा, जिसके स्वामी भगवान् कहलायें ? अतः एक ओर भगवान्को सबका स्वामी कहना तथा दूसरी ओर शरीरादि पदार्थोंको अपना मानना मानो भगवान्को ही धोखा देनेका प्रयत्न करना है ? जो शरीरादि किसी भी पदार्थको अपना नहीं मानता, वही यह कहनेका अधिकारी है कि सबके स्वामी भगवान् है अथवा सब कुछ भगवान्का है ।

भगवान्‌के अर्पणकी बात ऐसी विलक्षण है कि किसी तरहसे ( उकताकर भी ) अर्पण किया जाय तो लाभ-ही-लाभ है। कारण कि कर्म और वस्तुएँ वस्तुतः अपनी है ही नहीं। कर्मोंको करनेके बाद भी उनका अर्पण किया जा सकता है, पर वास्तविक अर्पण पदार्थों और कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही होता है। पदार्थों और कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद तभी होता है, जब यह बात ठीक-ठीक अनुभवमें आ जाय कि करण ( शरीरादि ), उपकरण ( सांसारिक पदार्थ ), कर्म और 'स्वयं'—ये सब भगवान्‌के ही है। साधकसे प्रायः यह भूल होती है कि वह उपकरणोंको तो भगवान्‌का माननेकी चेष्टा करता है, पर 'करण तथा स्वयं भी भगवान्‌के हैं'—इसपर ध्यान नहीं देता। इसीलिये उसका अर्पण अधूरा रह जाता है। अतएव साधकको करण, उपकरण, क्रिया और 'स्वयं'—सभीको एकमात्र भगवान्‌का ही मान लेना चाहिये, जो वास्तवमें उन्हींके है।

कर्मों और पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करना अर्पण नहीं है। भगवान्‌की वस्तुको भगवान्‌की ही मानना वास्तविक अर्पण है। जो मनुष्य वस्तुओंको अपनी मानते हुए भगवान्‌के अर्पण करता है, उसके बदलेमें भगवान् बहुत वस्तुएँ देते है, जैसे—पृथ्वीमें जितने बीज बोये जायँ, उससे कई गुणा अधिक अन्न पृथ्वी देती है, पर कई गुणा मिलनेपर भी वह सीमित ही मिलता है। परन्तु जो वस्तुको अपनी न मानकर ( भगवान्‌की ही मानते हुए ) भगवान्‌के अर्पण करता है, भगवान् उसे अपने-आपको दे देते हैं और ऋणी

भी हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुको अपनी मानकर देनेसे (अन्तःकरणमें वस्तुका महत्त्व होनेसे) उस वस्तुका मूल्य वस्तुमें ही मिलता है और अपनी न मानकर देनेसे स्वयं भगवान् मिलते हैं।

वास्तविक अर्पणसे भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि अर्पण करनेसे भगवान्‌को कोई सहायता मिलती है, परंतु अर्पण करनेवाला कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और इसीमें भगवान्‌की प्रसन्नता है। जैसे, छोटा बालक आँगनमें पड़ी हुई चाबी पिताजीको सौंप देता है तो पिताजी प्रसन्न हो जाते हैं, जबकि छोटा बालक भी पिताजीका है, आँगन भी पिताजीका है और चाबी भी पिताजीकी है, पर वास्तवमें पिताजी चाबीके मिलनेसे नहीं, अपितु बालकका (देनेका) भाव देखकर प्रसन्न होते हैं और हाथ ऊँचा करके बालकसे कहते हैं कि तू इतना बड़ा हो जा! अर्थात् उसे अपनेसे भी ऊँचा (बड़ा) बना लेते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ, शरीर तथा शरीरी (स्वयं) भगवान्‌के ही हैं; अतः उनपरसे अपनापन हटाने और उन्हें भगवान्‌के अर्पण करनेका भाव देखकर ही वे (भगवान्) प्रसन्न हो जाते हैं और उसके ऋणी हो जाते हैं।

## कामना-सम्बन्धी विशेष बात--

परमात्माने मनुष्य-शरीरकी रचना बहुत विचित्र ढंगसे की है। मनुष्यके जीवन-निर्वाह और साधनके लिये जो-जो आवश्यक सामग्री है, वह उसे प्रचुर मात्रामें प्राप्त है। उसमें भगवत्प्रदत्त विवेक भी विद्यमान है। उस विवेकको महत्त्व न देकर जब मनुष्य प्राप्त

वस्तुओंका ठीक-ठीक सदुपयोग नहीं करता, अपितु उन्हें अपना मानकर अपने लिये उनका उपयोग करता है एवं प्राप्त वस्तुओंमें ममता तथा अप्राप्त वस्तुओंकी कामना करने लगता है, तब वह जन्म-मरणके बन्धनमें बँध जाता है। वर्तमानमें जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, योग्यता, शक्ति, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण, बुद्धि आदि मिले हुए दीखते हैं, वे पहले भी हमारे पास नहीं थे और बादमें भी सदा हमारे पास नहीं रहेंगे; क्योंकि ये कभी एकरूप नहीं रहते, प्रतिक्षण बदलते रहते हैं—इस वास्तविकताको मनुष्य जानता है। यदि मनुष्य जैसा जानता है, वैसा ही मान ले, और वैसा ही आचरणमें ले आये तो उसका उद्धार होनेमें किञ्चित् भी संदेह नहीं है। जैसा जानता है, वैसा मान लेनेका तात्पर्य यह है कि शरीरादि पदार्थोंको अपना और अपने लिये न माने, उनके आश्रित न रहे और उन्हें महत्त्व देकर उनकी पराधीनता स्वीकार न करे। पदार्थोंको महत्त्व देना महान् भूल है। उनकी प्राप्तिसे अपनेको कृतार्थ मानना महान् बन्धन है। नाशवान् पदार्थोंको महत्त्व देनेसे ही उनकी नई-नई कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। कामना सम्पूर्ण पापों, तापों, दुःखों, अनर्थों, नरकों आदिकी जड़ है। कामनासे पदार्थ मिलते नहीं और प्रारब्धवशात् मिल भी जायँ तो टिकते नहीं। कारण कि पदार्थ आने-जानेवाले हैं और 'स्वयं' सदा रहनेवाला है। इसलिये कामनाका त्याग करके मनुष्यको कर्तव्य-कर्मका पालन करना चाहिये।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि कामनाके बिना कर्मोंमें प्रवृत्ति कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि कामनाकी पूर्ति और

निवृत्ति—दोनोंके लिये कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। साधारण पुरुष कामनाकी पूर्तिके लिये कर्मोंमें प्रवृत्त होते है और साधक पुरुष आत्मशुद्धि-हेतु कामनाकी निवृत्तिके लिये—**'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'** ( गीता ५ । ११ ) । वास्तवमें कर्मोंमें प्रवृत्ति कामनाकी निवृत्तिके लिये ही हैं, कामनाकी पूर्तिके लिये नहीं ।

मनुष्य-शरीर आवश्यकता या उद्देश्यकी पूतिके लिये ही मिला है । आवश्यकताकी पूर्ति होनेपर कुछ भी करना शेष नहीं रहता । कामना-पूर्तिके लिये कर्मोंमें प्रवृत्ति उन्हीं मनुष्योंकी होती है, जो अपने वास्तविक उद्देश्य ( नित्यतत्त्व परमात्माकी प्राप्ति )को भूले हुए हैं । ऐसे मनुष्योंको भगवान्‌ने 'कृपण' ( दीन या दयाका पात्र) कहा है—**'कृपणाः फलहेतवः'** ( गीता २ । ४९ )। इसके विपरीत जो मनुष्य उद्देश्यको सामने रखकर ( कामनाकी निवृत्तिके लिये ) कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं, उन्हें भगवान्‌ने 'मनीषी' ( बुद्धिमान् या ज्ञानी) कहा है—**'फलं त्यक्त्वा मनीषिणः'** ( गीता २ । ५१ ) । सेवा, स्वरूप-बोध और भगवत्प्राप्तिका भाव उद्देश्य या आवश्यकता है, कामना नहीं । नाशवान् पदार्थोंकी प्राप्तिका भाव ही कामना है । अतः कामनाके विना कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होती—ऐसा मानना भूल है । उद्देश्य या आवश्यकताकी पूर्तिके लिये भी कर्म सुचारुरूपसे होते है ।

अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर संसार ( जडता )से अपना सम्बन्ध मान लेनेसे ही आवश्यकता और कामना—दोनोंकी

उत्पत्ति होती है। संसारसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर आवश्यकताकी पूर्ति और कामनाकी निवृत्ति हो जाती है।

निराशीः निर्ममः विगतज्वरः भूत्वा युध्यस्व—निष्काम, निर्मम और निःसन्ताप होकर युद्ध कर।

सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थों ( कर्म-सामग्री ) को भगवदर्पण करनेके बाद भी कामना, ममता और सन्तापका कुछ अंश शेष रह सकता है। उदाहरणार्थ—हमने किसीको पुस्तक दी। उसे वह पुस्तक पढ़ते हुए देखकर हमारे मनमें ऐसा भाव आ जाता है कि वह मेरी पुस्तक पढ़ रहा है। यही आंशिक ममता है, जो पुस्तक अर्पण करनेके बाद भी शेष है। इस अंशका त्याग करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि नयी वस्तुकी 'कामना' मत करो, प्राप्त वस्तुमें 'ममता' मत करो और नष्ट वस्तुका 'सन्ताप' मत करो। सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करनेकी कसौटी यह है कि कामना, ममता और सन्तापका अंश भी न रहे।

जिन साधकोंको सब कुछ भगवदर्पण करनेके बाद भी पूर्वसंस्कारवश शरीरादि पदार्थोंकी कामना, ममता तथा सन्ताप दीखता है, उन्हें कभी निराश नहीं होना चाहिये। कारण कि जिसमें कामना दीखती है, वही कामनारहित होता है; जिसमें ममता दीखती है, वही ममतारहित होता है, और जिसमें सन्ताप दीखता है, वही सन्तापरहित होता है। इसी प्रकार जो देहको 'अहम्' ( मैं ) मानता है, वही निरहं ( अहंतारहित ) होता है। अतः मनुष्यमात्र कामना, ममता और सन्ताप-रहित होनेका पूरा अधिकारी है।

गीतामें 'ज्वर' शब्द केवल यहीं आया है। युद्धमे कौटुम्बिक स्नेह आदिसे सन्ताप होनेकी सम्भावना रहती है। अतः युद्धरूप कर्तव्य-कर्म करते समय विशेष सावधान रहनेके लिये भगवान् अर्जुनके प्रति **'विगतज्वरः'** पद देते है। अर्जुनके सामने युद्धके रूपमें कर्तव्य-कर्म था, इसलिये भगवान् **'युध्यस्व'** पदसे उन्हे युद्ध करनेकी आज्ञा देते है। इसमें वस्तुतः भगवान्‌का तात्पर्य युद्ध करनेसे नहीं, अपितु कर्तव्य-कर्म करनेसे है। इसलिये समय-समयपर जो कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, उसे साधकको निष्काम, निर्मम तथा निःसन्ताप होकर भगवदर्पण-बुद्धिसे करना चाहिये। उसके परिणाम ( सिद्धि या असिद्धि ) की ओर नहीं देखना चाहिये। सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिमें सम रहना 'विगतज्वर' होना है; क्योकि अनुकूलतासे होनेवाली प्रसन्नता और प्रतिकूलतासे होनेवाली उद्विग्नता—दोनो ही ज्वर (सन्ताप) हैं। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि विकार भी ज्वर है। संक्षेपमें राग-द्वेष, चिन्ता, उद्वेग, हलचल आदि जितनी भी मानसिक विकृतियाँ ( विकार ) है, वे सब ज्वर है और उनसे रहित होना ही **'विगतज्वरः'** पदका तात्पर्य है।

## विशेष बात—

( १ )

जब साधकका एकमात्र उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका हो जाता है, तब उसके पास जो भी सामग्री ( वस्तु, परिस्थिति आदि ) होती है, वह सब साधनरूप ( साधन-सामग्री ) हो जाती है। फिर उस सामग्रीमें बढ़िया और घटिया—ये दो विभाग नहीं होते। इसलिये सामग्री

जो है और जैसी है, वही और वैसी ही भगवान्‌के अर्पण करनी है। भगवान्‌ने जैसा दिया है, वैसा ही उन्हे वापस करना है।

सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करनेके बाद भी अपनेमें जो कामना, ममता और सन्ताप प्रतीत होते हैं, उन्हें भी भगवान्‌के अर्पण कर देना है। भगवान्‌के अर्पण करनेसे वह भगवन्निष्ठ हो जाता है।

योगारूढ़ होनेमें कर्म करना ही हेतु कहा जाता है—**'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'** ( गीता ६।३ )। कारण कि कर्तव्य-कर्म करनेसे ही साधकको पता लगता है कि मुझमें क्या और कहाँ कमी ( कामना, ममता आदि ) है ?* इसीलिये बारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग-( कर्मयोग )-को श्रेष्ठ कहा गया है; क्योंकि ध्यानमें साधककी दृष्टि विशेषरूपसे मनकी चञ्चलतापर ही रहती है और वह ध्येयमें मन लगनेमात्रसे ध्यानकी सफलता मान लेता है। परन्तु मनकी चञ्चलताके अतिरिक्त दूसरी कमियों-( कामना, ममता आदि )-की ओर उसकी दृष्टि कर्म करनेपर ही जाती है। अतएव भगवान् प्रस्तुत श्लोकमें **'युध्यस्व'** पदसे कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

जैसे दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा दी थी, वैसे ही यहाँ

* उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति किसी सेवा-समितिमें मन लगाकर सेवाकार्य करता है, पर जब कोई उसका आदर करता है या उसे पुरस्कार देता है तो उसे उसमें रस आ सकता है—यह उसमें कमी हुई। ऐसी कमियोंका पता कर्म करनेपर ही लगता है।

( तीसवें श्लोकमें ) निष्काम, निर्मम और निःसन्ताप होकर युद्ध अर्थात् कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं। जब युद्ध-जैसा घोर (क्रूर ) कर्म भी समभावसे किया जा सकता है, तब ऐसा कौन-सा दूसरा कर्म है, जो समभावसे न किया जा सकता हो ? समभाव तभी होता है, जब 'शरीर मैं नहीं, मेरा नहीं और मेरे लिये नहीं'—ऐसा भाव हो जाय।

कर्तव्य-कर्मका पालन तभी सम्भव है, जब साधकका उद्देश्य संसारका न होकर एकमात्र परमात्माका हो जाय। परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे साधक ज्यों-ज्यों कर्तव्यपरायण होता है, त्यों-ही-त्यों कामना, ममता, आसक्ति आदि दोष स्वतः मिटते चले जाते हैं और समतामें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव होता जाता है। समतामें अपनी स्थितिका पूर्ण अनुभव होते ही कर्तापन सर्वथा मिट जाता है और उद्देश्यके साथ एकता हो जाती है। यह नियम है कि अपने लिये किञ्चित् भी पाने या करनेकी इच्छा न रहनेपर 'अहम्' ( व्यक्तित्व ) स्वतः नष्ट हो जाता है।

अर्जुन श्रेय ( कल्याण ) तो चाहते हैं, पर युद्धरूप कर्तव्य-कर्मसे हटकर। वे कर्तव्यमें नहीं, अपितु अकर्तव्य-( भिक्षा माँगने )-में ही अपना श्रेय देखते हैं—'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' ( गीता २। ५ )। इसलिये अर्जुनके द्वारा अपना श्रेय पूछनेपर भगवान् उन्हें युद्धरूप कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं; क्योंकि भगवान्के मतानुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे अर्थात् कर्मयोगसे भी श्रेयकी प्राप्ति होती है, और ज्ञानयोग एवं भक्तियोगसे भी होती है।

( २ )

विचारपूर्वक देखा जाय तो गीतामें भगवान्‌ने भक्तिकी बात विशेषरूपसे कही है। जहाँ अर्जुनका भक्तिविषयक प्रश्न नहीं है और जहाँ कर्मयोग, ज्ञानयोग आदिका प्रसङ्ग चल रहा है, वहाँ भी भगवान्‌ने अपनी ओरसे भक्तिकी बात कह दी है; जैसे—

दूसरे अध्यायमें कर्मयोगकी बात कहते-कहते जहाँ स्थित-प्रज्ञके लक्षणोंका वर्णन आया है, वहाँ भगवान् **'मत्परः'** ( २ । ६१ ) पदसे अपने परायण होनेकी बात कहते हैं। भगवान् भक्तिको अपनी निष्ठा मानते हैं, साधककी निष्ठा नहीं। इसलिये तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने साधककी दो निष्ठाओं—साङ्ख्ययोग और कर्मयोगका ही वर्णन किया और भक्तिकी बात अपने मनमें रखी। कर्मयोगका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने उसी भक्तिकी बात **'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य'** ( ३ । ३० ) पदोंसे कह दी। चौथे अध्यायमें योगकी परम्परा बतलाते हुए 'मैंने ही सृष्टिके आदिमें योगका उपदेश दिया था'—इसे भगवान्‌ने परम रहस्यकी बात कही। अतः वहाँ **'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्'** ( ४ । ३ ) पदोंमें भी भक्ति ही झलकती है। चौथे श्लोकमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर भगवान्‌ने पाँचवेंसे चौदहवें श्लोकतक अवतारके प्रसङ्गमें भक्तिकी बात विशेषतासे कही। फिर पाँचवें अध्यायमें दोनो निष्ठाओंकी बात कहकर पहले दसवें श्लोकमें ( ब्रह्मण्याधाय कर्माणि ) और फिर

उन्तीसवे श्लोकमें ( **भोक्तारं यज्ञतपसां** ·····) अपनी ओरसे भगवन्निष्ठाका वर्णन किया।

छठे अध्यायमें ध्यानयोगका वर्णन करते हुए '**मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः**' (६।१४); '**यो मां पश्यति सर्वत्र** ' (६।३०); '**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः**' ( ६ । ३१ ) और '**श्रद्धावान्भजते यो माम्**' ( ६ । ४७ )—इन श्लोकोमें भगवान्‌ने भक्तिकी बात कही है। सातवें अध्यायसे लेकर बारहवे अध्यायतक तो मुख्यतः भगवन्निष्ठाका ही वर्णन है। तेरहवें अध्यायमें ज्ञानयोगका वर्णन करते हुए '**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**' ( १३ । १० ) और '**मद्भक्तः**' ( १३ । १८ ) पदोसे भक्तिकी बात कही गयी है। फिर चौदहवें अध्यायमें '**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते**' ( १४ । २६ ) और '**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्** ·· ··' ( १४ । २७ )—इन श्लोकोमें भक्तिका वर्णन किया गया है। पंद्रहवाँ अध्याय तो भक्तिका है ही। सोलहवें अध्यायमें दैवी-सम्पत्तिके रूपमें भक्तियोगके साधकोके लक्षणोका वर्णन किया गया है। सत्रहवें अध्यायमें तेईसवेंसे लेकर सत्ताईसवें श्लोकतक ॐ तत् सत्—इन नामोके रूपमें भक्तिका वर्णन हुआ है। अठारहवें अध्यायमें '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' ( १८ । ४६ ), '**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (१८ । ५४) और '**भक्त्या मामभिजानाति**' ( १८ । ५५ )—इन पदोसे भक्तिकी बात कही गयी है। इसी अध्यायके छप्पनवेंसे छियासठवें श्लोकतक तो भगवन्निष्ठाका ही मुख्यरूपसे वर्णन किया गया है।

गीतामें ज्ञानयोग और कर्मयोगके प्रसङ्गमें तो 'श्रेय' ( कल्याण ) की बात आयी है, पर भक्तियोगके प्रसङ्गमें श्रेयकी बात कहीं नहीं आयी है। कारण यह है कि भक्त श्रेय चाहता ही नहीं, प्रत्युत केवल भगवान्‌को एवं उनके प्रेमको चाहता है। अतः उसके श्रेयकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर ही है ( गीता १०। १०-११; १२। ७; १८। ६६ )।

सम्बन्ध—

*अपना मत ( सिद्धान्त ) बतलाकर अब भगवान् इकतीसवें श्लोकमें अन्वय-रीतिसे अर्थात् सिद्धान्त-पालनसे होनेवाले लाभका वर्णन करके और बत्तीसवें श्लोकमें व्यतिरेक-रीतिसे अर्थात् सिद्धान्त-पालन न करनेसे होनेवाली हानिका वर्णन करके अपने मतकी पुष्टि करते हैं।*

श्लोक—

**ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।**
**श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥**

भावार्थ—

किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले कोई मनुष्य दोष-दृष्टिसे रहित होकर परम श्रद्धापूर्वक मेरे इस ( पूर्वश्लोकमें वर्णित ) मतका ही सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।

भगवान्‌के इस कथनका तात्पर्य यह है कि मेरे द्वारा कहा गया होनेसे ही यह सिद्धान्त श्रेष्ठ है—ऐसी बात नहीं है। वास्तवमें

यह सिद्धान्त तत्त्वतः ( स्वरूपसे ) ही श्रेष्ठ है। इस सिद्धान्तका पालन करनेसे साधकका सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। कारण कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिको अपना न मानकर भगवान्‌का ही माननेसे उनसे होनेवाले कर्मोंके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता और मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

अन्वय—

**ये, मानवाः, श्रद्धावन्तः, अनसूयन्तः, मे, इदम्, मतम्, नित्यम्, अनुतिष्ठन्ति, ते, अपि, कर्मभिः, मुच्यन्ते ॥ ३१ ॥**

पद-व्याख्या—

**ये मानवाः**—जो कोई मनुष्य।

किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिका कोई भी मनुष्य यदि कर्म-बन्धनसे मुक्त होना चाहता है, तो उसे इस सिद्धान्तको मानकर इसका अनुसरण करना चाहिये। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, कर्म आदि कुछ भी अपना नहीं है—इस वास्तविकताको जान लेनेवाले सभी मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाते हैं।

**श्रद्धावन्तः**— ( और ) श्रद्धायुक्त होकर।

भगवान् और उनके मतमें प्रत्यक्षकी भाँति निःसन्देह दृढ़ विश्वास और पूज्यभावसे युक्त मनुष्यको 'श्रद्धावन्तः' पदसे कहा गया है।

शरीरादि जड़ पदार्थोंको अपने और अपने लिये न माननेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है—इस वास्तविकतापर श्रद्धा होनेसे जड़ताके माने हुए सम्बन्धका त्याग करना सुगम हो जाता है।

श्रद्धावान् साधक ही सत्-शास्त्र, सत्-चर्चा और सत्सङ्गकी बातें सुनता है और उन्हें आचरणमें लाता है।

मनुष्य-शरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। अतः परमात्माको ही प्राप्त करनेकी एकमात्र उत्कट अभिलाषा होनेपर साधकमें श्रद्धा, तत्परता, संयतेन्द्रियता आदि स्वतः आ जाते हैं। अतः साधकको मुख्यरूपसे परमात्मप्राप्तिकी अभिलाषाको ही तीव्र बनाना चाहिये।

**अनसूयन्तः**—दोष-दृष्टिसे रहित।

पिछले ( तीसवें ) श्लोकमें भगवान्ने अपना जो मत बतलाया है, उसमें दोष-दृष्टि न करनेके लिये यहाँ '**अनसूयन्तः**' पद दिया गया है। गुणोंमें दोष देखनेको 'असूया' कहते हैं। असूया ( दोषदृष्टि ) से रहित मनुष्योंको यहाँ '**अनसूयन्त**' कहा गया है।

जहाँ श्रद्धा रहती है, वहाँ भी किसी अंशमें दोष-दृष्टि रह सकती है। इसलिये भगवान्ने '**श्रद्धावन्तः**' पदके साथ '**अनसूयन्तः**' पद भी देकर मनुष्यको दोष-दृष्टिसे सर्वथा रहित (-पूर्ण श्रद्धावान् ) होनेके लिये कहा है। इसी प्रकार गीता-श्रवणका माहात्म्य बतलाते हुए भी भगवान्ने '**श्रद्धावाननसूयश्च**' ( गीता १८। ७१ ) पद देकर श्रोताके लिये श्रद्धायुक्त और दोष-दृष्टिसे रहित होनेकी बात कही है।

'भगवान्का मत तो उत्तम है, पर भगवान् कितनी आत्मश्लाघा, अभिमानकी बात कहते हैं कि सब कुछ मेरे ही अर्पण कर दो,

अथवा 'यह मत तो अच्छा है, पर कर्मोंके द्वारा भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है? कर्म तो जड़ और बाँधनेवाले होते हैं, आदि-आदि भाव आना ही भगवान्‌के मतमें दोष-दृष्टि करना है। साधकको भगवान् और उनके मत—दोनोंमें ही दोष-दृष्टि नहीं करनी चाहिये।

वास्तवमें सब कुछ भगवान्‌का ही है, परन्तु मनुष्य भूलसे भगवान्‌की वस्तुओंको अपनी मानकर बँध जाता है और ममता-कामनाके वशमें होकर दुःख पाता रहता है। अतः इस अपनेपनका त्याग करवाकर मनुष्यका उद्धार करनेके लिये ( कि वह सदाके लिये सुखी हो जाय ) भगवान् अपनी सहज करुणासे सब कुछ अपने अर्पण करनेकी बात कहते हैं। अतः इस विषयमें दोष-दृष्टि करना अनुचित है। यह तो भगवान्‌का परम सौहार्द, कारुण्य, वात्सल्य ही है कि अपनेमें कोई अपूर्णता ( कमी ) और आवश्यकता न होनेपर भी केवल मनुष्यके कल्याणार्थ वे समस्त कर्मोंको अपने अर्पण करनेके लिये कहते हैं।

**मे इदम् मतम् नित्यम् अनुतिष्ठन्ति**—मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं।

भगवान्‌का मत ही लोकमें 'सिद्धान्त' कहलाता है। सर्वोपरि सिद्धान्तको ही यहाँ **'मतम्'** पदसे कहा गया है। भगवान्‌ने अपनी सहज सरलता एवं निरभिमानताके कारण सर्वोपरि सिद्धान्तको 'मत' नामसे कहा है। यह मत या सिद्धान्त त्रिकालमें एक-जैसा रहता

है अर्थात् इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, चाहे कोई श्रद्धा करे या न करे।

यहाँ 'नित्यम्' पद 'मतम्' का विशेषण नहीं, अपितु 'अनुतिष्ठन्ति' पदका ही विशेषण है। कारण कि भगवान् नित्य हैं, अतः उनसे सम्बन्धित समस्त वस्तुएँ भी नित्य ही हैं। भगवान्‌का मत भी नित्य है। भगवान्‌का मत सर्वोपरि सिद्धान्त है; और सिद्धान्त वही होता है, जो कभी मिटता नहीं। इसके सिवा भगवान्‌के मतको 'अव्यययोग' ( गीता ४ । १ ) और 'पुरातनयोग' ( गीता ४ । ३ ) नामसे भी कहा गया है। अतएव यहाँ क्रिया-विशेषण 'नित्यम्' पद देनेका तात्पर्य है—भगवान्‌के मतपर नित्य-निरन्तर ( सदा ) स्थित रहना तथा इसके अनुसार अनुष्ठान करना।

प्रश्न—भगवान्‌का मत क्या है? और उसका सदा अनुष्ठान कैसे किया जाय?

उत्तर—मिली हुई कोई भी वस्तु अपनी नहीं है—यह भगवान्‌का मत है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, धन, सम्पत्ति, पदार्थ आदि सब प्रकृतिके कार्य हैं और संसार भी प्रकृतिका कार्य है। इसलिये इन वस्तुओंकी संसारसे एकता है तथा परमात्माका अंश होनेसे 'स्वयं' की परमात्मासे एकता है। अतः ये वस्तुएँ व्यक्तिगत ( अपनी ) नहीं हैं, अपितु इनके उपयोगका अधिकार व्यक्तिगत है। इसके सिवा सद्गुण, सदाचार, त्याग, वैराग्य, दया, क्षमा आदि भी व्यक्तिगत नहीं हैं, अपितु भगवान्‌के हैं। ये दैवी-

सम्पत्ति अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी सम्पत्ति ( पूँजी ) होनेसे भगवान्‌के ही है। यदि ये सद्गुण, सदाचार आदि अपने होते तो इनपर हमारा पूरा अधिकार होता और हमारी सम्मतिके बिना किसी दूसरेको इनकी प्राप्ति न होती। इन्हे अपना माननेसे तो अभिमान ही होता है, जो आसुरी-सम्पत्तिका मूल है।

जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपनी माननेसे और उसकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेसे ही बन्धन होता है। शरीरादि वस्तुएँ 'अपनी' तो है ही नहीं, 'अपने लिये' भी नहीं हैं। यदि ये अपने लिये होतीं तो इनकी प्राप्तिसे हमें पूर्ण तृप्ति या सन्तोष हो जाता, पूर्णताका अनुभव हो जाता। परन्तु सासारिक वस्तुएँ कितनी ही क्यो न मिल जायँ, कभी तृप्ति नहीं होती। तृप्ति या पूर्णताका अनुभव उस वस्तु ( भगवान् ) के मिलनेपर होता है, जो वास्तवमें अपनी है। अपनी वास्तविक वस्तुके मिलनेपर फिर स्वप्नमें भी कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती। जैसे, संसारमें सभी पुत्रवती स्त्रियाँ माताएँ ही हैं, पर बालकको उन सभी माताओके मिलनेसे सन्तोष नहीं होता, अपितु अपनी माताके मिलनेसे ही सतोष होता है। इसी प्रकार जबतक और पानेकी इच्छा रहती है, तबतक यही समझना चाहिये कि अपनी वस्तु मिली ही नहीं। मिली हुई वस्तुओको भूलसे भले ही अपनी मान ले, पर वास्तवमें वे अपनी हैं नहीं और इसलिये उनसे अपनी तृप्ति भी नहीं होती। अतः मिली हुई कोई भी वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं है।

शरीरादि प्राप्त वस्तुओंको न तो हम अपने साथ लाये थे और न अपने साथ ले ही जा सकते हैं तथा वर्तमानमें भी वे हमारेसे प्रतिक्षण वियुक्त हो रही हैं। वर्तमानमें जो ये अपनी प्रतीत होती हैं, वह भी सदुपयोग करने अर्थात् दूसरोंके हितमें लगानेके लिये हैं, न कि अपना अधिकार जमानेके लिये। अतः हमें प्राप्त वस्तुओंका सदुपयोग करनेका ही अधिकार है, अपनी माननेका नहीं; क्योंकि वे अपनी हैं ही नहीं। भगवान्‌ने मनुष्यको ये वस्तुएँ इतनी उदारतापूर्वक और इस ढंगसे दी हैं कि मनुष्यको ये वस्तुएँ अपनी ही दीखने लगती हैं। इन वस्तुओंको अपनी मान लेना भगवान्‌की उदारताका दुरुपयोग करना है। जो वस्तुएँ अपनी नहीं हैं, पर जिन्हें भूलसे अपनी मान लिया है, उस भूलको मिटानेके लिये साधक अध्यात्मचित्तसे गहरा विचार करके उन्हें भगवान्‌के अर्पण कर दे अर्थात् भूलसे माना हुआ अपनापन हटा ले।

जिसका एकमात्र उद्देश्य अध्यात्मतत्त्व ( परमात्मा ) की प्राप्तिका है, ऐसा साधक यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उसे स्पष्टरूपसे समझमें आ जायगा कि मिली हुई कोई भी वस्तु अपनी नहीं होती, अपितु बिछुड़नेवाली होती है। शरीर, पद, अधिकार, शिक्षा, योग्यता, धन, सम्पत्ति, जमीन आदि जो कुछ मिला है, संसारसे ही मिला है। और संसारके लिये ही है। मिली हुई वस्तुओंको चाहे संसार ( कार्य ) का माने, चाहे प्रकृति ( कारण ) का माने और चाहे भगवान् ( स्वामी ) का माने, पर सार ( मुख्य ) बात यही है कि वे अपनी नहीं हैं। जो वस्तुएँ अपनी नहीं हैं, वे अपने लिये कैसे हो सकती हैं?

साधकको न तो कोई 'वस्तु' अपनी माननी है और न कोई 'कर्म' ही अपने लिये करना है। अपने लिये किये गये कर्म बाँधनेवाले होते है—**'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'** ( गीता ३ । ९ ) अर्थात् यज्ञ ( निष्कामभावपूर्वक परहितके लिये किये जानेवाले कर्तव्य-कर्म )के अतिरिक्त अन्य ( अपने लिये किये गये ) कर्म मनुष्यको बाँधनेवाले होते हैं। यज्ञके लिये कर्म करनेवाले साधकके सम्पूर्ण कर्म सञ्चित-कर्म भी विलीन हो जाते हैं—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (गीता ४ ।२३ )।

भगवान् समस्त लोकोंके महान् ईश्वर ( स्वामी ) है—**'सर्वलोकमहेश्वरम्'** ( गीता ५ । २९ )। जब मनुष्य अपनेको वस्तुओंका स्वामी मान लेता है, तब वह अपने वास्तविक स्वामीको भूल जाता है; क्योंकि वह अपनेको जिन वस्तुओंका स्वामी मानता है, उसे उन्हीं वस्तुओंका चिन्तन होता है। अतः भगवान्‌को ही विश्वका एकमात्र स्वामी मानते हुए साधकको संसारमें सेवककी भाँति रहना चाहिये। सेवक अपने स्वामीके समस्त कार्य करते हुए भी अपनेको कभी स्वामी नहीं मानता। अतः साधकको शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिको अपना न मानकर केवल भगवान्‌का मानते हुए अपने कर्तव्यका पालन कर देना चाहिये; कर्म करनेमें निमित्तमात्र बन जाना चाहिये। अपनेमें स्वामीपनका अभिमान नहीं करना चाहिये।

सर्वस्व भगवदर्पण करनेके बाद लाभ-हानि, मान-अपमान, सुख-दुःख आदि जो कुछ आयें, उन्हें भी साधक भगवान्‌का ही

माने और उनसे अपना कोई प्रयोजन न रखे। कर्तव्य मात्र प्राप्त परिस्थितिके अनुरूप होता है। परिस्थितिके अनुरूप प्रसन्नतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करता रहे। यही भगवान्‌के मतका सदा अनुसरण करना है।

ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते—वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं।

भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि मैं तुझे तो सर्वस्व भगवदर्पण करके कर्तव्य-कर्म करनेकी स्पष्ट आज्ञा दे रहा हूँ, अतः मेरी आज्ञाका पालन करनेसे तेरे मुक्त होनेमें कोई सन्देह नहीं है; परन्तु जिन्हें मैं इस प्रकार स्पष्ट आज्ञा नहीं देता हूँ, वे भी यदि इस मत ( मिले हुएको अपना न मानकर कर्तव्य-कर्मका पालन करना )के अनुसार चलेंगे, तो वे भी मुक्त हो जायँगे। कारण कि यह मत ही ऐसा है कि चाहे मुझे माने या न माने, केवल इस मतका पालन करनेसे ही मनुष्य मुक्त हो जाता है।

श्लोक—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

भावार्थ—

परन्तु जो मनुष्य मेरे इस मतमें दोष-दृष्टि करते हुए इसका अनुसरण नहीं करते अर्थात् मेरे मतके अनुसार अपना जीवन नहीं बनाते; वे स्वयंको संसारको एवं परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानते। ऐसे अज्ञानी पुरुषोंको नष्ट हुए ही समझो अर्थात् उनका पतन हो

चुका है। कारण यह कि उन्होंने शरीरादि नाशवान् पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मान लिया है, इसलिये उन्हें बार-बार जन्मना और मरना पड़ेगा ही।

जिनका लक्ष्य परमात्मप्राप्ति नहीं है, अपितु जड पदार्थोंकी प्राप्ति ही है, ऐसे अज्ञानी पुरुषोंका वर्तमानमें नाश ( पतन ) दिखायी न भी दे, तो भी उन्हें नष्ट हुआ ही समझना चाहिये।

अन्वय—

तु, ये, अभ्यसूयन्तः, मे, एतत्, मतम्, न, अनुतिष्ठन्ति, तान्, अचेतसः, सर्वज्ञानविमूढान्, नष्टान्, विद्धि ॥ ३२ ॥

पद-व्याख्या—

**तु**—परन्तु।

तीसवें श्लोकमें वर्णित सिद्धान्तके अनुसार चलनेवालोंके लाभका वर्णन इकतीसवें श्लोकमें करनेके बाद इस सिद्धान्तके अनुसार न चलनेवालोंकी पृथकता करने-हेतु यहाँ 'तु' पदका प्रयोग हुआ है।

**ये**—जो ( मनुष्य )।

**अभ्यसूयन्तः**—( मुझमें और मेरे मतमें ) दोषारोपण करते हुए।

जैसे संसारमें सभी स्वार्थी मनुष्य चाहते हैं कि मुझे ही सब पदार्थ मिलें, मुझे ही लाभ हो, वैसे ही भगवान् भी चाहते हैं कि समस्त कर्मोंको मेरे ही अर्पण किया जाय, मुझे ही स्वामी माना जाय—इस प्रकार मानना 'भगवान्' पर दोषारोपण करना है।

कामनाके बिना संसारका कार्य कैसे चलेगा? ममताका पूर्ण त्याग तो हो ही नहीं सकता, राग-द्वेषादि विकारोंसे रहित होना असम्भव है—इस प्रकार मानना भगवान्‌के 'मत' पर दोषारोपण करना है।

**मे एतत् मतम् न अनुतिष्ठन्ति**—मेरे इस मतका अनुष्ठान नहीं करते।

भोग और संग्रहकी इच्छावाले जो मनुष्य शरीरादि पदार्थोंको अपने और अपने लिये मानते हैं और समस्त कर्म अपने लिये ही करते हैं, वे भगवान्‌के मतके अनुसार नहीं चलते।

**तान्**—उन।

**अचेतसः**—अज्ञानियोंको।

जो भगवान्‌के मतका अनुसरण न करके केवल भोग और संग्रहमें ही लगे रहते हैं, वे मनुष्य '**अचेतस**' अर्थात् अज्ञानी हैं।

परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करनेकी बातपर प्रायः लोग कह देते हैं कि हमारे पास घरके इतने आवश्यक कार्य हैं कि हमें समय ही नहीं मिलता। परन्तु वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो परमात्म-प्राप्ति करना ही आवश्यक कार्य है। इसके अतिरिक्त आवश्यक समझे जानेवाले दूसरे सब कार्य बालकोंके कार्यकी तरह ही हैं। बालक इधर-से-उधर अनावश्यक दौड़ते भी हों, तो भी उन्हें पकड़ लेनेपर वे रोने लग जाते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें दौड़ना भी आवश्यक कार्य है। अनावश्यक समझे जानेवाले कार्य भी बालकोंकी दृष्टिमें कम आवश्यक नहीं होते। इसी प्रकार संसारके आवश्यक

माने जानेवाले कार्य भी परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे रहित होनेपर आवश्यक ही होते हैं।

आवश्यक कार्य वही है, जिसके लिये मनुष्य-शरीर मिला है। मनुष्य-शरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। अतः परमात्माको प्राप्त करना ही मनुष्यका आवश्यक कार्य है। इस आवश्यक कार्यके साथ-साथ दूसरे अनावश्यक सांसारिक कार्योंको भी परमात्मप्राप्तिके लिये ही करनेसे वे कार्य भी परमात्मप्राप्तिमे सहायक बन जाते हैं। परंतु जो मनुष्य परमात्मप्राप्तिरूप आवश्यक कार्यकी उपेक्षा करके अनावश्यक सासारिक कार्योंमे रात-दिन लगे रहते हैं, वे **'अचेतसः'** अर्थात् मूढ है।

**सर्वज्ञानविमूढान्**—सम्पूर्ण ज्ञानोसे मोहित।

भगवान्के मतका अनुष्ठान न करनेवाले मनुष्योमे सत्-असत्, नित्य-अनित्य, ग्राह्य-त्याज्य आदिका ज्ञान जाग्रत् नहीं होता। वे सांसारिक अथवा पारमार्थिक किसी भी बातका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते। वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त मूढ पुरुष होते हैं—**'मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः'** ( गीता ९ । १२ )। मनुष्य अनेक प्रकारका सासारिक ज्ञान प्राप्त करता है, पर यदि आज मर जाय तो वह ज्ञान उसके क्या काम आयेगा? जिन कार्योंके कारण उसे भजन, ध्यान, सत्सङ्ग आदिके लिये भी समय नहीं मिलता, उन सभी कार्योंका परिणाम होगा—कुछ नहीं किया! तात्पर्य यह कि यदि अन्त-कालमे मनुष्यको थोडा भी विचार हो जायगा तो स्वतः उन सब

कार्योंकी व्यर्थताका अनुभव अपने-आपको होगा कि "हाय ! मैंने कुछ नहीं किया !" हाँ, यदि मनुष्यने अपने जीवनमें भगवान्‌के मतका अनुसरण करते हुए अपनी आध्यात्मिक उन्नति की है, तो वह मृत्युके बाद भी उसके साथ रहेगी। परंतु सांसारिक उन्नति यहीं मृत्युके साथ ही समाप्त हो जायगी।

**नष्टान् विद्धि**—( और ) नष्ट हुए ही समझो।

मनुष्य-शरीरको पाकर भी जो भगवान्‌के मतके अनुसार नहीं चलते, उन मनुष्योंको नष्ट हुए ही समझना चाहिये। तात्पर्य यह कि वे मनुष्य जन्म-मरणके चक्रमें ही पड़े रहेंगे।

मनुष्यजीवनमें अन्तकालतक मुक्तिकी सम्भावना रहती है*। अतः जो मनुष्य वर्तमानमें भगवान्‌के मतका अनुसरण नहीं करते वे भी भविष्यमें सत्संग आदिके प्रभावसे भगवान्‌के मतका अनुसरण करने लग सकते हैं, जिससे उनकी मुक्ति हो सकती है। परन्तु यदि उन मनुष्योंका भाव जैसा वर्तमानमें है, वैसा ही भविष्यमें भी बना रहा तो उन्हें ( भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रह जानेके कारण ) नष्ट हुए ही समझना चाहिये। इसी कारण भगवान्‌ने ऐसे मनुष्योंके लिये **'नष्टान् विद्धि'** पदोंका प्रयोग किया है।

---

* अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ( गीता ८।५ )

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझे ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

भगवान्‌के मतका अनुसरण न करनेवाला मनुष्य समस्त कर्म राग अथवा द्वेषपूर्वक करता है। राग और द्वेष—दोनों ही मनुष्यके महान् शत्रु हैं—**'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ'** ( गीता ३ । ३४ )। नाशवान् होनेके कारण पदार्थ और कर्म तो सदा साथ नहीं रहते, पर राग-द्वेषपूर्वक कर्म करनेसे मनुष्य तादात्म्य, ममता और कामनासे आबद्ध होकर बार-बार नीच योनियों और नरकोंको प्राप्त होता रहता है। इसीलिये भगवान्‌ने ऐसे मनुष्योंको नष्ट हुए ही समझनेकी बात कही है।

इकतीसवें और बत्तीसवें—दोनों श्लोकोंमें भगवान्‌ने कहा है कि मेरे सिद्धान्तके अनुसार चलनेवाले मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और न चलनेवाले मनुष्योंका पतन हो जाता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मनुष्य भगवान्‌को माने या न माने—इसमें भगवान्‌का कोई आग्रह नहीं है, परन्तु उसे भगवान्‌के मत ( सिद्धान्त ) का पालन अवश्य करना चाहिये—इसमें भगवान्‌की आज्ञा है। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो उसका पतन अवश्य हो जायगा। हाँ, यदि साधक भगवान्‌को मानकर उनके मतका अनुष्ठान करे तो भगवान् उसे अपने-आपको दे देंगे। परन्तु यदि भगवान्‌को न मानकर केवल उनके मतका अनुष्ठान करे तो भगवान् उसका उद्धार कर देंगे। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌को माननेवालेको 'प्रेम' की प्राप्ति और भगवान्‌का मत माननेवालेको 'मुक्ति' की प्राप्ति होती है।

सम्बन्ध—

*भगवान्‌के मतके अनुसार कर्म न करनेसे मनुष्यका पतन हो जाता है—ऐसा क्यों है ? इसका उत्तर भगवान् अगले श्लोकमें देते हैं।*

श्लोक—

**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।**
**प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥**

भावार्थ—

तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुष भी अपनी ( निर्दोष ) प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है अर्थात् उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिमें जैसा स्वभाव पड़ा हुआ है, उसीके अनुसार उससे राग-द्वेष-रहित क्रियाएँ होती हैं। जब ज्ञानी महापुरुष भी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, तब राग-द्वेषके वशीभूत साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ! ज्ञानी महापुरुष तो प्रकृतिके वशमें नहीं होता, पर साधारण मनुष्य राग-द्वेषके कारण प्रकृतिके वशमें होकर ही कर्म करते हैं। इस विषयमें अर्थात् कर्म करनेके विषयमें किसीका हठ कुछ काम नहीं करता यानी वह कर्मोंका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता।

कर्मोंके होनेमें प्रकृति अर्थात् स्वभावकी मुख्यता रहती है। स्वभाव या तो राग-द्वेषसे रहित होकर सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेसे बनता है या राग-द्वेषके वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक कर्म करनेसे।

सिद्धान्त अर्थात् भगवान्‌के मतके अनुसार चलनेवाला मनुष्य राग-द्वेषसे रहित होकर कर्म करता है; अतः उसका स्वभाव शुद्ध हो

जाता है। परंतु भगवान्‌के मतके अनुसार न चलनेवाला मनुष्य राग-द्वेषपूर्वक सब कर्म करता है, अतः उसका स्वभाव अशुद्ध हो जाता है। राग-द्वेषपूर्वक कर्म करनेसे राग-द्वेष पुष्ट होते हैं और परिणामस्वरूप मनुष्यका पतन हो जाता है। राग-द्वेषसे रहित होकर अपने स्वभावको शुद्ध बनानेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है।

अन्वय—

भूतानि, प्रकृतिम्, यान्ति, ज्ञानवान्, अपि, स्वस्याः, प्रकृतेः, सदृशम्, चेष्टते, निग्रहः, किम्, करिष्यति ॥ ३३ ॥

पद-व्याख्या—

**भूतानि प्रकृतिम् यान्ति**—सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं।

प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृतिको साथ लेकर ही जन्म लेता है। स्थूल ( दिखायी देनेवाला पाञ्चभौतिक शरीर, जिससे क्रियाएँ होती हैं ), सूक्ष्म ( दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और पाँच प्राण, जिसमें चिन्तनकी मुख्यता है ) और कारण ( जिसमें स्वभाव रहता है और जिसमें निद्रा, सुषुप्ति, समाधि आदि स्थिति होती है )—तीनों ही शरीर प्रकृतिके कार्य हैं।

प्रकृति किसी भी अवस्थामें निष्क्रिय नहीं रहती। कारण कि क्रियाशीलता प्रकृतिका स्वभाव है। इसलिये कोई भी प्रकृतिस्थ मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता—**'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** ( गीता ३।५ )। अपने-अपने स्वभावके वशीभूत हुए सभी प्राणियोंको कर्म करने

पड़ते हैं। यही बात भगवान्‌ने यहाँ 'भूतानि प्रकृतिं यान्ति' पदोंसे कही है।

यहाँ 'प्रकृतिम्' पदसे व्यष्टि-प्रकृतिको ही समझना चाहिये। वास्तवमें व्यष्टि-प्रकृति समष्टि-प्रकृतिसे भिन्न नहीं होती। केवल राग-द्वेषपूर्वक की गयी मान्यताके कारण ही व्यष्टि-प्रकृति ( शरीर ) समष्टि-प्रकृति ( संसार ) से भिन्न ( अपनी ) प्रतीत होती है। तत्त्वज्ञ महापुरुषका शरीर दीखता तो है, पर उसका शरीरसे सम्बन्ध नहीं होता,* क्योंकि उसका यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि शरीर ( व्यष्टि-प्रकृति ) और संसार ( समष्टि-प्रकृति ) एक ही हैं अर्थात् शरीरसहित सम्पूर्ण संसार एक ही है। ऐसा अनुभव होनेके कारण ज्ञानी महापुरुषकी प्रकृति परम शुद्ध होती है।

शरीर ( असत् ) के साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही मनुष्यमें राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और वह प्रकृतिके अधीन होता है। राग-द्वेषपूर्वक क्रिया करनेसे उसकी प्रकृति ( स्वभाव ) महान् अशुद्ध हो जाती है, जिससे उसका पतन हो जाता है। इस प्रकार असत्‌से माना हुआ सम्बन्ध ही प्रकृतिको अशुद्ध करता है।

जितने भी कर्म किये जाते हैं, वे स्वभाव अथवा सिद्धान्त†को सामने रखकर किये जाते हैं। स्वभाव दो प्रकारका होता है—

* शरीरसे सम्बन्ध वस्तुतः अज्ञानी पुरुषका भी नहीं होता। परन्तु वह अज्ञानपूर्वक शरीरको 'मैं' और 'मेरा' समझकर उससे अपना सम्बन्ध मान लेता है।

† सिद्धान्त वह है, जो शास्त्र और भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार हो। शास्त्र और भगवान्‌की आज्ञाके विपरीत सिद्धान्त मान्य नहीं है।

राग-द्वेषरहित और राग-द्वेषयुक्त। उदाहरणार्थ—मार्गमें चलते हुए कोई बोर्ड दिखायी दिया और उसपर लिखा हुआ पढ लिया, तो यह पढना न तो राग-द्वेषसे हुआ और न किसी सिद्धान्तसे, अपितु राग-द्वेषरहित स्वभावसे स्वतः हुआ। किसी मित्रका पत्र आनेपर उसे रागपूर्वक पढते हैं और शत्रुका पत्र आनेपर उसे द्वेषपूर्वक पढते हैं, तो यह पढ़ना राग-द्वेषयुक्त स्वभावसे हुआ। गीता, रामायण आदि सत्-शास्त्रोंको पढना 'सिद्धान्त'से पढना हुआ। मनुष्यजन्म परमात्म-प्राप्तिके लिये ही है; अतः परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे कर्म करना भी सिद्धान्तके अनुसार कर्म करना है।

इस प्रकार देखना, सुनना सूँघना, स्पर्श करना आदि मात्र क्रियाएँ स्वभाव और सिद्धान्त—दोनोंसे होती है। राग-द्वेषरहित स्वभाव दोषी नहीं होता, अपितु राग-द्वेषयुक्त स्वभाव दोषी होता है। राग-द्वेषपूर्वक होनेवाली क्रियाएँ मनुष्यको बाँधती हैं; क्योंकि इनसे स्वभाव अशुद्ध होता है और सिद्धान्तसे होनेवाली क्रियाएँ उद्धार करनेवाली होती हैं; क्योंकि इनसे स्वभाव शुद्ध होता है। स्वभाव अशुद्ध होनेके कारण ही संसारसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद नहीं होता। स्वभाव शुद्ध होनेसे संसारसे माने हुए सम्बन्धका सुगमतापूर्वक विच्छेद हो जाता है।

ज्ञानी महापुरुषके अपने कहलानेवाले शरीरद्वारा स्वतः क्रियाएँ हुआ करती हैं, क्योंकि उसमें कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। परमात्म-प्राप्ति चाहनेवाले साधककी क्रियाएँ सिद्धान्तके अनुसार होती हैं। जैसे लोभी पुरुष सदा सावधान रहता है कि कहीं कोई घाटा न लग जाय, वैसे ही साधक निरन्तर सावधान रहता है कि कहीं कोई

क्रिया राग-द्वेषपूर्वक न हो जाय । ऐसी सावधानी होनेपर साधकका स्वभाव शीघ्र शुद्ध हो जाता है और परिणामस्वरूप वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।

यद्यपि क्रियामात्र स्वाभाविक ही प्रकृतिके द्वारा होती है, तथापि अज्ञानी पुरुष क्रियाओंके साथ अपना सम्बन्ध मानकर अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेता है—'**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' ( गीता ३ । २७ ) । पदार्थों और क्रियाओंसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, जिनसे जन्म-मरणरूप बन्धन होता है । परंतु प्रकृतिसे सम्बन्ध न माननेवाला ज्ञानी महापुरुष अपनेको सदा अकर्ता ही देखता है* ।

स्वभावमें मुख्य दोष राग ही है । जबतक स्वभावमें राग रहता है, तभीतक अशुद्ध कर्म होते हैं । अतः साधकके लिये राग ही बन्धनका मुख्य कारण है । राग माने हुए 'अहम्'में रहता है और मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं इन्द्रियोंके विषयोंमें दिखायी देता है ।

'अहम्' दो प्रकारका है—

१—चेतनद्वारा जडके साथ माने हुए सम्बन्धसे होनेवाला तादात्म्यरूप 'अहम्' ।

२—जड प्रकृतिका धातुरूप अहम्—'**महाभूतान्यहंकारः**' ( गीता १३ । ५ ) ।

जड प्रकृतिके धातुरूप 'अहम्'में कोई दोष नहीं है; क्योंकि यह 'अहम्' मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिकी भाँति एक करण ही है ।

---

* प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ ( गीता १३ । २९ )

इसलिये सम्पूर्ण दोष माने हुए 'अहम्'में ही है । ज्ञानी महापुरुषमें तादात्म्यरूप 'अहम्'का सर्वथा अभाव होता है; अतः उसके कहलानेवाले शरीरके द्वारा होनेवाली समस्त क्रियाएँ प्रकृतिके धातुरूप 'अहम्'से ही होती है । वास्तवमे समस्त प्राणियोकी सब क्रियाएँ इस धातुरूप 'अहम्'से ही होती है, परन्तु जड़ शरीरको 'मै' और 'मेरा' माननेवाला अज्ञानी पुरुष उन क्रियाओको अपनी तथा अपने लिये मान लेता है और बँध जाता है । कारण कि क्रियाओको अपनी और अपने लिये माननेसे ही राग उत्पन्न होता है* ।

**ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशम् चेष्टते**—ज्ञानी महापुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है ।

यद्यपि अन्तःकरणमे राग-द्वेष न रहनेसे ज्ञानी महापुरुषकी प्रकृति निर्दोष होती है और वह प्रकृतिके वशीभूत नहीं होता, तथापि वह चेष्टा तो अपनी प्रकृति ( स्वभाव )के अनुसार ही करता है । उदाहरणार्थ—कोई ज्ञानी महापुरुष अंग्रेजी भाषा नहीं जानता और उससे अंग्रेजी बोलनेके लिये कहा जाय, तो वह बोल नहीं सकेगा । वह जिस भाषाको जानता है, उसी भाषामें बोलेगा ।

यहाँ '**स्वस्याः**' पदका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी महापुरुषकी प्रकृति निर्दोष होती है । वह प्रकृतिके वशमें नहीं होता । कर्मोंकी फल-

---

* शरीरके बढ़ने, बदलने आदि क्रियाओंके समान शरीर-निर्वाहकी व्यावहारिक क्रियाएँ भी स्वाभाविक-रूपसे होती हैं, परंतु राग-द्वेष रहनेसे साधारण पुरुषोंकी तो इन ( व्यावहारिक ) क्रियाओंमें लिप्तता रहती है, पर राग-द्वेष न रहनेसे ज्ञानी महापुरुषकी लिप्तता नहीं होती ।

जनकताका मूल बीज कर्तृत्वाभिमान और स्वार्थ-बुद्धि है। ज्ञानी महापुरुषमें कर्तृत्वाभिमान और स्वार्थ-बुद्धि नहीं होती। उसके द्वारा चेष्टामात्र होती है। बन्धनकारक कर्म होता है, चेष्टा या क्रिया नहीं। इसीलिये यहाँ 'चेष्टते' पद आया है। उसका स्वभाव इतना शुद्ध होता है कि उसके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ भी महान् शुद्ध एवं साधकोंके लिये आदर्श होती है ( गीता ३। २१ )।

पिछले और वर्तमान जन्मके संस्कार, माता-पिताके संस्कार, वर्तमानका सङ्ग, शिक्षा, वातावरण, अध्ययन, उपासना, चिन्तन, क्रिया, भाव आदिके अनुसार स्वभाव बनता है *। यह स्वभाव सभी मनुष्योंमें भिन्न-भिन्न होता है, और इसे निर्दोष बनानेमें सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं। व्यक्तिगत स्वभावकी भिन्नता ज्ञानी महापुरुषोंमें भी रहती है। चेतनमें भिन्नता होती ही नहीं और प्रकृतिमें स्वाभाविक भिन्नता रहती है। प्रकृति है ही विषम। जैसे एक जाति होनेपर भी आम आदिके वृक्षोंमें अवान्तर भेद रहता है, वैसे ही प्रकृति शुद्ध होनेपर भी ज्ञानी महापुरुषोंमें प्रकृतिका भेद रहता है।

---

* आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥
( श्रीमद्भा० ११। १३। ४ )

'शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसी हों तो रजोगुणकी और तामसी हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं।'

ज्ञानी महापुरुषका स्वभाव शुद्ध ( राग-द्वेषरहित ) होता है; अतः वे प्रकृतिके वशमें नहीं होते। इसके विपरीत अशुद्ध ( राग-द्वेषयुक्त ) स्वभाववाले मनुष्य अपनी बनायी हुई परवशतासे बाध्य होकर कर्म करते हैं।

**निग्रहः किम् करिष्यति**—( फिर इसमें किसीका ) हठ क्या करेगा ?

जिनका स्वभाव महान् शुद्ध एवं श्रेष्ठ है, उनकी क्रियाएँ भी अपनी प्रकृतिके अनुसार हुआ करती हैं, फिर जिनका स्वभाव अशुद्ध ( राग-द्वेषयुक्त ) है, उन पुरुषोंकी क्रियाएँ तो प्रकृतिके अनुसार होंगी ही। इस विषयमें हठ उनके काम नहीं आयेगा। जिसका जैसा स्वभाव है, उसे उसीके अनुसार कर्म करने पड़ेंगे। यदि स्वभाव अशुद्ध हो तो वह अशुद्ध कर्मोंमें और शुद्ध हो तो वह शुद्ध कर्मोंमें मनुष्यको लगा देगा।

अर्जुन भी जब हठपूर्वक युद्धरूप कर्तव्य-कर्मका त्याग करना चाहते हैं, तब भगवान् उन्हें यही कहते हैं कि तेरा स्वभाव तुझे बलपूर्वक युद्धमें लगा देगा—**'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'** ( १८। ५९ ), क्योंकि तेरे स्वभावमें क्षात्रकर्म करनेका प्रवाह है *। इसलिये स्वाभाविक कर्मोंसे बँधा हुआ तू परवश होकर युद्ध करेगा अर्थात् इसमें तेरा हठ काम नहीं आयेगा—**'करिष्यस्यवशोऽपि तत्'** ( १८। ६० )।

---

* शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
( गीता १८। ४३ )

जैसे सौ मील प्रति घंटेकी गतिसे चलनेवाली मोटर अपनी नियत क्षमतासे अधिक नहीं चलेगी, वैसे ही ज्ञानी महापुरुषकी भी अपनी शुद्ध प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा होगी। जिनकी प्रकृति अशुद्ध है, उनकी प्रकृति बिगड़ी हुई मोटरके समान है। बिगड़ी हुई मोटरको सुधारनेके दो मुख्य उपाय हैं—(१) मोटरको स्वयं ठीक करना और (२) मोटरको कारखानेमें पहुँचा देना। इसी प्रकार अशुद्ध प्रकृतिको सुधारनेके भी दो मुख्य उपाय हैं—(१) राग-द्वेषसे रहित होकर कर्म करना (गीता ३। ३४) और (२) भगवान्‌की शरणमें चले जाना*। यदि मोटर ठीक चलती है तो हम मोटरके वशमें नहीं हैं, और यदि मोटर बिगड़ी हुई है तो हम मोटरके वशमें हैं। ऐसे ही ज्ञानी महापुरुष प्रकृतिके शुद्ध होनेके कारण प्रकृतिके वशमें नहीं होता और अज्ञानी पुरुष प्रकृतिके अशुद्ध होनेके कारण प्रकृतिके वशमें होता है।

जिसकी बुद्धिमें जड़ता (सांसारिक भोग और संग्रह) का ही महत्त्व है, ऐसा मनुष्य कितना ही विद्वान् क्यों न हो, उसका पतन अवश्यम्भावी है। परंतु जिसकी बुद्धिमें जड़ताका महत्त्व नहीं है और भगवत्प्राप्ति ही जिसका उद्देश्य है, ऐसा मनुष्य विद्वान् न भी हो, तो भी उसका उत्थान अवश्यम्भावी है। कारण कि जिसका उद्देश्य भोग और संग्रह न होकर केवल परमात्माको प्राप्त करना ही है, उसके समस्त भाव, विचार, कर्म आदि उसकी

---

* तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६२)

उन्नतिमे सहायक हो जाते है। अत. साधकको सर्वप्रथम परमात्म-प्राप्तिका उद्देश्य बना लेना चाहिये, फिर उस उद्देश्यकी पूर्णताके लिये राग-द्वेषसे रहित होकर कर्तव्य-कर्म करने चाहिये। राग-द्वेषसे रहित होनेका सुगम उपाय है—मिले हुए शरीरादि पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानते हुए दूसरोकी सेवामे लगाना और बदलेमें दूसरोसे कुछ भी न चाहना।

प्रकृतिके वशमे न होनेके लिये साधकको चाहिये कि वह किसी आदर्शको सामने रखकर कर्तव्य-कर्म करे। आदर्श दो हो सकते हैं—( १ ) भगवान्‌का मत ( सिद्धान्त ) और ( २ ) श्रेष्ठ महापुरुषोका आचरण। आदर्शको सामने रखकर कर्म करनेवाले मनुष्यकी प्रकृति शुद्ध हो जाती है और नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। इसके विपरीत आदर्शको सामने न रखकर कर्म करनेवाला मनुष्य राग-द्वेषपूर्वक ही सब कर्म करता है, जिससे राग-द्वेष पुष्ट हो जाते है और उसका पतन हो जाता है—'नष्टान् विद्धि' ( गीता ३। ३२ )।

जैसे नदीके प्रवाहको हम रोक तो नहीं सकते, पर नहर बनाकर मोड सकते हैं, वैसे ही कर्मोंके प्रवाहको रोक तो नहीं सकते, पर उसका प्रवाह मोड सकते है। नि.स्वार्थभावसे केवल दूसरोके हितके लिये कर्म करना ही कर्मोंके प्रवाहको मोडना है। अपने लिये किञ्चिन्मात्र भी कर्म करनेसे कर्मोका प्रवाह मुड़ेगा नहीं। तात्पर्य यह कि केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे कर्मोका प्रवाह संसारकी ओर हो जाता है और साधक कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

सम्बन्ध—

प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृतिको साथ लेकर ही जन्म लेता है; अतः उसे अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करने ही पड़ते हैं। इसलिये अब भगवान् प्रकृतिकी अधीनतासे छूटनेका उपाय बतलाते हैं।

श्लोक—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

भावार्थ—

प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर प्राणीके राग और द्वेष व्यवस्थासे स्थित हैं। परन्तु उन राग और द्वेषके वशीभूत हो जानेके कारण मनुष्यके द्वारा दोषयुक्त कर्म होने लगते हैं। इसलिये भगवान् कहते है कि मनुष्यको राग-द्वेषके वशीभूत नहीं होना चाहिये अर्थात् राग-द्वेषको लेकर उसकी किसी भी कर्ममें प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं होनी चाहिये; क्योंकि ये दोनों ही उसकी साधन-सम्पत्तिको लूटनेवाले शत्रु है।

अन्वय—

इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य, अर्थे, रागद्वेषौ, व्यवस्थितौ, तयोः, वशम्, न, आगच्छेत्, हि, तौ, अस्य, परिपन्थिनौ, ( स्तः ) ॥ ३४ ॥

पद-व्याख्या—

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ—इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें प्राणीके राग और द्वेष व्यवस्थासे ( अनुकूलता एवं प्रतिकूलताको लेकर ) स्थित हैं।

प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें राग-द्वेषको अलग-अलग स्थित बतलानेके लिये यहाँ '**इन्द्रियस्य**' पद दो बार प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय ( श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण )के प्रत्येक विषय ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध )में अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर व्यवस्थासे प्राणीके राग-द्वेष स्थित रहते हैं। इन्द्रियके विषयमें अनुकूलताका भाव होनेपर प्राणीका इस विषयमें 'राग' हो जाता है और प्रतिकूलताका भाव होनेपर उस विषयमें 'द्वेष' हो जाता है।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो राग-द्वेष इन्द्रियोंके विषयोंमें नहीं रहते। यदि विषयोंमें राग-द्वेष स्थित होते तो एक ही विषय सभीको समानरूपसे प्रिय अथवा अप्रिय लगता। परंतु ऐसा होता नहीं; जैसे—वर्षा किसानको तो प्रिय लगती है, पर कुम्हारको अप्रिय। एक मनुष्यको भी कोई विषय सदा प्रिय या अप्रिय नहीं लगता, जैसे—ठंडी हवा गरमीमें अच्छी लगती है, पर सरदीमें बुरी। इस प्रकार सब विषय अपने अनुकूलता या प्रतिकूलताके भावसे ही प्रिय अथवा अप्रिय लगते हैं अर्थात् मनुष्य विषयोंमें अपना अनुकूल या प्रतिकूल भाव करके उन्हें अच्छा या बुरा मानकर राग-द्वेष कर लेता है। इसलिये भगवान्‌ने राग-द्वेषको प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें स्थित बतलाया है।

वास्तवमें राग-द्वेष माने हुए 'अहम्' ( मैं-पन )में रहते हैं* ।

* भगवान्‌ने 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य' (गीता २।५९) पदोंमें 'अस्य' पदसे यह लक्ष्य कराया है कि राग-द्वेष माने हुए 'अहम्'में ('मैं'पनमें) रहते हैं।

शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध ही 'अहम्' कहलाता है । अतः जबतक शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध रहता है, तबतक उसमें राग-द्वेष रहते हैं और वे ही राग-द्वेष बुद्धि, मन, इन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रतीत होते हैं। इसी अध्यायके सैंतीसवेंसे तैंतालीसवें श्लोकतक भगवान्ने इन्हीं राग-द्वेषको 'काम' और 'क्रोध'के नामसे कहा है । राग और द्वेषके ही स्थूलरूप काम और क्रोध हैं । चालीसवें श्लोकमें बतलाया है कि यह 'काम' इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें रहता है— **'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते'** । विषयोंकी भाँति इनमें ( इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें ) 'काम'की प्रतीति होनेके कारण ही भगवान्ने इन्हें 'काम'का निवास-स्थान बतलाया है। जैसे विषयोंमें राग-द्वेषकी प्रतीतिमात्र है, वैसे ही इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें भी राग-द्वेषकी प्रतीतिमात्र है। ये इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तो केवल कर्म करनेके करण ( औजार ) हैं । इनमें काम-क्रोध अथवा राग-द्वेष हैं ही कहाँ ? इसके अतिरिक्त दूसरे अध्यायके ५९वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर उनमें रहनेवाला उसका राग निवृत्त नहीं होता। यह राग परमात्माका साक्षात्कार होनेपर निवृत्त हो जाता है* ।

**तयोः वशम् न आगच्छेत्**—उन दोनों ( राग और द्वेष )मेंसे किसीके भी वशमें नहीं होना चाहिये ।

---

* विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ( गीता २ । ५९ )

इन पदोंसे भगवान् साधकको आश्वासन देते हैं कि राग-द्वेषकी वृत्ति उत्पन्न होनेपर उसे साधन और साध्यसे कभी निराश नहीं होना चाहिये, अपितु राग-द्वेषकी वृत्तिके वशीभूत होकर उसे किसी कार्यमें प्रवृत्त अथवा निवृत्त नहीं होना चाहिये। कर्मोंमें प्रवृत्ति या निवृत्ति शास्त्रके अनुसार ही होनी चाहिये—**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'** ( गीता १६ । २४ )। यदि राग-द्वेषको लेकर ही साधककी कर्मोंमें प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि साधक राग-द्वेषके वशमें हो गया है। रागपूर्वक प्रवृत्ति या निवृत्ति होनेसे 'राग' पुष्ट होता है और द्वेषपूर्वक प्रवृत्ति या निवृत्ति होनेसे 'द्वेष' पुष्ट होता है। इस प्रकार राग-द्वेष पुष्ट होनेके फलस्वरूप पतन ही होता है।

जब साधक संसारका कार्य छोड़कर भजनमें लगता है, तब संसारकी अनेक अच्छी और बुरी स्फुरणाएँ उत्पन्न होने लगती हैं, जिनसे वह घबरा जाता है। यहाँ भगवान् साधकको मानो आश्वासन देते हैं कि उसे इन स्फुरणाओंसे घबराना नहीं चाहिये। इन स्फुरणाओंकी वास्तवमें सत्ता ही नहीं है; क्योंकि ये उत्पन्न होती हैं; और यह सिद्धान्त है कि उत्पन्न होनेवाली वस्तु नष्ट होनेवाली होती है। अतः विचारपूर्वक देखा जाय तो स्फुरणाएँ आ नहीं रही हैं, अपितु जा रही हैं। कारण यह है कि संसारका कार्य करते समय अवकाश न मिलनेसे स्फुरणाएँ दबी रहती हैं और संसारका कार्य छोड़ते ही अवकाश मिलनेसे पुराने संस्कार स्फुरणाओंके रूपमें बाहर निकलने लगते हैं। अतएव साधकको इन अच्छी या बुरी स्फुरणाओंसे

भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिये, अपितु सावधानीपूर्वक उनकी उपेक्षा करते हुए स्वयं तटस्थ रहना चाहिये। इसी प्रकार उसे पदार्थ, व्यक्ति, विषय आदिमें भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिये।

## राग-द्वेषपर विजय पानेके उपाय

राग-द्वेषके वशीभूत होकर कर्म करनेसे राग-द्वेष पुष्ट ( प्रबल ) होते हैं और अशुद्ध प्रकृति ( स्वभाव ) का रूप धारण कर लेते हैं। प्रकृतिके अशुद्ध होनेपर प्रकृतिकी अधीनता रहती है। ऐसी अशुद्ध प्रकृतिकी अधीनतासे होनेवाले कर्म मनुष्यको बाँधते हैं। अतः राग-द्वेषके वशमें होकर कोई प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं होनी चाहिये—यह उपाय यहाँ बतलाया गया। इससे पहले भगवान् कह चुके हैं कि जो मेरे मतका अनुसरण करता है, वह कर्म-बन्धनसे छूट जाता है ( गीता ३। ३१ )। अतएव राग-द्वेषकी वृत्तिके वशमें न होकर भगवान्‌के मतके अनुसार कर्म करनेसे राग-द्वेष सुगमतापूर्वक मिट जाते हैं। तात्पर्य यह कि साधक सम्पूर्ण कर्मोंको और अपनेको भी भलीभाँति भगवदर्पण कर दे और ऐसा मान ले कि कर्म मेरे लिये नहीं हैं, अपितु भगवान्‌के लिये ही हैं; जिनसे कर्म होते हैं, वे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी भगवान्‌के ही हैं; और मैं भी भगवान्‌का ही हूँ। फिर निष्काम, निर्मम और निःसन्ताप होकर कर्तव्य-कर्म करनेसे राग-द्वेष मिट जाते हैं। इस प्रकार भगवान्‌के मत अर्थात् सिद्धान्तको सामने रखकर ही किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त होना चाहिये।

सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृतिका कार्य है, और शरीर सृष्टिका एक अंग है। जबतक शरीरके प्रति ममता रहती है, तभीतक राग-द्वेष होते हैं अर्थात्

मनुष्य रुचि या अरुचिपूर्वक वस्तुओंका ग्रहण और त्याग करता है। यह रुचि-अरुचि ही राग-द्वेषका सूक्ष्म रूप है। राग-द्वेषपूर्वक प्रवृत्ति या निवृत्ति होनेसे राग-द्वेष पुष्ट होते हैं, परन्तु शास्त्रको सामने रखकर किसी कर्ममें प्रवृत्त या निवृत्त होनेसे राग-द्वेष मिट जाते हैं। कारण कि शास्त्रके अनुसार चलनेसे अपनी रुचि और अरुचिकी मुख्यता नहीं रहती। यदि कोई मनुष्य शास्त्रको नहीं जानता, तो उसके लिये भगवान् वेदव्यासजीके वचन हैं—

**श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।**
**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥**

(पद्मपुराण, सृष्टि० १९)

तात्पर्य यह है कि जो हम अपने लिये नहीं चाहते, उसे दूसरोंके प्रति भी न करें। पाप-अन्यायका त्याग करें—यही शास्त्रोंकी सार बात है।

जीवन्मुक्त महापुरुष भी शास्त्र-मर्यादाको ही आदर देते हैं। इसीलिये श्राद्धमें पिण्डदान करते समय पिताजीका हाथ प्रत्यक्ष दिखायी देनेपर भी भीष्मपितामहने शास्त्रके आज्ञानुसार कुशोंपर ही पिण्डदान किया (महाभारत, अनुशासन० ८४। १५–२०)। अतः साधकको सम्पूर्ण कर्म शास्त्रके आज्ञानुसार ही करने चाहिये।

राग-द्वेष मिटानेके इच्छुक साधकोंके लिये तो कर्म करनेमें शास्त्रप्रमाणकी आवश्यकता रहती है, पर राग-द्वेषसे सर्वथा रहित महापुरुषका अन्तःकरण इतना शुद्ध, निर्मल होता है कि उसमें स्वतः वेदोंका तात्पर्य प्रकट हो जाता है, चाहे वह पढ़ा-लिखा हो या न हो। उसके अन्तःकरणमें जो बात आती है, वह शास्त्रानुकूल ही होती

है*। राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होनेके कारण उस महापुरुषके द्वारा शास्त्रनिषिद्ध क्रियाएँ कभी होती ही नहीं। उसका स्वभाव स्वतः शास्त्रके अनुसार बन जाता है। यही कारण है कि ऐसे महापुरुषके आचरण और वचन दूसरे मनुष्योंके लिये आदर्श होते हैं ( गीता ३। २१ )। अतएव उस महापुरुषके आचरणों और वचनोंका अनुसरण करनेसे साधकके राग-द्वेष भी मिट जाते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि राग-द्वेष अन्तःकरणके धर्म हैं; अतः इन्हें मिटाया नहीं जा सकता। पर यह बात युक्तिसंगत नहीं दीखती। वास्तवमें राग-द्वेष अन्तःकरणके आगन्तुक विकार हैं, धर्म नहीं। यदि ये अन्तःकरणके धर्म होते तो जिस समय अन्तःकरण जाग्रत् रहता है, उस समय राग-द्वेष भी रहते अर्थात् इनकी सदा ही प्रतीति होती। परंतु इनकी प्रतीति सदा न होकर कभी-कभी ही होती है। साधन करनेपर राग-द्वेष उत्तरोत्तर कम होते हैं—यह साधकोंका अनुभव है। कम होनेवाली वस्तु मिटनेवाली होती है। इससे भी सिद्ध होता है कि राग-द्वेष अन्तःकरणके धर्म नहीं हैं। भगवान्‌ने राग-द्वेषको 'मनोगत' कहा है—'कामान् सर्वान्

* जो पुरुष धर्मका कभी परित्याग नहीं करता, उसका अन्तःकरण भी शुद्ध हो जाता है। राजा दुष्यन्तका वर्णन करते समय महाकवि कालिदासने लिखा है—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

( अभिज्ञानशाकुन्तलम् १। २१ )

'जहाँ सन्देह हो, वहाँ सत्पुरुषके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है।'

पार्थ मनोगतान्' ( गीता २ । ५५ ) । अर्थात् ये मनमे आनेवाले है, सदा रहनेवाले नहीं । इसके अतिरिक्त भगवान्‌ने राग-द्वेषको विकार कहा है* और प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमे चित्तके सदा सम रहनेको साधन कहा है—'**नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु**' ( गीता १३ । ९ ) । यदि राग-द्वेष अन्तःकरणके धर्म होते, तो यह समचित्ततारूप साधन बन ही नहीं पाता । धर्म स्थायी रहता है और विकार अस्थायी अर्थात् आने-जानेवाले होते है । राग-द्वेष अन्तः-करणमे आने-जानेवाले है; अत. इन्हे मिटाया जा सकता है ।

प्रकृति ( जड़ ) और पुरुष ( चेतन )—दोनो भिन्न-भिन्न है । इन दोनोका विवेक स्वत सिद्ध है । पुरुष इस विवेकको महत्त्व न देकर प्रकृतिजन्य शरीरसे एकता कर लेता है और अपनेको एक-देशीय मान लेता है । यह जड-चेतनका तादात्म्य ही 'अहम्' (मै) कहलाता है और इसीमे राग-द्वेष रहते है । तात्पर्य यह है कि अहंता ( मै-पन ) मे राग-द्वेष रहते हैं और राग-द्वेषसे अहंता पुष्ट होती है । यही राग-द्वेष बुद्धिमे प्रतीत होते है, जिससे बुद्धिमे सिद्धान्त आदिको लेकर अपनी मान्यता प्रिय और दूसरोकी मान्यता अप्रिय लगती है । फिर ये राग-द्वेष मनमे प्रतीत होते है, जिससे मनके अनुकूल बातें प्रिय और प्रतिकूल बाते अप्रिय लगती है । फिर यही राग-द्वेष इन्द्रियोंमें प्रतीत होते है, जिससे इन्द्रियोके अनुकूल विषय प्रिय और प्रतिकूल

---

* इच्छा द्वेषः सुख दुःख संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥
( गीता १३ । ६ )

विषय अप्रिय लगते हैं। यही राग-द्वेष इन्द्रियोंके विषयों ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ) में अपनी अनुकूल और प्रतिकूल भावनाको लेकर प्रतीत होते हैं। अतएव जड-चेतनकी ग्रन्थिरूप अहंता ( मैं-पन ) के मिटनेपर राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है; क्योंकि अहंतापर ही राग-द्वेष टिके हुए हैं।

मैं सेवक हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ—ये सेवक, जिज्ञासु और भक्त जिस 'मैं' में रहते हैं, उसी 'मैं' में राग-द्वेष भी रहते हैं। राग-द्वेष न तो केवल जडमें रहते हैं और न केवल चेतनमें ही रहते हैं, अपितु जड-चेतनके माने हुए सम्बन्धमें रहते हैं। जड़-चेतनके माने हुए सम्बन्धमें रहते हुए भी ये राग-द्वेष प्रधानतः जड़में रहते हैं। जड-चेतनके तादात्म्यमें जड़का आकर्षण जड-अंशमें ही होता है, पर तादात्म्यके कारण वह चेतनमें दीखता है। जड़का आकर्षण ही राग है। अतः जब साधक शरीर ( जड ) को ही अपना स्वरूप मान लेता है, तब उसे राग-द्वेषको मिटानेमें कठिनाई प्रतीत होती है। परंतु अपने चेतन-स्वरूपकी ओर दृष्टि रहनेसे उसे राग-द्वेषको मिटानेमें कठिनाई प्रतीत नहीं होती। कारण कि राग-द्वेष स्वतः सिद्ध नहीं हैं, अपितु जड ( असत् ) के सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले हैं।

यदि सत्सङ्ग, भजन, ध्यान आदिमें 'राग' होगा तो संसारसे द्वेष होगा; परंतु 'प्रेम' होनेपर संसारसे द्वेष नहीं होगा, अपितु संसारकी उपेक्षा ( विमुखता ) होगी *। संसारके किसी एक विषयमें 'राग'

* साधनका सत्सङ्ग आदिमें राग है या प्रेम, इसे इस उदाहरणसे जान सकते हैं—सत्सङ्ग, भजन-ध्यान आदिमें कोई व्यक्ति बाधा पहुँचाये, तो

होनेसे दूसरे विषयमें द्वेष होता है, पर भगवान्‌में प्रेम होनेसे संसारसे वैराग्य होता है। वैराग्य होनेपर संसारसे सुख लेनेकी भावना समाप्त हो जाती है और संसारकी स्वतः सेवा होती है। इससे शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके साथ 'अहम्' भी स्वतः संसारकी सेवामें लग जाता है। यानी अहम् मिट जाता है, कारण अहम् सुख लेनेके भावपर ही टिका हुआ है। सुख लेनेका भाव न रहनेपर अहं सर्वथा गल जाता है। शरीरादिके साथ-साथ 'अहम्' से भी सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसमें रहनेवाले राग-द्वेष सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

मनुष्यकी क्रियाएँ स्वभाव अथवा सिद्धान्तको लेकर होती हैं। केवल आध्यात्मिक उन्नतिके लिये कर्म करना सिद्धान्तको लेकर कर्म करना है। स्वभाव दो प्रकारका होता है—राग-द्वेषरहित ( शुद्ध ) और राग-द्वेषयुक्त ( अशुद्ध )। स्वभावको मिटा तो नहीं सकते, पर उसे शुद्ध अर्थात् राग-द्वेषरहित अवश्य बना सकते हैं। जैसे, गङ्गा

उसपर क्रोध आनेसे समझना चाहिये कि सत्सङ्ग आदिमें 'राग' है, और ( उसपर क्रोध न आकर ) रोना आ जाय तो समझना चाहिये कि सत्सङ्ग आदिमें 'प्रेम' है। कारण कि अपनेमें लगन ( दृढ़ता ) की कमी होनेसे ही साधनमें बाधा लगती है। इसलिये बाधा लगनेपर अपनेमें लगनकी कमी देखकर साधकको रोना आ जाता है। ऐसे ही दूसरे धर्म, सम्प्रदाय आदिके व्यक्ति हमें बुरे लगें तो समझना चाहिये कि अपने धर्म, सम्प्रदाय आदिमें हमारा 'राग' है।

वास्तवमें सत्सङ्ग, भजन-ध्यान आदिमें राग होना भी उतना बुरा नहीं है, क्योंकि चाहे जैसे हो, भगवान्‌में लगना अच्छा ही है—'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्' ( श्रीमद्भा० ७ । १ । ३२ )

गङ्गोत्रीसे निकलती है, गङ्गोत्री जितनी ऊँचाईपर है, यदि उतना अथवा उससे अधिक ऊँचा बाँध बनाया जाय तो गङ्गाके प्रवाहको रोका जा सकता है। परन्तु ऐसा करना सरल कार्य नहीं है। हाँ, गङ्गामेंसे नहरें निकालकर उसके प्रवाहको बदला जा सकता है। इसी प्रकार स्वाभाविक कर्मोंके प्रवाहको मिटा तो नहीं सकते, पर उसे बदल सकते हैं अर्थात् उसे राग-द्वेषरहित बना सकते हैं—यह गीताका मार्मिक सिद्धान्त है। राग-द्वेषको लेकर जो क्रियाएँ होती हैं, उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति उतनी बाधक नहीं हैं, जितने राग-द्वेष बाधक हैं। इसलिये भगवान्‌ने राग-द्वेषका त्याग करनेवालेको ही सच्चा त्यागी कहा है*। राग-द्वेषकी ओर प्रायः साधकका ध्यान नहीं जाता, इसलिये उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक होती रहती है। अतएव राग-द्वेषसे रहित होनेके लिये साधकको सिद्धान्त सामने रखकर ही समस्त क्रियाएँ करनी चाहिये। फिर उसका स्वभाव स्वतः सिद्धान्तके अनुरूप और शुद्ध बन जायगा।

राग-द्वेषयुक्त स्फुरणाके उत्पन्न होनेपर, उसके अनुसार कर्म करनेसे राग-द्वेष पुष्ट होते हैं और उसके अनुसार कर्म न करके सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेसे राग-द्वेष मिट जाते हैं।

मनकी शुभ और अशुभ स्फुरणाओंमें राग-द्वेष नहीं होने चाहिये। साधकको चाहिये कि वह मनमें होनेवाली स्फुरणाओंको

---

* न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥
(गीता १८।१०)

स्वयंमें न मानकर उनसे किसी भी प्रकार सम्बन्ध न जोड़े, उनका न समर्थन करे, न विरोध करे।

यदि साधक राग-द्वेषको दूर करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है, तो उसे सर्वसमर्थ परमसुहृद् प्रभुकी शरणमें चले जाना चाहिये। फिर प्रभुकी कृपासे उसके राग-द्वेष दूर हो जाते हैं और परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है*। माने हुए 'अहम्'-सहित शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण और सांसारिक पदार्थ सब-के-सब भगवान्‌के ही हैं—ऐसा मानना ही भगवान्‌की शरण होना है। फिर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌की दी हुई सामग्रीसे भगवान्‌के ही जनोंकी केवल सेवा कर देनी है और बदलेमें अपने लिये कुछ नहीं चाहना है। बदलेमें कुछ भी चाहनेसे जड़के साथ सम्बन्ध बना रहता है।

निष्कामभावपूर्वक संसारकी सेवा करना राग-द्वेष मिटानेका अचूक उपाय है। अपने पास स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे लेकर माने हुए 'अहम्' तक जो कुछ है, उसे संसारकी ही सेवामें लगा देना है। कारण कि ये सब पदार्थ तत्त्वतः संसारसे अभिन्न हैं। इन्हें संसारसे भिन्न ( अपना ) मानना ही बन्धन है। स्थूलशरीरसे क्रियाओं और पदार्थोंका सुख, सूक्ष्मशरीरसे चिन्तनका

---

* मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
( गीता ७ । १४ )

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
( गीता १८ । ६२ )

सुख और कारणशरीरसे स्थिरताका सुख नहीं लेना है। वास्तवमें मनुष्यशरीर अपने सुखके लिये है ही नहीं—

एहि तन कर फल विषय न भाई।

( मानस ७। ४३। १ )

दूसरी बात यह कि जिन शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, पदार्थ आदिसे सेवा होती है, वे सब संसारके ही अंश हैं। जब संसार ही अपना नहीं, तो फिर उसका अंश अपना कैसे हो सकता है? इन शरीरादि पदार्थोंको अपना माननेसे सच्ची सेवा हो ही नहीं सकती, क्योंकि इससे ममता और स्वार्थभाव उत्पन्न हो जाता है। इसलिये इन पदार्थोंको उसीके मानने चाहिये, जिनकी सेवा की जाय। जैसे भक्त पदार्थोंको भगवान्‌का ही मानकर भगवान्‌के अर्पण करता है—'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये', वैसे ही कर्मयोगी पदार्थोंको संसारका ही मानकर संसारके अर्पण करता है। सेवा वही कर सकता है, जो अपने लिये कभी कुछ नहीं चाहता।

## सेवा-सम्बन्धी मार्मिक बात

सेवा करनेके लिये धनादि पदार्थोंकी चाह तो कामना है ही, सेवा करनेकी चाह भी कामना ही है; क्योंकि सेवाकी चाह होनेसे ही धनादि पदार्थोंकी कामना होती है। इसलिये अवसर प्राप्त हो और योग्यता हो तो सेवा कर देनी चाहिये, पर सेवाकी कामना नहीं करनी चाहिये।

दूसरेको सुख पहुँचाकर सुखी होना, 'मेरे द्वारा लोगोंको सुख मिलता है'—ऐसा भाव रखना, सेवाके बदलेमें किञ्चित् भी मान-

बडाई चाहना और मान-बडाई मिलनेपर राजी—प्रसन्न होना वास्तवमें भोग है, सेवा नहीं। कारण कि ऐसा करनेसे सेवा सुख-भोगमें परिणत हो जाती है अर्थात् सेवा अपने सुखके लिये हो जाती है। यदि सेवा करनेमें थोडा भी सुख लिया जाय, तो वह सुख धनादि पदार्थोमे महत्त्वबुद्धि उत्पन्न कर देता है, जिससे क्रमशः ममता और कामनाकी उत्पत्ति होती है।

'मै किसीको कुछ देता हूँ'—ऐसा भाव सेवामे कलंक है। जिसका ऐसा भाव है, उसे यह बात समझमे नहीं आती एवं कोई उसे आसानीसे समझा भी नहीं सकता कि सेवामे लगनेवाले पदार्थ उसीके है, जिसकी सेवा की जाती है। उसीकी वस्तु उसे ही दे दी, तो फिर बदलेमे कुछ चाहनेका हमे अधिकार ही क्या है? उसीकी धरोहर उसीको देनेमे एहसान कैसा? अपने हाथोंमे अपना मुख धोनेपर बदलेमे क्या हम कुछ चाहते है?

*शङ्का*—धनादि वस्तुओके द्वारा ही सेवा होती है। वस्तुओके बिना सेवा कैसे हो सकती है? अत सेवा करनेके लिये भी वस्तुओकी चाह न करनेसे क्या तात्पर्य है?

*समाधान*—स्थूल वस्तुओसे सेवा करना तो बहुत स्थूल बात है। सेवा वस्तुत. भाव है, कर्म नहीं। कर्मसे बन्धन और सेवासे मुक्ति होती है। सेवाका भाव होनेसे अपने पास जो वस्तुएँ हैं, वे स्वत सेवामें लगती है। भाव होनेसे अपने पास जितनी वस्तुएँ है, उन्हींसे पूर्ण सेवा हो जाती है, इसलिये और वस्तुओंको चाहनेकी आवश्यकता ही नहीं है।

वास्तविक सेवा वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि न रहनेसे ही हो सकती है। स्थूल वस्तुओंसे भी वही सेवा कर सकता है, जिसकी वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि नहीं है। वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि रखते हुए सेवा करनेसे सेवाका अभिमान अवश्य आ जाता है। जबतक अन्त:करणमें वस्तुओंका महत्त्व रहता है, तबतक सेवकमें भोगबुद्धि रहती ही है, चाहे कोई जाने या न जाने।

वास्तवमें सेवा भावसे होती है, वस्तुओंसे नहीं। वस्तुओंसे कर्म होते हैं, सेवा नहीं। अतः वस्तुओंको दे देना ही सेवा नहीं है। वस्तुएँ तो दूकानदार भी देता है, पर साथमें लेनेका भाव रहनेसे उससे पुण्य नहीं होता। ऐसे ही प्रजा राजाको कर-रूपसे धन देती है, पर वह दान नहीं होता। किसीको जल पिलानेपर 'मैंने उसे जल पिलाया, तभी वह सुखी हुआ'—ऐसे भावका रहना दूकानदारी ही है। हम मान-बड़ाई नहीं चाहते, पर 'जल पिलानेसे पुण्य होगा' अथवा 'दान करनेसे पुण्य होगा'—ऐसा भाव रहनेपर भी फलके साथ सम्बन्ध होनेके कारण अन्तःकरणमें जल, धन आदि वस्तुओंका महत्त्व अङ्कित हो जाता है। वस्तुओंका महत्त्व अङ्कित होनेपर फिर वास्तविक सेवा नहीं होती, अपितु लेनेका भाव रहनेसे असत्‌के साथ सम्बन्ध बना रहता है, चाहे जाने या न जाने। इसलिये वस्तुओंको दूसरोंकी सेवामें लगाकर दान-पुण्य नहीं करना है, अपितु उन वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध तोड़ना है।

वास्तविक सेवा वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि न रहनेसे ही हो सकती है। स्थूल वस्तुओंसे भी वही सेवा कर सकता है, जिसकी वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि नहीं है। वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि रखते हुए सेवा करनेसे सेवाका अभिमान अवश्य आ जाता है। जबतक अन्तःकरणमें वस्तुओंका महत्त्व रहता है, तबतक सेवकमें भोगबुद्धि रहती ही है, चाहे कोई जाने या न जाने।

वास्तवमें सेवा भावसे होती है, वस्तुओंसे नहीं। वस्तुओंसे कर्म होते हैं, सेवा नहीं। अतः वस्तुओंको दे देना ही सेवा नहीं है। वस्तुएँ तो दूकानदार भी देता है, पर साथमें लेनेका भाव रहनेसे उससे पुण्य नहीं होता। ऐसे ही प्रजा राजाको कर-रूपसे धन देती है, पर वह दान नहीं होता। किसीको जल पिलानेपर 'मैंने उसे जल पिलाया, तभी वह सुखी हुआ'—ऐसे भावका रहना दूकानदारी ही है। हम मान-बड़ाई नहीं चाहते, पर 'जल पिलानेसे पुण्य होगा' अथवा 'दान करनेसे पुण्य होगा'—ऐसा भाव रहनेपर भी फलके साथ सम्बन्ध होनेके कारण अन्तःकरणमें जल, धन आदि वस्तुओंका महत्त्व अङ्कित हो जाता है। वस्तुओंका महत्त्व अङ्कित होनेपर फिर वास्तविक सेवा नहीं होती, अपितु लेनेका भाव रहनेसे असत्‌के साथ सम्बन्ध बना रहता है, चाहे जानें या न जानें। इसलिये वस्तुओंको दूसरोंकी सेवामें लगाकर दान-पुण्य नहीं करना है, अपितु उन वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध तोड़ना है।

हमारे द्वारा वस्तु उसीको मिल सकती है, जिसका उस वस्तुपर अधिकार है अर्थात् वास्तवमें जिसकी वह वस्तु है। उसे वस्तु देनेसे हमारा ऋण उतरता है । यदि दूसरेको किसी वस्तुकी हमसे अधिक आवश्यकता ( भूख ) है, तो उस वस्तुका वही अधिकारी है । दूसरा अपने अधिकार ( हक ) की ही वस्तु लेता है। हमारे अधिकारकी वस्तु दूसरा ले ही नहीं सकता।

एक बात विशेषरूपसे ध्यान देनेकी है कि सच्चे हृदयसे दूसरोंकी सेवा करनेसे, जिसकी वह सेवा करता है, उस ( सेव्य )-के हृदयमें भी सेवाभाव जाग्रत् होता है—यह नियम है। सच्चे हृदयसे सेवा करनेवाला पुरुष स्थूलदृष्टिसे तो पदार्थोंको सेव्यकी सेवामें लगाता है, पर सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो वह सेव्यके हृदयमें सेवाभाव जाग्रत् करता है। यदि सेव्यके हृदयमें सेवाभाव जाग्रत् न हो, तो साधकको समझ लेना चाहिये कि सेवा करनेमें कोई त्रुटि ( अपने लिये कुछ पाने या लेनेकी सम्भावना ) है। अतः साधकको इस विषयमें विशेष सावधानी रखते हुए ही दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये और अपनी त्रुटियोंको खोजकर निकाल देना चाहिये। दूसरे मुझे अच्छा कहें—ऐसा भाव सेवामें बिल्कुल नहीं रखना चाहिये। ऐसा भाव आते ही उसे तुरंत मिटा देना चाहिये; क्योंकि यह भाव अभिमान बढ़ानेवाला है।

प्रत्येक साधकके लिये संसार केवल कर्तव्य-पालनका क्षेत्र है, सुखी-दुःखी होनेका क्षेत्र नहीं। संसार सेवाके लिये है। संसारमें साधकको सेवा-ही-सेवा करनी है। सेवा करनेमें सबसे

पहले साधकका यह भाव होना चाहिये कि मेरे द्वारा किसीका किञ्चिन्मात्र भी अहित न हो। संसारमें कुछ प्राणी सुखी रहते हैं और कुछ प्राणी दुःखी रहते हैं। दुःखी प्राणीको देखकर दुःखी हो जाना और सुखी प्राणीको देखकर सुखी हो जाना भी सेवा है; क्योंकि इससे दुःखी और सुखी—दोनों व्यक्तियोंको सुखका अनुभव होता है, और उन्हें बल मिलता है कि हमारा भी कोई साथी है! दूसरा दुःखी है तो उसके साथ हम भी हृदयसे दुःखी हो जायँ कि उसका दुःख कैसे मिटे? उससे प्रेमपूर्वक बात करें और सुनें। उससे कहें कि दुःखदायी परिस्थिति आनेपर घबराना नहीं चाहिये; ऐसी परिस्थिति तो भगवान् राम एवं राजा नल, हरिश्चन्द्र आदि अनेक बड़े-बड़े पुरुषोंपर भी आयी है; आजकल तो अनेक लोग तुम्हारेसे भी अधिक दुःखी हैं; हमारे योग्य कोई काम हो तो कहना, इत्यादि। ऐसी बातोंसे वह राजी हो जायगा। ऐसे ही सुखी व्यक्तिसे मिलकर हम भी हृदयसे सुखी हो जायँ कि बहुत अच्छा हुआ, तो वह राजी हो जायगा। इस प्रकार हम दुःखी और सुखी—दोनों व्यक्तियोंकी सेवा कर सकते हैं। दूसरेके दुःख और सुख—दोनोंमें सहमत होकर हम दूसरेको सुख पहुँचा सकते हैं। केवल दूसरोंके हितका भाव निरन्तर रहनेकी आवश्यकता है। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी और दूसरोंके सुखसे सुखी होते हैं, वे सन्त होते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने संतोंके लक्षणोंमें कहा है—

'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर' ( मानस ७। ३७। १ )

यहाँ शङ्का होती है कि यदि हम दूसरोंके दुःखसे दुःखी होने लगें तो फिर हमारा दुःख कभी मिटेगा ही नहीं; क्योंकि संसारमें दुःखी तो मिलते ही रहेंगे! इसका समाधान यह है कि जैसे हमारे ऊपर कोई दुःख आनेसे हम उसे दूर करनेकी चेष्टा करते हैं, वैसे ही दूसरेको दुःखी देखकर अपनी शक्तिके अनुसार उसका दुःख दूर करनेकी चेष्टा होनी चाहिये। उसका दुःख दूर करनेकी सच्ची भावना होनी चाहिये। अतः दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेका तात्पर्य, उसके दुःखको दूर करनेका भाव तथा चेष्टा करनेसे है, जिससे हमें प्रसन्नता ही होगी, दुःख नहीं। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेपर अपने पास शक्ति, योग्यता, पदार्थ आदि जो कुछ भी है, वह सब स्वतः दूसरेका दुःख दूर करनेमें लग जायगा। दुःखी व्यक्तिको सुखी बना देना तो हमारे हाथकी बात नहीं है, पर उसका दुःख दूर करनेके लिये अपनी सुख-सामग्रीको उसके अर्पित कर देना हमारे हाथकी बात है। सुख-सामग्रीके त्यागसे तत्काल शान्तिकी प्राप्ति होती है।

पातञ्जलयोग-दर्शनमें आया है—

**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।** (१।३३)

अर्थात् सुखीके साथ मैत्री, दुःखीके साथ करुणा, पुण्यात्माके साथ प्रसन्नता और पापात्माके साथ उपेक्षाकी भावना रखनेसे चित्त निर्मल होता है।

परन्तु गीतामें भगवान्‌ने इन चारों बातोंको दोमें बाँट दिया है—**'मैत्रः करुण एव च'** ( १२।१३ ) । तात्पर्य यह है कि सुखी और पुण्यात्माको देखकर 'मैत्री' हो एवं दुःखी और पापात्माको देखकर 'करुणा' हो । पापात्माकी उपेक्षासे उतना लाभ नहीं होता, जितना करुणासे होता है । मैत्री और करुणाके भावसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है । मैत्री-भाव होनेसे 'भोग' की इच्छा तथा करुण-भाव होनेसे 'संग्रह' की इच्छा नष्ट हो जाती है, और साधक अपने कहलानेवाले पदार्थोंको दुःखी प्राणियोंकी सेवामें लगा देता है । इस प्रकार साधककी भोग और संग्रहकी इच्छा, जो भगवत्प्राप्तिमें मुख्य बाधा है, सुगमतापूर्वक दूर हो जाती है ।

सेवा करनेका अर्थ है—सुख पहुँचाना । साधकका भाव **'मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्'** ( किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो ) का होनेसे वह वस्तुतः सभीको सुख पहुँचाता है अर्थात् सभीकी सेवा करता है । साधक भले ही सबको सुखी न कर सके, पर वह ऐसा भाव तो बना ही सकता है । भाव बनानेमें सब स्वाधीन हैं, कोई पराधीन नहीं । इसलिये सेवा करनेमें धनादि पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है, अपितु सेवा-भावकी ही आवश्यकता है । क्रियाएँ और पदार्थ चाहे जितने हों, सीमित ही होते हैं । सीमित क्रियाओं और पदार्थोंसे सेवा भी सीमित ही होती है; फिर सीमित सेवासे असीम तत्त्व ( परमात्मा ) की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? परन्तु भाव असीम होता है । असीम भावसे सेवा भी असीम होती है, और असीम सेवासे असीम-तत्त्वकी प्राप्ति होती है । इसलिये

सेवा-भाववाले व्यक्तिकी क्रियाएँ और पदार्थ कम होनेपर भी उसकी सेवा कम नहीं समझनी चाहिये; क्योंकि उसका भाव असीम होता है।

यद्यपि साधकके कर्तव्य-पालनका क्षेत्र सीमित ही होता है, तथापि उसमें जिन-जिनसे उसका व्यवहार होता है, उनमें वह सुखीको देखकर सुखी एवं दुःखीको देखकर दुःखी होता है। पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिको जो अपना नहीं मानता, वही दूसरोंके सुखमें सुखी एवं दुःखमें दुःखी हो सकता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि अपने और अपने लिये हैं ही नहीं—यह वास्तविकता है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, योग्यता, सामर्थ्य आदि कुछ भी व्यक्तिगत नहीं है। इन पदार्थोंमें भूलसे माने हुए अपने-पनका त्याग प्रत्येक मनुष्य कर सकता है, चाहे वह दरिद्र-से-दरिद्र हो अथवा धनी-से-धनी; पढ़ा-लिखा हो अथवा अनपढ़। इस त्यागमें सब-के-सब स्वाधीन तथा समर्थ हैं।

सच्चे सेवककी वृत्ति नाशवान् वस्तुओंपर जाती ही नहीं; क्योंकि उसके अन्तःकरणमें वस्तुओंका महत्त्व नहीं होता। अन्तः-करणमें वस्तुओंका महत्त्व होनेपर ही वस्तुएँ व्यक्तिगत ( अपनी ) प्रतीत होती हैं। साधकको चाहिये कि वह पहलेसे ही ऐसा मान ले कि वस्तुएँ मेरी नहीं हैं, और मेरे लिये भी नहीं हैं। वस्तुओंको अपनी और अपने लिये माननेसे भोग ही होता है, सेवा नहीं। इस प्रकार वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर सेव्यकी ही मानते हुए सेवामें लगा देनेसे राग-द्वेष सुगमतापूर्वक मिट जाते हैं।

हि—क्योंकि।

**तौ अस्य परिपन्थिनौ ( स्तः )**—वे दोनों ही इस (साधक) के ( पारमार्थिक मार्गमें विघ्न डालनेवाले ) शत्रु हैं।

पारमार्थिक मार्गमें राग-द्वेष ही साधककी साधन-सम्पत्तिको लूटनेवाले मुख्य शत्रु हैं। परन्तु इस ओर प्रायः साधक ध्यान नहीं देता। यही कारण है कि साधन करनेपर भी साधककी जितनी आध्यात्मिक उन्नति होनी चाहिये, उतनी होती नहीं। प्रायः साधकोंकी यह शिकायत रहती है कि मन नहीं लगता; पर वास्तवमें मनका न लगना उतना बाधक नहीं है, जितने बाधक राग-द्वेष हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह मनकी एकाग्रताको महत्त्व न दे। और जहाँ-जहाँ राग-द्वेष दिखायी दें वहाँ-वहाँसे उन्हें तत्काल हटा दे। राग-द्वेप हटानेपर मन लगना भी सुगम हो जायगा।

स्वाभाविक कर्मोंका त्याग करना तो हाथकी बात नहीं है, पर उन कर्मोंको राग-द्वेषपूर्वक करना या न करना बिल्कुल हाथकी बात है। साधक जो कर सकता है, वही करनेके लिये भगवान् आज्ञा देते हैं कि राग-द्वेपयुक्त स्फुरणा उत्पन्न होनेपर भी उसके अनुसार कर्म मत करो; क्योंकि वे दोनों ही पारमार्थिक मार्गके लुटेरे हैं। ऐसा करनेमें साधक स्वतन्त्र है। वास्तवमें राग-द्वेप स्वतः नष्ट हो रहे हैं, पर साधक उन राग-द्वेपको अपनेमें मानकर उन्हें सत्ता दे देता है और उसके अनुसार कर्म करने लगता है। इसी कारण वे दूर नहीं होते। यदि साधक राग-द्वेपको अपनेमें न मानकर उसके अनुसार कर्म न करे, तो वे स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

सम्बन्ध—

*राग-द्वेषके वशमें न होकर क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इस जिज्ञासाकी पूर्ति करते हुए भगवान् अर्जुनके मूल प्रश्न ( मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? ) का उत्तर मुख्यरूपसे अगले श्लोकमें देते हैं।*

श्लोक—

**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**
**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥**

भावार्थ—

राग-द्वेषके वशीभूत न होकर मनुष्यको अपने कर्तव्य-कर्म ( स्वधर्म ) का ही पालन करना चाहिये। कारण कि भलीभाँति आचरणमें लाये हुए दूसरोंके गुणयुक्त कर्तव्य-कर्म (परधर्म) की अपेक्षा भलीभाँति आचरणमें न लाया हुआ और गुणोंकी कमीवाला भी अपना कर्तव्य-कर्म ( स्वधर्म ) श्रेष्ठ है।

निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते हुए यदि मनुष्यकी मृत्यु हो जाय, तो भी उसका कल्याण ही होता है। इसके विपरीत जो कर्म अपने लिये कर्तव्य नहीं है अर्थात् अपने लिये निषिद्ध है, उस ( दूसरोंके कर्तव्य-कर्म ) का आचरण जन्म-मृत्युरूप भयको देनेवाला है।

भगवान्‌ने इस श्लोकमें स्वधर्म और परधर्मके विषयमें चार बातें कही हैं—( १ ) 'विगुणः', ( २ ) 'स्वनुष्ठितात्', ( ३ ) 'श्रेयान्' और ( ४ ) 'भयावहः'। इनमें 'विगुणः' पद धर्मके स्वरूपको लेकर

है अर्थात् स्वधर्ममें गुणोंकी कमी और परधर्ममें गुणोंकी बहुलता है, फिर भी स्वधर्मका पालन ही श्रेयस्कर है। 'स्वनुष्ठितात्' पद धर्मके अनुष्ठानको लेकर है अर्थात् स्वधर्मका पालन कठिन है, उससे जीवन सुखपूर्वक नहीं बीतता तथा उसके पालनमें मन नहीं लगता और परधर्मका पालन सुगम है, उससे जीवन सुखपूर्वक बीतता है तथा उसके पालनमें मन लगता है, तो भी स्वधर्मका ही पालन करना चाहिये। 'श्रेयान्' और 'भयावहः' पद धर्मके परिणामको लेकर हैं अर्थात् स्वधर्म कल्याणको देनेवाला और परधर्म भयको देनेवाला है। इसलिये मनुष्यको निष्काम, निर्मम और अनासक्त होकर स्वधर्मका ही पालन करना चाहिये।

अर्जुन क्षत्रिय हैं और क्षत्रियके लिये युद्धरूप घोर कर्म भी स्वधर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्म है। अपने क्षात्र-धर्मका पालन करनेके लिये युद्ध घोर कर्म दीखता हुआ भी वस्तुतः घोर नहीं, अपितु सौम्य है। केवल अपने मनकी धारणा या आग्रह रहनेसे अर्जुनको युद्धरूप स्वधर्मकी अपेक्षा भिक्षारूप परधर्म ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है ( गीता २ । ५ ); क्योंकि अपना आग्रह और राग-द्वेष रहनेसे वास्तविक बात समझमें नहीं आती। इसलिये अर्जुन भगवान्‌से पूछते हैं कि आप मुझे इस युद्धरूप भयंकर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? ( गीता ३ । १ )। यहाँ भगवान् मुख्यरूपसे उस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि स्वधर्मका पालन ही कल्याण करनेवाला है, परधर्मका नहीं। कल्याणका सम्बन्ध स्वधर्मके साथ है, स्वरूपसे घोर अथवा सौम्य प्रतीत होनेवाले कर्मोंके साथ नहीं, जीवन अथवा मृत्युके साथ नहीं, सुख अथवा दुःखके साथ नहीं।

अन्वय—

स्वनुष्ठितात्, परधर्मात्, विगुणः, स्वधर्मः, श्रेयान्, स्वधर्मे, निधनम्, श्रेयः, परधर्मः, भयावहः ॥ ३५ ॥

पद-व्याख्या—

**स्वनुष्ठितात् परधर्मात् विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्**—भलीभाँति आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मकी अपेक्षा गुणोंकी कमीवाला भी अपना धर्म श्रेष्ठ है।

अर्जुनके मूल प्रश्नमें आया **'ज्यायसी'** ( ३ । १ ) और यहाँ आया **'श्रेयान्'**—दोनों शब्द एक ही हैं। इससे ज्ञात होता है कि भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्नका उत्तर मुख्यरूपसे इसी श्लोकमें दिया है।

अन्य वर्ण, आश्रम आदिका धर्म ( कर्तव्य ) बाहरसे देखनेमें गुणसम्पन्न हो, उसके पालनमें भी सुगमता हो, पालन करनेमें मन भी लगता हो, धन-वैभव, सुख-सुविधा, मान-बड़ाई आदि भी मिलती हो और जीवनभर सुख-आरामसे भी रह सकते हों, तो भी उस परधर्मका पालन अपने लिये विहित न होनेसे परिणाममें भय ( दुःख )को देनेवाला है। इसके विपरीत अपने वर्ण, आश्रम आदिका धर्म बाहरसे देखनेमें गुणोंकी कमीवाला हो, उसके पालनमें भी कठिनाई हो, पालन करनेमें मन भी न लगता हो, धन-वैभव, सुख-सुविधा, मान-बड़ाई आदि भी न मिलती हो और उसका पालन करनेमें जीवनभर कष्ट भी सहना पड़ता हो, तो भी उस स्वधर्मका निष्कामभावसे पालन करना परिणाममें कल्याण करनेवाला है। अतएव मनुष्यको किसी भी स्थितिमें अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये।

मनुष्यके लिये स्वधर्मका पालन स्वभाव, सहज है। मनुष्यका 'जन्म' कर्मोंके अनुसार होता है* और जन्मके अनुसार भगवान्‌ने 'कर्म' नियत किये हैं।† अतः अपने-अपने नियत कर्मोंका पालन करनेसे मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है अर्थात् उसका कल्याण हो जाता है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** ( गीता १८ । ४५ )। अतएव दोषयुक्त दीखनेपर भी नियत कर्म अर्थात् स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये—**'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्'** ( गीता १८ । ४८ )।

अर्जुन युद्ध करनेकी अपेक्षा भिक्षाका अन्न खाकर जीवन-निर्वाह करनेको श्रेष्ठ समझते हैं—**'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'** ( गीता २ । ५ )। परंतु यहाँ भगवान् अर्जुनको मानो यह समझाते हैं कि भिक्षाके अन्नसे जीवन-निर्वाह करना भिक्षुकके लिये स्वधर्म होते हुए भी तेरे लिये परधर्म है; क्योंकि तू गृहस्थ क्षत्रिय है, भिक्षुक नहीं। पहले अध्यायमें भी जब अर्जुनने कहा कि युद्ध करनेसे पाप ही लगेगा—**'पापमेवाश्रयेत्'** ( १ । ३६ ) तब भी भगवान्‌ने कहा कि धर्ममय युद्ध न करनेसे तू स्वधर्म

---

* सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। ( योगदर्शन २ । १३ )

'मूल ( अविद्यादि क्लेशों )के विद्यमान रहनेतक उस ( कर्म-समूह ) का फल जन्म, आयु और भोग ( अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति )के रूपमें प्राप्त होता रहता है।'

† ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
( गीता १८ । ४१ )

और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा*। फिर भगवान्ने बतलाया कि जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर युद्ध करनेसे अर्थात् राग-द्वेषसे रहित होकर अपने कर्तव्य (स्वधर्म) का पालन करनेसे पाप नहीं लगता†। आगे अठारहवें अध्यायमें भी भगवान्ने यही बात कही है कि स्वभावनियत स्वधर्मरूप कर्तव्यको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता—**'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'** ( १८ । ४७ ) । तात्पर्य यह है कि स्वधर्मके पालनमें राग-द्वेष रहनेसे ही पाप लगता है, अन्यथा नहीं। राग-द्वेषसे रहित होकर स्वधर्मका भलीभाँति आचरण करनेसे 'समता' ( योग ) का अनुभव होता है और समताका अनुभव होनेपर दुःखोंका नाश हो जाता है—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'** ( गीता ६ । २३ ) । इसलिये भगवान् बार-बार अर्जुनको राग-द्वेषसे रहित होकर युद्धरूप स्वधर्मका पालन करनेपर जोर देते हैं।

भगवान् अर्जुनको मानो यह समझाते हैं कि क्षत्रिय-कुलमें जन्म होनेके कारण क्षात्रधर्मके नाते युद्ध करना तुम्हारा स्वधर्म ( कर्तव्य ) है; अतः युद्धमें जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान देखना है; और युद्धरूप क्रियाका सम्बन्ध अपने साथ नहीं है—ऐसा समझकर केवल कर्मोंकी आसक्ति मिटानेके लिये कर्म

---

* अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ (गीता २ । ३३)

† सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (गीता २ । ३८)

करना है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही हैं।

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार अपने-अपने कर्तव्यका निःस्वार्थ भावसे पालन करना ही 'स्वधर्म' है। आस्तिकजन जिसे 'धर्म' कहते हैं, उसीका नाम 'कर्तव्य' है। स्वधर्मका पालन करना अथवा अपने कर्तव्यका पालन करना **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः'** ( गीता १८। ४५ ) एक ही बात है।

कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसे सुगमतापूर्वक कर सकते हैं, जो अवश्य करनेयोग्य है और जिसे करनेपर प्राप्तव्यकी प्राप्ति अवश्य होती है। धर्मका पालन करना सुगम होता है; क्योंकि वह कर्तव्य होता है। यह नियम है कि केवल अपने धर्मका भलीभाँति पालन करनेसे मनुष्यको वैराग्य हो जाता है—'धर्म तें बिरति' ( मानस ३। १५। १ )। केवल कर्तव्यमात्र समझकर धर्मका पालन करनेसे कर्मोंका प्रवाह प्रकृतिमें चला जाता है और इस प्रकार अपने साथ कर्मोंका सम्बन्ध नहीं रहता।

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार सभी मनुष्योंका अपना-अपना कर्तव्य ( स्वधर्म ) कल्याणप्रद है। परंतु दूसरे वर्ण, आश्रम आदिका कर्तव्य देखनेसे अपना कर्तव्य अपेक्षाकृत कम गुणोंवाला दीखता है; जैसे—ब्राह्मणके कर्तव्य ( शम, दम, तप, क्षमा आदि ) की अपेक्षा क्षत्रियके कर्तव्य ( युद्ध करना आदि ) में अहिंसादि गुणोंकी कमी दीखती है। इसीलिये यहाँ 'विगुणः' पद देनेका भाव यह है कि दूसरोंके कर्तव्यकी अपेक्षा अपने कर्तव्यमें गुणोंकी कमी

दीखनेपर भी अपना कर्तव्य ही कल्याण करनेवाला है। अतः किसी भी अवस्थामें अपने कर्तव्यका त्याग नहीं करना चाहिये।

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार बाहरसे तो कर्म भिन्न-भिन्न ( घोर या सौम्य ) प्रतीत होते हैं, पर परमात्मप्राप्तिरूप उद्देश्य एक ही होता है। परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य न रहनेसे तथा अन्तःकरणमें प्राकृत पदार्थोंका महत्त्व रहनेसे ही कर्म घोर या सौम्य प्रतीत होते हैं।

**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**—अपने धर्ममें ( तो ) मरना ( भी ) कल्याणकारक है।

मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। परमात्मप्राप्ति अपने धर्मका पालन करनेसे होती है। इसलिये सभी ग्रन्थ अपने धर्मका पालन करनेपर ही जोर देते हैं; जैसे—दूसरोंकी सेवा करना धर्म है, इसलिये सभी ग्रन्थोंमें दूसरोंकी सेवा करनेकी आज्ञा दी गयी है; परन्तु दूसरोंसे अपनी सेवा करवानेकी आज्ञा किसी ग्रन्थमें नहीं दी गयी है।

स्वधर्म-पालनमें यदि सदा सुख-आराम, धन-सम्पत्ति, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदि ही मिलते तो वर्तमानमें धर्मात्माओंकी टोलियाँ देखनेमें आतीं। परंतु स्वधर्मका पालन सुख अथवा दुःखको देखकर नहीं किया जाता, अपितु भगवान् अथवा शास्त्रकी आज्ञाको देखकर निष्कामभावसे किया जाता है। इसलिये स्वधर्म अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन करते हुए यदि कोई कष्ट आ जाय तो वह कष्ट भी उन्नति करनेवाला होता है। वास्तवमें वह कष्ट

नहीं, अपितु तप होता है। वस्तुतः उस कष्टसे तपकी अपेक्षा भी बहुत शीघ्र उन्नति होती है। कारण कि तप अपने लिये किया जाता है और कर्तव्य दूसरोंके लिये। जानकर किये गये तपसे उतना लाभ नहीं होता, जितना लाभ स्वतः आये हुए कष्टरूप तपसे होता है। जिन्होंने स्वधर्म-पालनमें कष्ट सहन किया और जो स्वधर्मका पालन करते हुए मर गये, वे धर्मात्मा पुरुष अमर हो गये। लौकिक दृष्टिसे भी जो कष्ट आनेपर भी अपने धर्म (कर्तव्य) पर डटा रहता है, उसकी बहुत प्रशंसा और महिमा होती है। जैसे, देशको स्वतन्त्र बनानेके लिये जिन पुरुषोंने कष्ट सहे, बार-बार जेल गये और फाँसीपर लटकाये गये, उनकी आज भी बहुत प्रशंसा और महिमा होती है। इसके विपरीत बुरे कर्म करके जेल जानेवालोंकी सब जगह निन्दा होती है। तात्पर्य यह निकला कि निष्कामभावपूर्वक अपने धर्मका पालन करते हुए कष्ट आ जाय अथवा मृत्युतक भी हो जाय, तो भी उससे लोकमें प्रशंसा और परलोकमें कल्याण ही होता है।

स्वधर्मका पालन करनेवाले मनुष्यकी दृष्टि धर्मपर रहती है। धर्मपर दृष्टि रहनेसे उसका धर्मके साथ सम्बन्ध रहता है। अतएव धर्म-पालन करते हुए यदि मृत्यु भी हो जाय, तो उसका उद्धार हो जाता है।

*शङ्का*—स्वधर्म-पालनमें मरनेसे कल्याण ही होता है, इसे कैसे मानें?

*समाधान*—गीता साक्षात् भगवान्‌की वाणी है। अतः इसमें शङ्काकी सम्भावना ही नहीं है। दूसरे, यह चर्म-चक्षुओंका प्रत्यक्ष

विषय नहीं है, अपितु श्रद्धा-विश्वासका विषय है। फिर भी इस विषयमें कुछ बातें बतलायी जाती हैं।

१—जिस विषयका हमें पता नहीं है, उसका पता शास्त्रसे ही लगता है*। शास्त्रमें आया है कि जो धर्मकी रक्षा करता है उसकी रक्षा ( कल्याण ) धर्म करता है—**'धर्मो रक्षति रक्षितः'** ( मनुस्मृति ८। १५ )। अतएव जो धर्मका पालन करता है, उसके कल्याणका भार धर्मपर और धर्मके उपदेष्टा भगवान्, वेदों, शास्त्रों, ऋषियों, मुनियों आदिपर होता है तथा उन्हींकी शक्तिसे उसका कल्याण होता है। जैसे हमारे शास्त्रोंमें आया है कि पातिव्रत-धर्मका पालन करनेसे स्त्रीका कल्याण हो जाता है, तो वहाँ पातिव्रत-धर्मकी आज्ञा देनेवाले भगवान्, वेद, शास्त्र आदिकी शक्तिसे ही कल्याण होता है, पतिकी शक्तिसे नहीं। ऐसे ही धर्मका पालन करनेके लिये भगवान्, वेदों, शास्त्रों, ऋषि-मुनियों और संत-महात्माओंकी आज्ञा है, इसलिये धर्म-पालन करते हुए मरनेपर उनकी शक्तिसे कल्याण हो जाता है, इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है।

२—पुराणों और इतिहासोंसे भी सिद्ध होता है कि अपने धर्मका पालन करनेवालेका कल्याण होता है। जैसे, राजा हरिश्चन्द्र अनेक कष्ट, निन्दा, अपमान आदिके आनेपर भी अपने 'सत्य'-धर्मसे

---

* अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥

'जो अनेक संदेहोंको दूर करनेवाला और परोक्ष ( अप्रत्यक्ष ) विषयको दिखानेवाला है, वह शास्त्र सभीका नेत्र है। अतः जिसे शास्त्रका ज्ञान नहीं, वह अंधा ही है।'

विचलित नहीं हुए, अतः इसके प्रभावसे वे समस्त प्रजाको साथ लेकर परमधाम गये* और आज भी उनकी बहुत प्रशंसा और महिमा है।

३—वर्तमान समयमें पुनर्जन्म-सम्बन्धी अनेक सत्य घटनाएँ देखने, सुनने और पढ़नेमें आती हैं, जिनसे मृत्युके बाद होनेवाली सद्गति-दुर्गतिका पता लगता है†।

४—निःस्वार्थभावसे अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेपर आस्तिककी तो बात ही क्या, परलोकको न माननेवाले नास्तिकके भी चित्तमें सात्त्विक प्रसन्नता आ जाती है। यह प्रसन्नता कल्याणका द्योतक है; क्योंकि कल्याणका वास्तविक स्वरूप 'परम-शान्ति' है। अतएव अपने अनुभवसे भी सिद्ध होता है कि अकर्तव्यका सर्वथा त्याग करके कर्तव्यका भलीभाँति पालन करनेसे कल्याण होता है।

## विशेष बात—

वास्तवमें अपना उद्धार अथवा परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना मनुष्य-मात्रका स्वधर्म है; क्योंकि मनुष्यशरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यवाला मनुष्य 'स्व' को अर्थात् अपनेको जो मानता है, उसका धर्म ( कर्तव्य ) ही 'स्वधर्म' है; जैसे—वह अपनेको साधक मानता है तो साधकका धर्म उसका

* द्रष्टव्य—मार्कण्डेयपुराण, देवीभागवत आदि।

† द्रष्टव्य—'कल्याण' मासिकपत्रके ४३ वें वर्ष ( १९६८ )का विशेषाङ्क 'परलोक और पुनर्जन्माङ्क'।

स्वधर्म है; अपनेको ब्राह्मण मानता है तो ब्राह्मणका धर्म उसका स्वधर्म है, इत्यादि।

परमात्मप्राप्तिके इच्छुक साधकको धन, मान, बड़ाई, आदर, आराम आदि पानेकी इच्छा नहीं होती। इसलिये धन-मानादिके न मिलनेपर उसे कोई चिन्ता नहीं होती और यदि प्रारब्धवश ये मिल जायँ तो उसे कोई प्रसन्नता नहीं होती। कारण कि उसका ध्येय केवल परमात्माको प्राप्त करना ही होता है, धन-मानादिको प्राप्त करना नहीं। इसलिये कर्तव्यरूपसे प्राप्त लौकिक कार्य भी उसके द्वारा सुचारुरूपसे और पवित्रतापूर्वक होते हैं। परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेसे उसके सभी कर्म परमात्माके लिये ही होते हैं। दूसरी ओर, सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे पुरुषका ध्येय परमात्म-प्राप्ति न होनेसे उसे परमात्मप्राप्ति होनी तो दूर रही, कर्तव्यरूपसे प्राप्त लौकिक कार्य भी उसके द्वारा सुचारुरूपसे नहीं होते। जैसे, धन-प्राप्तिका ध्येय होनेपर व्यापारी आरामका त्याग करता है और कष्ट सहता है और जैसे डाक्टरद्वारा फोड़ेपर चीरा लगाते समय 'इसका परिणाम अच्छा होगा'—इस ओर दृष्टि रहनेसे रोगीका अन्तःकरण प्रसन्न रहता है, वैसे ही परमात्मप्राप्तिका लक्ष्य रहनेसे संसारमें पराजय, हानि, कष्ट आदि प्राप्त होनेपर भी साधकके अन्तःकरणमें स्वाभाविक प्रसन्नता रहती है। अनुकूल-प्रतिकूल आदि मात्र परिस्थिति उसके लिये साधन-सामग्री होती है।

जब साधक अपना कल्याण करनेका ही दृढ़ निश्चय करके स्वधर्म (अपने स्वाभाविक कर्म) के पालनमें तत्परतापूर्वक लग जाता

है, तब कोई कष्ट, दुःख, कठिनाई आदि आनेपर भी वह स्वधर्मसे विचलित नहीं होता। इतना ही नहीं, वह कष्ट, दुःख आदि उसके लिये तपस्याके रूपमें तथा प्रसन्नताको देनेवाला होता है।

शरीरको 'मैं' और 'मेरा' माननेसे ही संसारमें राग-द्वेष होते हैं। राग-द्वेषके रहनेपर मनुष्यको स्वधर्म-परधर्मका ज्ञान नहीं होता। यदि शरीर 'मैं' ( स्वरूप ) होता तो 'मैं' के रहते हुए शरीर भी रहता और शरीरके न रहनेपर 'मैं' भी न रहता। यदि शरीर 'मेरा' होता तो इसे पानेके बाद और कुछ पानेकी इच्छा न रहती। यदि इच्छा रहती है तो सिद्ध हुआ कि वस्तुतः 'मेरी' ( अपनी ) वस्तु अभी नहीं मिली और मिली हुई वस्तु ( शरीरादि ) 'मेरी' नहीं है। शरीरको साथ लाये नहीं, साथ ले जा सकते नहीं, उसमें इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते नहीं, फिर वह 'मेरा' कैसे? इस प्रकार 'शरीर मैं नहीं और मेरा नहीं' इसका ज्ञान ( विवेक ) सभी साधकोंमें रहता है। परंतु इस ज्ञानको महत्त्व न देनेसे उनके राग-द्वेष नहीं मिटते। यदि शरीरमें कभी 'मैं'-पन और 'मेरा'-पन दीख भी जाय, तो भी साधकको उसे महत्त्व न देकर अपने विवेकको ही महत्त्व देना चाहिये अर्थात् 'शरीर मैं नहीं और मेरा नहीं' इसी बातपर दृढ़ रहना चाहिये। अपने विवेकको महत्त्व देनेसे वास्तविक तत्त्वका बोध हो जाता है। बोध होनेपर राग-द्वेष नहीं रहते। राग-द्वेषके न रहनेपर अन्तःकरणमें स्वधर्म-परधर्मका ज्ञान स्वतः प्रकट होता है और तदनुसार स्वतः चेष्टा होती है।

**परधर्मः भयावहः**—( और ) दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।

यद्यपि परधर्मका पालन वर्तमानमें सुगम दीखता है, तथापि परिणाममें वह सिद्धान्तसे भयावह है। यदि मनुष्य 'स्वार्थभाव'का त्याग करके परहितके लिये स्वधर्मका पालन करे, तो उसके लिये कहीं कोई भय नहीं है।

*शङ्का*—अठारहवें अध्यायके बयालीसवें, तैंतालीसवें और चौवालीसवें श्लोकमें क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करके भगवान्‌ने सैंतालीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें भी यही बात (**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्**) कही है। अतः जब यहाँ ( प्रस्तुत श्लोकमें ) दूसरेके स्वाभाविक कर्मको भयावह कहा गया है, तब अठारहवें अध्यायमें वर्णित ब्राह्मणके 'स्वाभाविक कर्म'*भी दूसरों ( क्षत्रियादि ) के लिये भयावह होने चाहिये। जब कि शास्त्रोंमें सभी मनुष्योंको उनका पालन करनेकी आज्ञा दी गयी है।

---

* शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
( गीता १८। ४२ )

'मनका निग्रह करना; इन्द्रियोंका दमन करना; धर्म-पालनके लिये कष्ट सहना; बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना; दूसरोंके अपराधोंको क्षमा करना; मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना; वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करना; यज्ञविधिका अनुभव करना; और वेद, शास्त्र, ईश्वर, परलोक आदिमें श्रद्धा रखना—ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।'

*समाधान*—मनका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन आदि तो 'सामान्य धर्म' हैं ( गीता १३ । ७–११; १६ । १–३ ), जिनका पालन सभीको करना चाहिये; क्योंकि ये सभीके स्वधर्म हैं । ये सामान्य धर्म ब्राह्मणके लिये 'स्वाभाविक कर्म' इसलिये हैं कि इनका पालन करनेमें उन्हें परिश्रम नहीं होता; परन्तु दूसरे वर्णोंको इनका पालन करनेमें थोड़ा परिश्रम हो सकता है । स्वाभाविक कर्म और सामान्य धर्म—दोनों ही 'स्वधर्म' के अन्तर्गत आते हैं । सामान्य धर्मके अतिरिक्त अपने स्वाभाविक कर्ममें पाप दीखते हुए भी वस्तुतः पाप नहीं होता; जैसे—केवल अपना कर्तव्य समझकर ( स्वार्थ, द्वेष आदिके बिना ) शूरवीरतापूर्वक युद्ध करना क्षत्रियका स्वाभाविक कर्म होनेसे इसमें पाप दीखते हुए भी वस्तुतः पाप नहीं होता—**'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'** ( गीता १८ । ४७ )।

प्रस्तुत ( पैंतीसवें ) श्लोकमें जीविकाके सम्बन्धमें स्वधर्म और परधर्मका वर्णन किया गया है । सामान्य धर्मके अतिरिक्त दूसरेका स्वाभाविक कर्म ( परधर्म ) भयावह है; क्योंकि उसका आचरण शास्त्रनिषिद्ध और दूसरेकी जीविकाको छीननेवाला है । दूसरेका धर्म भयावह इसलिये है कि उसका पालन न करनेसे पाप लगता है और वह स्थान-विशेष तथा योनि-विशेष नरकरूप भयको देनेवाला होता है । इसलिये भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि भिक्षाके अन्नसे जीवन-निर्वाह करना दूसरोंकी जीविकाका हरण करनेवाला तथा क्षत्रियके लिये निषिद्ध होनेके कारण तेरे लिये श्रेयस्कर नहीं

है, अपितु तेरे लिये युद्धरूपसे स्वतः प्राप्त* स्वाभाविक कर्मका पालन ही श्रेयस्कर है।

## स्वधर्म और परधर्म-सम्बन्धी मार्मिक बात

परमात्मा और उनका अंश ( जीवात्मा ) 'स्वयं' है तथा प्रकृति और उसका कार्य ( शरीर आदि ) 'अन्य' है। स्वयंका धर्म 'स्वधर्म' और अन्यका धर्म 'परधर्म' कहलाता है। अतः सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो निर्विकारता, निर्दोषता, अविनाशिता, नित्यता, निष्कामता, निर्ममता आदि जितने स्वयंके धर्म हैं, वे सब 'स्वधर्म' हैं। उत्पन्न होना, उत्पन्न होकर रहना, बदलना, बढ़ना, क्षीण होना तथा नष्ट होना† एवं भोग और संग्रहकी इच्छा, मान-बड़ाईकी इच्छा आदि जितने शरीरके धर्म हैं, वे सब 'परधर्म' हैं। स्वयंमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, इसलिये उसका नाश नहीं होता; परन्तु शरीरमें निरन्तर परिवर्तन होता है, इसलिये उसका नाश होता है। इस दृष्टिसे स्वधर्म अविनाशी और परधर्म नाशवान् है।

त्याग ( कर्मयोग ), बोध ( ज्ञानयोग ) और प्रेम ( भक्तियोग ) —ये तीनों ही स्वतः सिद्ध होनेसे स्वधर्म हैं। स्वधर्ममें अभ्यासकी

---

* यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
( गीता २। ३२ )

'हे पार्थ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं।'

† 'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति......'
( निरुक्त १। १। २ )

आवश्यकता नहीं है; क्योंकि अभ्यास शरीरके सम्बन्धसे होता है और शरीरके सम्बन्धसे होनेवाला सब परधर्म है।

योगी होना स्वधर्म है और भोगी होना परधर्म है। निर्लिप्त रहना स्वधर्म है और लिप्त होना परधर्म है। सेवा करना स्वधर्म है और कुछ भी चाहना परधर्म है। प्रेमी होना स्वधर्म है और रागी होना परधर्म है। निष्काम, निर्मम और अनासक्त होना स्वधर्म है एवं कामना, ममता और आसक्ति करना परधर्म है। तात्पर्य है कि प्रकृतिके सम्बन्धके बिना ( स्वयंमें ) होनेवाला सब कुछ 'स्वधर्म' है और प्रकृतिके सम्बन्धसे होनेवाला सब कुछ 'परधर्म' है। स्वधर्म चिन्मय-धर्म और परधर्म जड़-धर्म है।

परमात्माका अंश ( शरीरी ) 'स्व' है और प्रकृतिका अंश ( शरीर ) 'पर' है। 'स्व' के दो अर्थ होते हैं—एक तो 'स्वयं' और दूसरा 'स्वकीय' अर्थात् परमात्मा। इस दृष्टिसे अपने स्वरूप-बोधकी इच्छा तथा स्वकीय परमात्माकी इच्छा—दोनों ही 'स्वधर्म' हैं।

पुरुष (चेतन )का धर्म है—स्वतःसिद्ध स्वाभाविक स्थिति और प्रकृति ( जड़ )का धर्म है—स्वतःसिद्ध स्वाभाविक परिवर्तनशीलता। पुरुषका धर्म 'स्वधर्म' और प्रकृतिका धर्म 'परधर्म' है।

मनुष्यमें दो प्रकारकी इच्छाएँ रहती हैं—'सांसारिक' अर्थात् भोग एवं संग्रहकी इच्छा और 'पारमार्थिक' अर्थात् अपने कल्याणकी इच्छा। इसमें भोग और संग्रहकी इच्छा 'परधर्म' अर्थात् शरीरका धर्म है; क्योंकि असत् शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही भोग

और संग्रहकी इच्छा होती है। अपने कल्याणकी इच्छा 'स्वधर्म' है; क्योंकि परमात्माका ही अंश होनेसे स्वयंकी इच्छा परमात्माकी ही है, संसारकी नहीं।

स्वधर्मका पालन करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है; क्योंकि अपना कल्याण करनेमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत इनसे विमुख होनेकी आवश्यकता है। परंतु परधर्मका पालन करनेमें मनुष्य परतन्त्र है; क्योंकि इसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिकी आवश्यकता है। शरीरादिकी सहायताके बिना परधर्मका पालन हो ही नहीं सकता।

स्वयं परमात्माका अंश है और शरीर संसारका अंश है। जब मनुष्य परमात्माको अपना मान लेता है, तब यह उसके लिये 'स्वधर्म' हो जाता है, और जब शरीर-संसारको अपना मान लेता है, तब यह उसके लिये 'परधर्म' हो जाता है, जो शरीर-धर्म है। जब मनुष्य शरीरसे अपना सम्बन्ध न मानकर परमात्म-प्राप्तिके लिये साधन करता है, तब वह साधन उसका 'स्वधर्म' होता है। नित्यप्राप्त परमात्माका अथवा स्वयंका अनुभव करानेवाले सब साधन 'स्वधर्म' हैं और संसारकी ओर ले जानेवाले सब कर्म 'परधर्म' हैं। इस दृष्टिसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्ग मनुष्यमात्रके 'स्वधर्म' हैं। इसके विपरीत शरीरसे अपना सम्बन्ध मानकर भोग और संग्रहमें लगना मनुष्यमात्रका 'परधर्म' है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे किये जानेवाले तीर्थ, व्रत, दान, तप, चिन्तन, ध्यान, समाधि आदि समस्त शुभ-

कर्म सकामभावसे अर्थात् अपने लिये करनेपर 'परधर्म' हो जाते हैं और निष्कामभावसे अर्थात् दूसरोंके लिये करनेपर 'स्वधर्म' हो जाते हैं। कारण कि 'स्वयं' निष्काम है और सकामभाव प्रकृतिके सम्बन्धसे आता है। इसलिये कामना होनेसे परधर्म होता है। स्वधर्म मुक्त करनेवाला और परधर्म बाँधनेवाला होता है।

मनुष्यका खास काम है—परधर्मसे विमुख होना और स्वधर्मके सम्मुख होना। ऐसा केवल मनुष्य ही कर सकता है। स्वधर्मकी सिद्धिके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है। परधर्म तो अन्य योनियोंमें तथा भोगप्रधान स्वर्गादि लोकोंमें भी है। स्वधर्ममें मनुष्यमात्र सबल, पात्र और स्वाधीन है तथा परधर्ममें मनुष्यमात्र निर्बल, अपात्र और पराधीन है। प्रकृतिजन्य वस्तुकी कामनासे अभावका दुःख और वस्तुके मिलनेपर उस वस्तुकी पराधीनता अवश्य होती है, जो 'परधर्म' है। परन्तु प्रकृतिजन्य वस्तुओंकी कामनाओंका नाश होनेपर अभाव और पराधीनता सदाके लिये मिट जाते हैं, जो 'स्वधर्म' है। इस स्वधर्ममें स्थित रहते हुए कितना ही कष्ट आ जाय, यहाँतक कि शरीर भी छूट जाय, तो भी वह कल्याण करनेवाला है। परन्तु परधर्मके सम्बन्धमें सुख-सुविधा होनेपर भी वह भयावह अर्थात् बारंबार जन्म-मरणमें डालनेवाला है।

संसारमें जितने भी दुःख, शोक, चिन्ता आदि हैं, वे सब परधर्मका आश्रय लेनेसे ही हैं। परधर्मका आश्रय त्यागकर स्वधर्मका आश्रय लेनेसे सदैव, सर्वथा, सर्वदा रहनेवाले आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जो स्वतःसिद्ध है।

सम्बन्ध—

स्वधर्म कल्याणकारक और परधर्म भयावह है—ऐसा जानता हुआ भी मनुष्य स्वधर्ममें प्रवृत्त क्यों नहीं होता ? इसपर अर्जुन प्रश्न करते हैं।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

भावार्थ—

अधिक गुणोंवाले दूसरेके कर्तव्यकी अपेक्षा कम गुणोंवाला भी अपना कर्तव्य श्रेष्ठ है और अपने कर्तव्यके पालनमें मरना भी कल्याणप्रद है—ऐसी बात होनेपर भी मनुष्य अपने कर्तव्यको छोड़कर पापमें ( जो किसीका कर्तव्य नहीं है ) लग जाता है। इस विषयमें अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे वार्ष्णेय ! यह मनुष्य स्वयं जानता हुआ भी अपनी जानकारीका अनादर करके किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ? पापोंका फल दुःख होता है, जिसे कोई नहीं चाहता; फिर भी पाप-कर्म करनेके लिये मनुष्यको कौन बलपूर्वक प्रेरित करता है ?

अन्वय—

वार्ष्णेय, अथ, अयम्, पूरुषः, अनिच्छन्, अपि, बलात्, नियोजितः, इव, केन, प्रयुक्तः, पापम्, चरति ॥ ३६ ॥

पद-व्याख्या—

वार्ष्णेय—हे वृष्णिवंशोद्भव !

यदुकुलमें 'वृष्णि' नामका एक वंश था। उसी वृष्णिवंशमें अवतार लेनेसे भगवान् श्रीकृष्णका एक नाम 'वार्ष्णेय' है। पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने स्वधर्म-पालनकी प्रशंसा की है। धर्म 'वर्ण' और 'कुल'का होता है; अतएव अर्जुन भी कुल ( वंश ) के नामसे भगवान्‌को सम्बोधित करके प्रश्न करते हैं।

अथ अयम् पूरुषः—फिर यह पुरुष ( स्वयं )।

अनिच्छन् अपि—( विचारपूर्वक ) न चाहता हुआ भी।

विचारवान् पुरुष पाप नहीं करना चाहता; क्योंकि पापका परिणाम दुःख होता है और दुःखको कोई भी प्राणी नहीं चाहता।

यहाँ 'अनिच्छन्' पदका तात्पर्य भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग नहीं, अपितु पाप करनेकी इच्छाका त्याग है। कारण कि भोग और संग्रहकी इच्छा ही समस्त पापोंका मूल है, जिसके न रहनेपर पाप होते ही नहीं।

विचारशील मनुष्य पाप करना तो नहीं चाहता, पर भीतर सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छा रहनेसे वह करनेयोग्य कर्तव्य-कर्म नहीं कर पाता और न करनेयोग्य पाप-कर्म कर बैठता है।

बलात् नियोजितः इव—बलपूर्वक लगाये हुएकी भाँति।

'अनिच्छन्' पदकी प्रबलताको बतलानेके लिये अर्जुन 'बलात् नियोजितः इव' पदोंको कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पाप-वृत्तिके उत्पन्न होनेपर विचारशील पुरुष उस पापको जानता हुआ उससे सर्वथा दूर रहना चाहता है; फिर भी वह उस पापमें

ऐसे लग जाता है, जैसे कोई उसे बलपूर्वक पापमें लगा रहा हो। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पापमें लगानेवाला कोई बलवान् कारण है।

पापोंमें प्रवृत्तिका मूल कारण है—'काम' अर्थात् सांसारिक सुख-भोग और संग्रहकी कामना। परन्तु इस कारणकी ओर दृष्टि न रहनेसे मनुष्यको यह पता नहीं चलता कि पाप करानेवाला कौन है। वह यह समझता है कि मैं तो पापको जानता हुआ उससे निवृत्त होना चाहता हूँ, पर मुझे कोई बलपूर्वक पापमें प्रवृत्त करता है; जैसे दुर्योधनने कहा है—

**जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-**
**र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।**
**केनापि देवेन हृदि स्थितेन**
**यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥**

( गर्गसंहिता, अश्वमेध० ५० । ३६ )

'मैं धर्मको जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्मको भी जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती। मेरे हृदयमें स्थित कोई देव है, जो मुझसे जैसा करवाता है, वैसा ही मैं करता हूँ!'

दुर्योधनद्वारा कथित यह 'देव' वस्तुतः 'काम' ( भोग और संग्रहकी इच्छा ) ही है, जिससे मनुष्य विचारपूर्वक जानता हुआ भी धर्मका पालन और अधर्मका त्याग नहीं कर पाता।

**केन प्रयुक्तः पापम् चरति**—किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?

इन पदोंसे भी 'अनिच्छन्' पदकी प्रबलता प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि विचारवान् मनुष्य स्वयं पाप करना नहीं चाहता; कोई दूसरा ही उसे बलपूर्वक पापमें प्रवृत्त करा देता है। वह दूसरा कौन है?—यह अर्जुनका प्रश्न है।

भगवान्‌ने अभी-अभी चौंतीसवें श्लोकमें बतलाया है कि राग और द्वेष ( जो काम और क्रोधके ही सूक्ष्म रूप हैं ) साधकके महान् शत्रु हैं अर्थात् ये दोनों पापके कारण हैं। परंतु वह बात सामान्य रीतिसे कहनेके कारण अर्जुन उसे पकड़ नहीं सके। इसलिये वे प्रश्न करते हैं कि मनुष्य विचारपूर्वक पाप करना न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?

अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय यह है कि ( इकतीसवेंसे लेकर पैंतीसवें श्लोकतक देखते हुए ) अश्रद्धा, असूया, दुष्टचित्तता, मूढ़ता, प्रकृति ( स्वभाव ) की परवशता, राग-द्वेष, स्वधर्ममें अरुचि और परधर्ममें रुचि—इनमेंसे कौन-सा कारण है, जिससे मनुष्य विचार-पूर्वक न चाहता हुआ भी पापमें प्रवृत्त होता है? इसके अतिरिक्त ईश्वर, प्रारब्ध, युग, परिस्थिति, कर्म, कुसङ्ग, समाज, रीति-रिवाज, सरकारी कानून आदिमेंसे भी किस कारणसे मनुष्य पापमें प्रवृत्त होता है?

सम्बन्ध—

*अब भगवान् अगले श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हैं।*

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

भावार्थ—

रजोगुण ( राग )से काम उत्पन्न होता है । काममें बाधा लगनेपर यह काम ही क्रोध हो जाता है । यह काम बहुत खानेवाला है अर्थात् भोगोंसे इसकी कभी तृप्ति नहीं होती । यह काम ही सम्पूर्ण पापोंका कारण होनेसे महापापी है । अतएव न चाहते हुए भी बलपूर्वक पाप करवानेमें कारण होनेसे इस कामको ही मनुष्योंका वैरी जान ।

संसारकी सत्ताको स्वीकार करके उससे सुख लेनेकी इच्छा रखना 'काम' है । रजोगुण विवेकका विरोधी है; अतः रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाले 'काम' से विवेक ढक जाता है । विवेकके ढकनेसे मनुष्य भूलसे अपनेको शरीर तथा शरीरको अपना मान लेता है । इससे उसमें नाशवान् वस्तुओंकी कामना उत्पन्न हो जाती है । वह कामना ही उसे पापोंमें प्रवृत्त करती है ।

यद्यपि भगवत्प्रदत्त विवेकको महत्त्व न देना और भगवान्‌से विमुख होना भी पापमें हेतु है, तथापि यहाँ 'काम' को ही पापका हेतु इसलिये बतलाया गया है कि प्रस्तुत ( तीसरा ) अध्याय 'कर्मयोग' का है; और कर्मयोगका प्रधान लक्ष्य कामनाको मिटाना ही है ।

अन्वय—

रजोगुणसमुद्भवः, एषः, कामः, ( एव, ) क्रोधः, एषः, महाशनः, महापाप्मा, इह, एनम्, वैरिणम्, विद्धि ॥ ३७ ॥

पद-व्याख्या—

रजोगुणसमुद्भवः—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ ।

चौदहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि तृष्णा (कामना) और आसक्तिसे रजोगुण उत्पन्न होता है*, और यहाँ यह कहते हैं कि रजोगुणसे काम उत्पन्न होता है। इससे यह समझना चाहिये कि रागसे काम उत्पन्न होता है और कामसे राग बढ़ता है। तात्पर्य यह है कि सांसारिक पदार्थोंको सुखदायी माननेसे राग उत्पन्न होता है, जिससे अन्तःकरणमें उनका महत्त्व दृढ़ हो जाता है। फिर उन्हीं पदार्थोंका संग्रह करने और उनसे सुख लेनेकी कामना उत्पन्न होती है। पुनः कामनासे पदार्थोंमें राग बढ़ता है। यह क्रम जबतक चलता है, तबतक पाप-कर्मसे सर्वथा निवृत्ति नहीं होती।

**एषः कामः ( एव ) क्रोधः**—यह काम ही क्रोध है।

मेरी मनचाही हो—यही काम है†। उत्पत्ति-विनाशशील जड़-पदार्थोंके संग्रहकी इच्छा, संयोगजन्य सुखकी इच्छा, सुखकी आशा—ये सब कामके ही रूप हैं।

पाप-कर्म कहीं तो 'काम' के वशीभूत होकर और कहीं 'क्रोध'-के वशीभूत होकर किया गया दीखता है। दोनोंसे भिन्न-भिन्न पाप होते हैं। इसलिये दोनों पद दिये। वास्तवमें काम अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी कामना ही समस्त पापोंका मूल है। कामनामें बाधा लगनेपर काम ही क्रोधमें परिणत हो जाता है। इसलिये भगवान्ने

---

* रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।

(गीता १४। ७)

† 'इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छा कामशब्दिता' ('यह मुझे मिल जाय, यह मुझे मिल जाय'—इस प्रकारकी इच्छा 'काम' कहलाती है)

एक कामनाको ही पापोंका मूल बतलानेके लिये उपर्युक्त पदोंमें एकवचनका प्रयोग किया है।

कामनाकी पूर्ति होनेपर 'लोभ' उत्पन्न होता है* और कामनामें बाधा पहुँचनेपर ( बाधा पहुँचानेवालेपर ) 'क्रोध' उत्पन्न होता है। यदि बाधा पहुँचानेवाला अपनेसे अधिक बलवान् हो तो क्रोध उत्पन्न न होकर 'भय' उत्पन्न होता है। इसीलिये गीतामें कहीं-कहीं कामना और क्रोधके साथ-साथ भयका भी उल्लेख हुआ है; जैसे—**'वीतरागभयक्रोधाः'** ( ४ । १० ) और **'विगतेच्छाभयक्रोधः'** ( ५ । २८ )।

गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि कामनासे क्रोध उत्पन्न होता है—**'कामात् क्रोधोऽभिजायते'** ( २ । ६२ ) और क्रोधसे सम्मोह ( अत्यन्त मूढ़भाव ) उत्पन्न होता है—**'क्रोधाद्भवति सम्मोहः'** ( २ । ६३ )। इससे यह समझना चाहिये कि कामनामें बाधा पहुँचनेपर तो क्रोध उत्पन्न होता है, पर यदि कामनामें बाधा न पहुँचे, तो कामनासे लोभ और लोभसे सम्मोह उत्पन्न होता है† ।

## कामना-सम्बन्धी विशेष बात—

कामना सम्पूर्ण पापों, सन्तापों, दुःखों आदिकी जड़ है। कामनावाले व्यक्तिको जाग्रत‌में सुख मिलना तो दूर रहा, स्वप्नमें भी

---

* 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' ( मानस १ । १७९ । १; ६ । १०१ । १ )

† रागात् कामः प्रभवति कामाल्लोभोऽभिजायते ।
लोभाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥
( मार्कण्डेयपुराण ३ । ७१-७२ )

कभी सुख नहीं मिलता—**'काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं'** ( मानस ७ । ८९ । १ ) । जो चाहते हैं, वह न हो और जो नहीं चाहते, वह हो जाय—इसे ही दुःख कहते हैं । यदि 'चाहते' और 'नहीं चाहते' को छोड़ दें, तो फिर दुःख है ही कहाँ !

नाशवान् पदार्थोंकी इच्छा ही कामना कहलाती है । अविनाशी परमात्माकी इच्छा कामनाके समान प्रतीत होती हुई भी वस्तुतः 'कामना' नहीं है; क्योंकि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी कामना कभी पूरी नहीं होती, अपितु बढ़ती ही रहती है, पर परमात्माकी इच्छा ( परमात्मप्राप्ति होनेपर ) पूरी हो जाती है । दूसरे, कामना अपनेसे भिन्न वस्तुकी होती है और परमात्मा अपनेसे अभिन्न हैं । इसी प्रकार सेवा ( कर्मयोग ), तत्त्वज्ञान ( ज्ञानयोग ) और भगवत्प्रेम ( भक्तियोग ) की इच्छा भी 'कामना' नहीं है । परमात्मप्राप्तिकी इच्छा वस्तुतः जीवनकी वास्तविक आवश्यकता ( भूख ) है । जीवको आवश्यकता तो परमात्माकी है, पर विवेकके दब जानेपर वह नाशवान् पदार्थोंकी कामना करने लगता है ।

एक शङ्का हो सकती है कि कामनाके बिना संसारका कार्य कैसे चलेगा ? इसका समाधान यह है कि संसारका कार्य वस्तुओंसे, क्रियाओंसे चलता है, मनकी कामनासे नहीं । वस्तुओंका सम्बन्ध कर्मोंसे होता है, चाहे वे कर्म पूर्वके ( प्रारब्ध ) हों अथवा वर्तमानके ( उद्योग ) । कर्म बाहरके होते हैं और कामनाएँ भीतरकी । बाहरी कर्मोंका फल भी ( वस्तु, परिस्थिति आदिके रूपमें ) बाहरी होता है ।

कामनाका सम्बन्ध फल ( पदार्थ, परिस्थिति आदि ) की प्राप्तिके साथ है ही नहीं। जो वस्तु कर्मके अधीन है, वह कामना करनेसे कैसे प्राप्त हो सकती है ? प्रमाणस्वरूप संसारमें देखते ही हैं कि धनकी कामना होनेपर भी लोगोंकी दरिद्रता नहीं मिटती। जीवन्मुक्त महापुरुषोंको छोड़कर शेष सभी व्यक्ति जीनेकी कामना रखते हुए ही मरते हैं। कामना करें या न करें, जो फल मिलनेवाला है, वह तो मिलेगा ही। तात्पर्य यह कि जो होनेवाला है, वह तो होकर ही रहेगा और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होगा, चाहे उसकी कामना करें या न करें। जैसे कामना न करनेपर भी प्रतिकूल परिस्थिति आ जाती है, वैसे कामना न करनेपर अनुकूल परिस्थिति भी आयेगी ही।* रोगकी कामना किये बिना भी रोग आता है और कामना किये बिना भी नीरोगता रहती है। निन्दा-अपमानकी कामना न करनेपर भी निन्दा-अपमान होते हैं और कामना किये बिना भी प्रशंसा-सम्मान होते हैं। जैसे दुःखदायी परिस्थिति कर्मोंका फल है, वैसे सुखदायी परिस्थिति भी कर्मोंका ही फल है। अतएव वस्तु, परिस्थिति आदिका प्राप्त होना अथवा न होना कर्मोंसे सम्बन्ध रखता है, कामनासे नहीं।

---

* सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः॥
(श्रीमद्भा० ११।८।१)

'राजन्! प्राणियोंको जैसे ( इच्छाके बिना ) पूर्वकर्मानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, वैसे ही इन्द्रियजन्य सुख स्वर्गमें और नरकमें भी प्राप्त होते हैं। अतएव बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह उन सुखोंकी इच्छा न करे।'

कामना तात्कालिक सुखकी भी होती है और भविष्यत्-सुखकी भी। भोग और संग्रहकी इच्छा तात्कालिक सुखकी कामना है और कर्मफलप्राप्तिकी इच्छा भविष्यत्-सुखकी कामना है। इन दोनों ही कामनाओंमें दुःख-ही-दुःख है। कारण कि कामना केवल वर्तमानमें ही दुःख नहीं देती, अपितु भावी जन्ममें कारण होनेसे भविष्यमें भी दुःख देती है। इसलिये इन दोनों ही कामनाओंका त्याग करना है।

कर्म और विकर्म (निषिद्ध-कर्म)—दोनों ही कामनाके कारण होते हैं। कामनाके कारण 'कर्म' होते हैं और कामनाके अधिक बढ़नेपर 'विकर्म' होते हैं। कामनाके कारण ही असत्‌में आसक्ति दृढ़ होती है। कामना न रहनेसे असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

कामना पूरी हो जानेपर हम उसी अवस्थामें आ जाते हैं, जिस अवस्थामें हम कामना उत्पन्न होनेसे पूर्व थे। जैसे, किसीके मनमें कामना उत्पन्न हुई कि मुझे सौ रुपये मिल जायँ। इसके पहले उसके मनमें सौ रुपये पानेकी कामना नहीं थी; अतः अनुभवसे सिद्ध हुआ कि कामना उत्पन्न होनेवाली है। जबतक सौ रुपयोंकी कामना उत्पन्न नहीं हुई थी, तबतक 'निष्कामता'की स्थिति थी। उद्योग करनेपर यदि प्रारब्धवशात् सौ रुपये मिल जायँ तो वही 'निष्कामता'-की स्थिति पुनः आ जाती है। परन्तु सांसारिक सुखासक्तिके कारण वह स्थिति ठहरती नहीं और नयी कामना उत्पन्न हो जाती है कि मुझे हजार रुपये मिल जायँ। इस प्रकार न तो कामना

पूरी होती है और न पूरी तृप्ति ही होती है। कोरे परिश्रमके सिवा कुछ नहीं मिलता !

'काम' अर्थात् सांसारिक पदार्थोंकी कामनाका त्याग करना कठिन नहीं है। थोड़ा गहरा विचार करें कि वास्तवमें कामना छूटती ही नहीं अथवा टिकती ही नहीं ? पता लगेगा कि वास्तवमें कामना टिकती ही नहीं। वह तो निरन्तर मिटती ही जाती है; किन्तु मनुष्य नयी-नयी कामनाएँ करके उसे बनाये रखता है। कामना उत्पन्न होती है और उत्पन्न होनेवाली वस्तुका मिटना अवश्यम्भावी है। इसलिये कामना स्वतः मिटती है। यदि मनुष्य नयी कामना न करे तो पुरानी कामना कभी पूरी होकर और कभी न पूरी होकर स्वतः मिट जाती है।

कामनाकी पूर्ति सभीके लिये और सदाके लिये नहीं है; परन्तु कामनाका त्याग सभीके लिये और सदाके लिये है। कारण कि कामना अनित्य और त्याग नित्य है। निष्काम होनेमें कठिनाई क्या है ? हम निर्मम नहीं होते, यही कठिनाई है। यदि हम निर्मम हो जायँ तो निष्काम होनेकी शक्ति आ जायगी, और निष्काम होनेसे असङ्ग होनेकी शक्ति आ जायगी। जब निर्ममता, निष्कामता और असङ्गता आ जाती है, तब निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता स्वतः आ जाती है।

एक मार्मिक बातपर ध्यान दें। हम कामनाओंका त्याग करना बड़ा कठिन मानते हैं। परन्तु विचार करें कि यदि कामनाओंका त्याग करना कठिन है तो क्या कामनाओंकी पूर्ति

इससे सिद्ध होता है कि वास्तविक तत्त्वसे विमुख हुए बिना कोई सांसारिक भोग भोगा ही नहीं जा सकता !

भोगबुद्धिसे सांसारिक भोग भोगनेवाला पुरुष हिंसारूप पापसे बच ही नहीं सकता। वह अपनी भी हिंसा ( पतन ) करता है, और दूसरोंकी भी। जैसे कोई मनुष्य धनका संग्रह करके उससे भोगोंको भोगता है तो उसे देखकर निर्धनोंके हृदयमें धन और भोगोंके अभावका विशेष दुःख होता है, यह उनकी हिंसा हुई। भोगोंको भोगकर वह स्वयं अपनी भी हिंसा ( पतन ) करता है; क्योंकि स्वयं परमात्माका चेतन अंश होते हुए भी जड़ ( धन )को महत्त्व देनेसे वह वस्तुतः जड़का दास हो जाता है, जिससे उसका पतन हो जाता है।

संसारके सब भोग-पदार्थ सीमित होते हैं; अतः मनुष्य जितना भोग भोगता है, उतना भोग दूसरोंके हिस्सेसे ही आता है। हाँ, शरीर-निर्वाहमात्रके लिये पदार्थोंको स्वीकार करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता। शरीर-निर्वाहमें भी शास्त्रोंमें केवल अपने लिये भोग भोगनेका निषेध है। अपने माता, पिता, गुरु, बालक, स्त्री, वृद्ध आदिको शरीर-निर्वाहके पदार्थ पहले देकर फिर स्वयं लेने चाहिये।

भोगबुद्धिसे भोग भोगनेवाला पुरुष अपना तो पतन करता है, भोग्य वस्तुओंका दुरुपयोग करके उनका नाश करता है और अभावग्रस्त पुरुषोंकी हिंसा करता है। परन्तु ज्ञानी ( जीवन्मुक्त ) महापुरुषके विषयमें यह बात लागू नहीं होती। उसके द्वारा हिंसारूप पाप नहीं होता; क्योंकि उसमें भोगबुद्धि नहीं होती और

उसके द्वारा निष्कामभावसे निर्वाहमात्रके लिये शास्त्रविहित क्रियाएँ होती हैं* । उस महापुरुषके उपयोगमें आनेवाली वस्तुओंका विकास होता है, नाश नहीं अर्थात् उसके पास आनेपर वस्तुओंका सदुपयोग होता है, जिससे वे सार्थक हो जाती हैं । जबतक संसारमें उस महापुरुषका कहलानेवाला शरीर रहता है, तबतक उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक प्राणियोंका उपकार होता रहता है ।

शरीर-निर्वाहमात्रकी आवश्यकता **'महाशनः'** और **'महापाप्मा'** नहीं है । कारण कि शरीर-निर्वाहमात्रकी आवश्यकता 'कामना' नहीं है । आवश्यकताकी पूर्ति होती है; जैसे—भूख लगी और भोजन करनेसे तृप्ति हो गयी । परन्तु कामनाकी वृद्धि होती है ।

**इह एनम् वैरिणम् विद्धि**—इस विषयमें इसे ( ही ) वैरी जान ।

यद्यपि वास्तवमें सांसारिक पदार्थोंकी कामनाका त्याग होनेपर ही सुख-शान्तिका अनुभव होता है, तथापि मनुष्य अज्ञानवश पदार्थोंसे सुखका होना मान लेता है । इस प्रकार मनुष्यने पदार्थोंकी कामनाको सुखका कारण मानकर उसे अपना मित्र और हितैषी मान रखा है । इस मान्यताके कारण कामना कभी मिटती नहीं । इसलिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि इस कामनाको अपना मित्र नहीं, अपितु वैरी जानो । कामना मनुष्यकी वैरी इसलिये

---

* शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ (गीता ४ । २१ )
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ ( गीता ४ । २३ )
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥( गीता १८ । १७ )

है कि यह मनुष्यके विवेकको ढककर उसे पापोंमें प्रवृत्त कर देती है।

संसारके सम्पूर्ण पापों, दुःखों, नरकों आदिके मूलमें एक कामना ही है। इस लोक और परलोकमें जहाँ कहीं कोई दुःख पा रहा है, उसमें असत्‌की कामना ही कारण है। कामनासे सब प्रकारके दुःख होते हैं और सुख कोई-सा भी नहीं होता।

## विशेष बात—

कामको नष्ट करनेका मुख्य और सरल उपाय है—दूसरोंकी सेवा करना, उन्हें सुख पहुँचाना। अन्य शरीरधारी तो दूसरे हैं ही, अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राण भी दूसरे ही हैं। अतः इनका निर्वाह भी सेवाबुद्धिसे करना है, भोगबुद्धिसे नहीं। इनसे सुख नहीं लेना है।

कर्मयोगमें स्थूलशरीरसे होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारणशरीरसे होनेवाली 'स्थिरता'—तीनों ही अपने लिये नहीं हैं, प्रत्युत संसारके लिये ही हैं। कारण कि स्थूलशरीरकी स्थूल-संसारके साथ, सूक्ष्म-शरीरकी सूक्ष्म-संसारके साथ और कारणशरीरकी कारण-संसारके साथ एकता है। अतएव शरीर, पदार्थ और क्रियासे दूसरोंकी सेवा करना तो उचित है, पर अपनेमें सेवकपनका अभिमान करना अनुचित है। सूक्ष्मशरीरसे परहित-चिन्तन करना तो उचित है, पर उससे सुख लेना अनुचित है। कारणशरीरसे स्थिर होना तो उचित है, पर स्थिरताका सुख लेना

अनुचित है*। इस प्रकार सुख न लेनेसे फलकी आसक्ति मिट जाती है। फलकी आसक्ति मिटनेपर कर्मकी आसक्ति सुगमतापूर्वक मिट जाती है।

मेरा आदेश चले; अमुक व्यक्ति मेरी आज्ञामें चले; अमुक वस्तु मेरे काम आ जाय; मेरी बात रह जाय—यह सब कामनाका ही स्वरूप है। उत्पत्ति-विनाशशील (असत्) संसारसे कुछ लेनेकी कामना महान् अनर्थ करनेवाली है। दूसरोंकी न्याययुक्त कामना (जिसमें दूसरेका हित हो और जिसे पूर्ण करनेका सामर्थ्य हममें हो) को पूरी करनेसे अपनेमें कामनाके त्यागका बल आ जाता है। दूसरोंकी कामना पूरी न भी कर सकें, तो भी हृदयमें ऐसा भाव रहना ही चाहिये।

तादात्म्य (अपनेको शरीर मानना), ममता (शरीरादि पदार्थोंको अपना मानना) और कामना (अमुक वस्तु मिल जाय—ऐसा भाव)—इन तीनोंसे ही जीव संसारमें बँधता है। तादात्म्यसे परिच्छिन्नता, ममतासे विकार और कामनासे अशान्ति उत्पन्न होती है। कामनाके त्यागसे ममता और ममताके त्यागसे

---

* सेवा, परहित-चिन्तन, स्थिरता आदिका सुख लेना और इनके बने रहनेकी इच्छा करना भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है—

'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ' (गीता १४। ६)

अर्थात् सत्त्वगुण मनुष्यको सात्त्विक सुखकी आसक्तिसे एवं ज्ञानकी आसक्ति (अभिमान) से बाँधता है। इसलिये साधकको सात्त्विक, राजसिक और तामसिक—तीनों ही गुणोंसे असङ्ग होना है; क्योंकि स्वरूप असङ्ग है।

तादात्म्य ( अहम् ) मिटता है । कर्मयोगी सिद्धान्तसे इनमें किसीके भी साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता; क्योंकि वह शरीर, इन्द्रियाँ मन, बुद्धि, अहम्, पदार्थ आदि किसीको भी अपना और अपने लिये नहीं मानता, वह इन शरीरादिको केवल संसारका और संसारकी सेवाके लिये ही मानता है, जो वास्तवमें है ।

किसीको भी दुःख न देनेका भाव होनेपर सेवाका प्रारम्भ हो जाता है । अतः साधकके अन्तःकरणमें 'किसीको भी दुःख न हो'---यह भाव निरन्तर रहना चाहिये । भूलसे अपने कारण किसीको दुःख हो भी जाय तो उससे क्षमा माँग लेनी चाहिये । वह क्षमा न करे, तो भी कोई डर नहीं । कारण कि सच्चे हृदयसे क्षमा माँगनेवालेकी क्षमा भगवान्‌की ओरसे स्वतः होती है । सेवा करनेमें साधक सदा सावधान रहे कि कहीं सेवाके बदलेमें कुछ लेनेका भाव उसमें न आ जाय । इस प्रकार सेवा करनेसे 'काम'-रूप वैरी सुगमतापूर्वक नष्ट हो जाता है ।

सम्बन्ध—

*'यह पाप है'—ऐसी जानकारी होनेपर भी मनुष्य पापमें प्रवृत्त हो जाता है; अतः इस जानकारीका प्रभाव आचरणमें न आनेका क्या कारण है ? इसका विवेचन भगवान् अगले दो श्लोकोंमें करते हैं ।*

श्लोक—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

भावार्थ—

जैसे धुएँसे अग्नि ढकी जाती है और जैसे मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जैसे जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस काम अर्थात् कामनाके द्वारा यह ज्ञान ( कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान अर्थात् विवेक ) ढका हुआ है।

स्वतः जिसका चिन्तन होता है, वह स्फुरणा कहलाती है। स्फुरणामें ममता, प्रियता होनेपर संकल्प उत्पन्न होता है और संकल्पसे कामना उत्पन्न होती है—'संकल्पप्रभवान् कामान्' ( गीता ६। २४ )। कामना प्रथमावस्थामें धुएँकी भाँति उत्पन्न होती है और मनुष्यके विवेकको ढक देती है। जैसे धुएँसे ढकी होनेपर भी अग्नि अपना काम करती है, वैसे ही प्रथमावस्थामें कामनाके होनेपर भी मनुष्यका विवेक-विचार काम कर सकता है। इससे आगे द्वितीयावस्थामें कामना दर्पणपर मैलकी भाँति विवेकको पहलेकी अपेक्षा अधिक ढक देती है। जैसे मैलसे ढके दर्पणमें अपना मुख नहीं दीखता, वैसे ही कामनाकी द्वितीयावस्थामें विवेक ढका जानेके कारण मनुष्य 'मेरा क्या कर्तव्य है ?' यह भूल जाता है। इसके बाद तृतीयावस्थामें कामना और अधिक बढ़कर गर्भपर जेरकी भाँति मनुष्यके विवेकको भलीभाँति ढक देती है। जैसे जेरसे गर्भ ढका होनेके कारण यह पता नहीं लगता कि गर्भ लड़का है या लड़की, वैसे ही कामनासे विवेक ढका होनेके कारण मनुष्यको यह पता नहीं लगता कि यह कर्तव्य है या अकर्तव्य। उसमें कर्तव्य-अकर्तव्य-का ज्ञान विशेष लुप्त हो जाता है। फिर वह शरीरको ही अपना

स्वरूप मान लेता है और भोग तथा संग्रहकी कामना अधिक बढ़नेके कारण पाप-कर्मोंमें भी प्रवृत्त हो जाता है ।

कामनाको नष्ट करनेके लिये ही यहाँ उसकी तीन अवस्थाओं-का वर्णन किया गया है । वास्तवमें कामना उत्पन्न होनेके बाद उसके बढ़नेका क्रम इतनी तेजीसे होता है कि उसकी उपर्युक्त तीन अवस्थाओंको कहनेमें तो देर लगती है, पर कामनाके बढ़नेमें कोई देर नहीं लगती । कामना बढ़नेपर तो अनर्थ-परम्परा ही चल पड़ती है । सम्पूर्ण पाप, सन्ताप, दुःख आदि कामनाके कारण ही होते हैं । अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह अपने विवेकको जाग्रत् रखकर कामनाको उत्पन्न ही न होने दे । यदि कामना उत्पन्न हो जाय, तो भी उसे प्रथम या द्वितीय-अवस्थामें ही नष्ट कर दे । उसे तृतीयावस्थामें तो कभी आने ही न दे ।

अन्वय—

यथा; धूमेन; वह्निः; च; मलेन; आदर्शः; आव्रियते; यथा; उल्बेन; गर्भः; आवृतः; तथा; तेन; ( कामेन ); इदम्; ( ज्ञानम् ); आवृतम् ॥३८॥

पद-व्याख्या—

**यथा धूमेन वह्निः**—जैसे धुएँसे अग्नि ( ढकी जाती है ) ।

जैसे धुएँसे अग्नि ढकी रहती है, वैसे ही कामनासे मनुष्यका विवेक ढका रहता है अर्थात् स्पष्ट प्रतीत नहीं होता ।

विवेक बुद्धिमें प्रकट होता है । बुद्धि तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी । सात्त्विकी बुद्धिमें कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक-ठीक ज्ञान होता है, राजसी बुद्धिमें कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता और तामसी बुद्धिमें

सब वस्तुओंका विपरीत ज्ञान होता है ( गीता १८ । ३०–३२ )। कामना उत्पन्न होनेपर सात्त्विकी बुद्धि भी धुएँसे अग्निके समान ढकी जाती है, फिर राजसी और तामसी बुद्धिका तो कहना ही क्या है ?

सांसारिक इच्छा उत्पन्न होते ही पारमार्थिक मार्गमें धुआँ हो जाता है। यदि इस अवस्थामें सावधानी नहीं हुई तो कामना और अधिक बढ़ जाती है। कामना बढ़नेपर तो पारमार्थिक मार्गमें अँधेरा ही हो जाता है।

उत्पत्ति-विनाशशील जड़ वस्तुओंमें प्रियता, महत्ता, सुखरूपता, सुन्दरता, विशेषता आदि दीखनेके कारण ही उनकी कामना उत्पन्न होती है। यह कामना ही मूलमें विवेकको ढकनेवाली है। अन्य शरीरोंकी अपेक्षा मनुष्यशरीरमें विवेक विशेषरूपसे प्रकट है; किन्तु जड़ पदार्थोंकी कामनाके कारण वह विवेक काम नहीं करता। कामना उत्पन्न होते ही विवेक धुँधला हो जाता है। जैसे धुएँसे ढकी रहनेपर भी अग्नि काम कर सकती है, वैसे ही यदि साधक कामनाके उत्पन्न होते ही सावधान हो जाय तो उसका विवेक काम कर सकता है।

प्रथमावस्थामें ही कामनाको नष्ट करनेका सरल उपाय यह है कि जो-जो वस्तु दिखायी दे, उसपरसे दृष्टि हटाकर उसके रचयितापर दृष्टि डाले*। जैसे, मार्गमें एक पत्थर दीखा तो उसमें

---

* यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
( गीता १० । ४१ )

सुन्दरता दीखते ही उसकी कामना उत्पन्न हो गयी, पर 'भगवान्‌ने इसमें कितनी सुन्दरता भर दी है !' ऐसा भाव होते ही कामना वैसी नहीं रहती। इसी प्रकार किसी स्त्रीमें सुन्दरता दिखायी देनेपर 'भगवान् कितने सुन्दर होंगे !' ऐसा भाव दृढ़ होनेसे कामना नहीं रहती। अतएव जैसे व्यापारीकी दृष्टि सब समय केवल धनपर रहती है, चाहे वह कोयला ही क्यों न तौलता हो, वैसे ही साधककी दृष्टि सब समय केवल भगवान्‌पर रहनी चाहिये।

च—और।

**मलेन आदर्शः आव्रियते**—मैलसे दर्पण ढका जाता है।

जैसे मैलसे ढक जानेपर दर्पणमें प्रतिबिम्ब दीखना बन्द हो जाता है, वैसे ही कामनाका वेग बढ़नेपर 'मैं साधक हूँ; मेरा यह कर्तव्य और यह अकर्तव्य है'—इसका ज्ञान नहीं रहता। अन्तःकरणमें नाशवान् वस्तुओंका महत्त्व अधिक हो जानेसे मनुष्य उन्हीं वस्तुओंके भोग और संग्रहकी कामना करने लगता है। यह कामना ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों मनुष्य अवनतिमें जाता है।

वास्तवमें महत्त्व वस्तुका नहीं अपितु उसके उपयोगका होता है। रुपये, विद्या, वस्त्र आदि स्वयं कोई महत्त्वकी वस्तुएँ नहीं हैं, उनका सदुपयोग ही महत्त्वका है—यह बात समझमें आ जानेपर फिर उनकी कामना नहीं रहती; क्योंकि जितनी वस्तुएँ हमारे पासमें हैं, उन्हींके सदुपयोगकी हमपर जिम्मेवारी है। उन

'जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुआ जान।'

वस्तुओंको भी सदुपयोगमें लगाना है, फिर अधिककी कामनासे क्या होगा ? कारण कि कामना मात्रसे वस्तुएँ प्राप्त नहीं होतीं।

सांसारिक वस्तुओंका महत्त्व ज्यों-ज्यों कम होगा, त्यों-ही-त्यों परमात्माका महत्त्व साधकके अन्तःकरणमें बढ़ेगा। सांसारिक वस्तुओंका महत्त्व सर्वथा नष्ट होनेपर परमात्माका अनुभव हो जायगा और कामना सर्वथा नष्ट हो जायगी।

**यथा उल्बेन गर्भः आवृतः**—( तथा ) जैसे जेरसे गर्भ ढका रहता है।

दर्पणपर मैल आनेसे उसमें अपना मुख तो नहीं दीखता, पर 'यह दर्पण है' ऐसा ज्ञान तो रहता ही है। परन्तु जैसे जेरसे ढके गर्भका यह पता नहीं लगता कि लड़का है या लड़की, वैसे ही कामनाकी तृतीयावस्थामें कर्तव्य-अकर्तव्यका पता नहीं लगता अर्थात् विवेक पूरी तरह ढक जाता है। विवेक ढक जानेसे कामनाका वेग बढ़ जाता है।

कामनामें बाधा लगनेसे क्रोध उत्पन्न होता है। फिर उससे सम्मोह उत्पन्न होता है। सम्मोहसे बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि नष्ट हो जानेपर मनुष्य करनेयोग्य कार्य नहीं करता और झूठ, कपट, बेईमानी, अन्याय, पाप, अत्याचार आदि न करनेयोग्य कार्य करने लग जाता है। ऐसे लोगोंको भगवान् 'मनुष्य' भी नहीं कहना चाहते। इसीलिये सोलहवें अध्यायमें जहाँ ऐसे लोगोंका वर्णन हुआ है; वहाँ भगवान्‌ने ( आठवेंसे अठारहवें श्लोकतक ) मनुष्यवाचक कोई शब्द ही नहीं दिया। स्वर्गलोककी कामनावाले लोगोंको भी

भगवान्‌ने 'कामात्मानः' ( गीता २ । ४३ ) कहा है; क्योंकि ऐसे लोग कामनाके ही स्वरूप होते हैं। कामनामें ही तदाकार होनेसे उनका निश्चय होता है कि सांसारिक सुखसे बढ़कर और कुछ है ही नहीं—

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

( गीता १६ । ११ )

[ यद्यपि कामनाकी इस तृतीयावस्थामें मनुष्यकी दृष्टि अपने वास्तविक उद्देश्य ( परमात्मप्राप्ति ) की ओर नहीं जाती, तथापि किन्हीं पूर्व संस्कारोंसे, वर्तमानके किसी अच्छे सङ्गसे अथवा अन्य किसी कारणसे उसे अपने उद्देश्यकी जागृति हो जाय तो उसका कल्याण भी हो सकता है। ]

तथा—वैसे ही।

तेन ( कामेन ) इदम् ( ज्ञानम् ) आवृतम्—उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने एक कामके द्वारा विवेकको ढकनेके विषयमें तीन दृष्टान्त दिये हैं। अतः उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य यह है कि एक कामके द्वारा विवेक ढका जानेसे ही कामकी तीनों अवस्थाएँ प्रबुद्ध होती हैं।

कामना उत्पन्न होनेपर उसकी ये तीन अवस्थाएँ सबके हृदयमें आती हैं। परन्तु जो मनुष्य कामनाको ही सुखका कारण मानकर उसका आश्रय लेते हैं और कामनाको त्याज्य नहीं मानते, वे कामनाको पहचान ही नहीं पाते। परन्तु परमार्थमें रुचि रखनेवाले

तथा साधन करनेवाले पुरुष इस कामनाको पहचान लेते हैं। जो कामनाको पहचान लेता है, वही कामनाको नष्ट भी कर सकता है।

भगवान्‌ने इस श्लोकमें कामनाकी तीन अवस्थाओंका वर्णन उसका नाश करनेके उद्देश्यसे ही किया है, जिसकी आज्ञा उन्होंने आगे इकतालीसवें और तैंतालीसवें श्लोकमें दी है।

## विशेष बात—

धुआँ दिखायी देनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि वहाँ अग्नि है; क्योंकि यदि वहाँ अग्नि न होती तो धुआँ कहाँसे आता ? अतएव जिस प्रकार धुएँसे ढकी होनेपर भी अग्निके होनेका ज्ञान, मैलसे ढका होनेपर भी दर्पणके होनेका ज्ञान और जेरसे ढका होनेपर भी गर्भके होनेका ज्ञान सभीमें रहता है, उसी प्रकार कामसे ढका होनेपर भी विवेक ( कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान ) सभीमें रहता है, पर कामनाके कारण वह उपयोगमें नहीं आता।

शास्त्रोंके अनुसार परमात्माकी प्राप्तिमें तीन दोष बाधक हैं— मल, विक्षेप और आवरण। ये दोष असत् ( संसार )के सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं। असत्‌का सम्बन्ध कामनासे होता है। अतएव मूल दोष कामना ही है। कामनाका सर्वथा नाश होते ही असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही सम्पूर्ण दोष मिट जाते हैं और विवेक प्रकट हो जाता है।

परमात्मप्राप्तिमें मुख्य बाधा है—सांसारिक पदार्थोंको नाशवान् मानते हुए उन्हें महत्त्व देना। जबतक अन्तःकरणमें नाशवान् पदार्थोंका महत्त्व है और वे सत्य, सुन्दर और सुखद प्रतीत होते हैं,

तभीतक मल, विक्षेप और आवरण—ये तीनों दोष रहते हैं। इन तीनोंमें भी मलदोषको अधिक बाधक माना जाता है। मलदोष ( पाप )का मुख्य कारण कामना ही है; क्योंकि कामनासे ही सब पाप होते हैं। जिस समय साधक यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि 'मैं अब पाप नहीं करूँगा', उसी समय सब दोषोंकी जड़ कट जाती है और मलदोष मिटने लग जाता है। सर्वथा निष्काम होनेपर मलदोष सर्वथा नष्ट हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने कामनावाले पुरुषोंके कल्याणका उपाय कर्मयोग ( निष्काम-कर्म ) बतलाया है—**'कर्मयोगस्तु कामिनाम्'** ( ११।२०।७ )। अतएव कामनावाले पुरुषोंको अपने कल्याणके विषयमें निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि जिसमें कामना आयी है, वही निष्काम होगा। कर्मयोगके द्वारा कामनाओंका नाश सुगमता-पूर्वक हो जाता है। छोटी-से-छोटी अथवा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक लौकिक या पारमार्थिक क्रिया करनेमें 'मैं क्यों करता हूँ और कैसे करता हूँ ?'—ऐसी सावधानी हो जायगी तो उद्देश्यकी जाग्रति हो जायगी। निरन्तर उद्देश्यपर दृष्टि रहनेसे अशुभ-कर्म तो होंगे नहीं और शुभ-कर्मोंको भी आसक्ति तथा फलेच्छाका त्याग करके करनेपर निष्कामताका अनुभव हो जाता है और मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

श्लोक—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

भावार्थ—

और हे कुन्तीनन्दन ! जैसे घीसे अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, वैसे ही अनुकूल वस्तु, परिस्थिति आदिके प्राप्त होनेपर भी कामना कभी पूर्ण नहीं होती, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है । साधनमें बाधा डालनेवाली होनेके कारण विवेकशील साधकोंको यह कामना सदा वैरीरूपसे प्रतीत होती है । इस कामनाके द्वारा ही मनुष्यका विवेक ढका रहता है*, जिससे यह पारमार्थिक अभिलाषाको जाग्रत् नहीं होने देती ।

अन्वय—

च, कौन्तेय, एतेन, अनलेन, दुष्पूरेण, कामरूपेण, ज्ञानिनः, नित्यवैरिणा, ज्ञानम्, आवृतम् ॥ ३९ ॥

पद-व्याख्या—

**च**—और ।

**कौन्तेय**—हे कुन्तीनन्दन !

**एतेन**—इस ।

---

* विवेक उत्पन्न नहीं होता, अपितु यह स्वतःसिद्ध है । कारण यह कि जिस प्रकार प्रकृति ( जड़ ) और पुरुष ( चेतन ) दोनों अनादि हैं ( 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' ) गीता १३।१९ उसी प्रकार दोनोंका भेद भी अनादि है । उनके भेदका ज्ञान ही विवेक है । यह विवेक प्राणिमात्रमें है । मनुष्यमें तो यह विशेषरूपसे विद्यमान है । कैसा ही पापी क्यों न हो, यह विवेक सभीको समानरूपसे मिला हुआ है । परन्तु कामनाके कारण मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व नहीं देता; इसलिये कामनाके द्वारा विवेक ढके जानेकी बात कही गयी है ।

सैंतीसवें श्लोकमें भगवान‌ने पाप करवानेमें मुख्य कारण 'काम' अर्थात् कामनाको बतलाया था। उसी कामनाके लिये यहाँ 'एतेन' पद आया है।

अनलेन—अग्निके समान।

जैसे अग्निमें घीकी सुहाती-सुहाती ( अनुकूल ) आहुति देते रहनेसे अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, प्रत्युत बढ़ती ही रहती है, वैसे ही कामनाके अनुकूल भोग भोगते रहनेसे कामना कभी तृप्त नहीं होती, प्रत्युत अधिकाधिक बढ़ती ही रहती है*। जो भी वस्तु सामने आती रहती है, कामना अग्निकी भाँति उसे खाती रहती है।

दुष्पूरेण—कभी तृप्त न होनेवाले।

भोग और संग्रहकी कामना कभी पूरी होती ही नहीं। जितने ही भोग-पदार्थ मिलते हैं, उतनी ही उनकी भूख बढ़ती है। कारण कि कामना जड़की ही होती है, इसलिये जड़के सम्बन्धसे वह कभी मिटती नहीं, अपितु अधिकाधिक बढ़ती है। सुन्दरदासजी लिखते हैं—

जो दस बीस पचास भये सत, होइ हजार तो लाख मँगैगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, पृथ्वीपति होनकी चाह जगैगी॥
स्वर्ग पतालको राज करौ, तृस्ना अधकी अति आग लगैगी।
'सुन्दर' एक संतोष बिना सठ, तेरी तो भूख कभी न भगैगी॥

जैसे, सौ रुपये मिलनेपर हजार रुपयोंकी भूख उत्पन्न होती है, तो इससे सिद्ध हुआ कि नौ सौ रुपयोंका घाटा हुआ है। हजार

---

* न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
( श्रीमद्भा० ९।१९।१४; मनुस्मृति २।९४ )

रुपये मिलनेपर फिर सीधे दस हज़ार रुपयोंकी भूख उत्पन्न हो जाती है, तो यह नौ हजार रुपयोंका घाटा हुआ है। दस हजार रुपये मिलनेपर फिर सीधे एक लाख रुपयोंकी भूख उत्पन्न हो जाती है, तो यह नब्बे हजार रुपयोंका घाटा हुआ है। लाख रुपये मिलनेपर फिर दस लाख रुपयोंसे सन्तोष नहीं होता, प्रत्युत सीधे करोड़ रुपयोंकी भूख उत्पन्न हो जाती है, तो सिद्ध हुआ कि निन्यानवे लाख रुपयोंका घाटा हुआ है। इस प्रकार वहम तो यह होता है कि लाभ बढ़ गया, पर वास्तवमें घाटा ही बढ़ा है। जितना धन मिलता है, उतनी ही दरिद्रता ( धनकी भूख ) बढ़ती है। वास्तवमें दरिद्रता उसीकी मिटती है, जिसे धनकी भूख नहीं है।

चाह गयी चिंता मिटी, मनुआँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सो साहनपति साह॥

वास्तवमें धन उतना बाधक नहीं है, जितनी बाधक उसकी कामना है। धनकी कामना चाहे धनीमें हो या निर्धनमें, दोनोंको वह परमात्मप्राप्तिसे वञ्चित रखती है।

कामना किसीकी भी कभी पूरी नहीं होती; क्योंकि यह पूरी होनेवाली चीज ही नहीं है। कामनासे रहित तो कामनाके मिटनेपर ही हो सकते हैं।

**कामरूपेण**—कामरूप।

जड़के सम्बन्धसे होनेवाले सुखकी चाहको 'काम' कहते हैं। नाशवान् संसारमें थोड़ी भी महत्त्वबुद्धिका होना 'काम' है।

अप्राप्तको प्राप्त करनेकी चाह 'कामना' है। अन्तःकरणमें जो अनेक सूक्ष्म कामनाएँ दबी रहती हैं, उन्हें 'वासना' कहते हैं।

वस्तुओंकी आवश्यकता प्रतीत होनी 'स्पृहा' है। वस्तुमें उत्तमता और प्रियता दीखनी 'आसक्ति' है। वस्तु मिलनेकी सम्भावना रखनी 'आशा' है। और अधिक वस्तु मिल जाय—यह 'लोभ' या 'तृष्णा' है। वस्तुकी इच्छा अधिक बढ़नेपर 'याचना' होती है। ये सभी 'काम'के ही रूप हैं।

**ज्ञानिनः नित्यवैरिणा**—ज्ञानियोंके नित्य वैरीके द्वारा।

यहाँ 'ज्ञानिनः' पद साधनमें लगे हुए विवेकशील साधकोंके लिये आया है। कारण कि विवेकशील साधक ही इस कामरूप वैरीको पहचानता है और उसका नाश करता है। साधन न करनेवाले दूसरे लोग तो इसे पहचानते ही नहीं, प्रत्युत इसे सुखदायी समझते हैं।

भगवान् कहते हैं कि यह काम विवेकशील साधकोंका नित्य वैरी है। कामना उत्पन्न होते ही विवेकशील साधकको विचार आता है कि अब कोई-न-कोई आफत आयेगी! कामनामें संसारका महत्त्व और आश्रय रहता है, जो पारमार्थिक मार्गमें महान् बाधक है। विवेकी साधकको कामना आरम्भसे ही चुभती रहती है। परिणाममें तो कामना सबको दुःख देती ही है। इसलिये यह साधककी नित्य ( निरन्तर ) वैरी है।

भोगोंमें लगे हुए अज्ञानियोंको यह कामना मित्रके समान प्रतीत होती है; क्योंकि कामनाके कारण ही भोगोंमें सुख प्रतीत होता है। कामना न हो तो भोग-पदार्थ सुख नहीं दे सकते। परंतु परिणाममें उन्हें दुःख, सन्ताप, कैद, नरक आदि प्राप्त होते ही हैं। इसलिये

वास्तवमें यह कामना अज्ञानियोंकी भी नित्य वैरी है। परन्तु अज्ञानियोंको जाग्रति नहीं रहती, जबकि विवेकशील साधकोंको जाग्रति रहती है।

**ज्ञानम् आवृतम्**--( मनुष्यका ) ज्ञान ढका हुआ है।

विवेक प्राणिमात्रमें है। पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर योनियोंमें यह विवेक विकसित नहीं होता और केवल जीवन-निर्वाहतक सीमित रहता है। परंतु मनुष्यमें यदि कामना न हो तो यह विवेक विकसित हो सकता है; क्योंकि कामनाके कारण ही मनुष्यका विवेक ढका रहता है। विवेक ढका रहनेसे मनुष्य अपने लक्ष्य परमात्मप्राप्तिकी ओर अग्रसर नहीं हो सकता; क्योंकि कामना उसे चिन्मय-तत्त्वकी ओर नहीं जाने देती, अपितु जड़-तत्त्वमें ही लगाये रखती है।

अपने प्रति कोई अप्रिय एवं असत्य बोले तो वह बुरा लगता है और प्रिय एवं सत्य बोले तो अच्छा लगता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अच्छे-बुरे, सद्गुण-दुर्गुण, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका ज्ञान अर्थात् विवेक सभी मनुष्योंमें रहता है। परंतु ऐसा होनेपर भी वह अप्रिय और असत्य बोलता है, अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, तो इसका कारण यही है कि कामनाने उसका विवेक ढक दिया है।

कामनाके कारण ही 'त्यागमें सुख है'—यह ज्ञान काम नहीं करता। मनुष्यको प्रतीत तो ऐसा होता है कि अनुकूल भोग-पदार्थके मिलनेसे सुख होता है, पर वास्तवमें सुख उसके त्यागसे होता है। यह सभीका अनुभव है कि जाग्रत और स्वप्नमें भोग-पदार्थोंसे सम्बन्ध रहनेपर सुख और दुःख दोनों होते हैं, पर सुषुप्ति ( गाढ़

निद्रा )में भोग-पदार्थोंकी किञ्चित् भी स्मृति न रहनेपर सुख ही होता है; दुःख नहीं। इसीलिये गाढ़ निद्रासे जगनेपर वह कहता है कि 'मैं बहुत सुखसे सोया'। इसके सिवा जाग्रत् और स्वप्नसे थकावट आती है, जब कि सुषुप्तिसे थकावट दूर होती है और ताजगी आती है। इससे सिद्ध होता है कि भोग-पदार्थोंके त्यागमें ही सुख है।

धनकी कामना होते ही धन मनके द्वारा पकड़ा जाता है। जब बाहरसे धन प्राप्त हो जाता है, तब मनसे पकड़े हुए धनका त्याग हो जाता है और सुखकी प्रतीति होती है। अतः वास्तवमें सुखकी प्रतीति बाहरसे धन मिलनेपर नहीं हुई, अपितु मनसे पकड़े हुए धनके त्यागसे ही हुई है। यदि धनके मिलनेसे ही सुख होता तो उस धनके रहते हुए कभी दुःख नहीं आता; परंतु उस धनके रहते हुए भी दुःख आ जाता है।

जब मनुष्य किसी वस्तुकी कामना करता है, तब वह पराधीन हो जाता है। जैसे, हमारे मनमें घड़ीकी कामना उत्पन्न हुई। कामना उत्पन्न होते ही हमें घड़ीके अभावका दुःख होने लगता है तो यह घड़ीकी पराधीनता है। हम सोचते हैं कि यदि रुपये मिल जायँ तो अभी घड़ी खरीद लें अर्थात् रुपयोंके होनेसे अपनेको स्वाधीन और न होनेसे अपनेको पराधीन मानते हैं। यह मान्यता बिल्कुल गलत है। वास्तवमें रुपये मिलनेपर घड़ीकी पराधीनता तो नहीं रही, पर रुपयोंकी पराधीनता तो हो ही गयी; क्योंकि रुपये भी 'पर', हैं, 'स्व' नहीं। जैसे वस्तुकी कामना

होनेसे वस्तुके पराधीन हुए, वैसे ही रुपयोंकी कामना होनेसे रुपयोंके पराधीन हुए। पराधीनता तो वैसी-की-वैसी ही रही! परन्तु कामनासे विवेक ढका जानेके कारण मनुष्यको वस्तुकी पराधीनताका तो अनुभव होता है, पर रुपयोंकी पराधीनताका अनुभव नहीं होता, अपितु रुपयोंके कारण वह स्वाधीनताका अनुभव करता है। जो पराधीनता स्वाधीनताके रूपमें दिखायी देती है, उस पराधीनतासे छूटना बहुत कठिन होता है।

संसारमात्र क्षणभङ्गुर है। शरीर, धन, जमीन, मकान आदि जितनी भी सांसारिक वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब प्रतिक्षण विनाशकी ओर जा रही हैं और अपनेसे वियुक्त भी हो रही हैं। परन्तु भोग भोगते समय उनकी क्षणभङ्गुरताका ज्ञान नहीं रहता। पदार्थको नित्य और स्थिर माने बिना सुखभोग हो ही नहीं सकता। साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, साधक भी भोगोंको नित्य और स्थिर माननेपर ही उनमें फँसता है। इसका कारण कामनाद्वारा विवेक ढका जाना ही है।

## विशेष बात—

मनुष्यको सदाके लिये महान् सुखी बनानेके उद्देश्यसे भगवान् कामनाको 'नित्य-वैरी' बतलाकर उससे बचनेके लिये सावधान करते हैं; क्योंकि कामना ही सम्पूर्ण पापों और दुःखोंका कारण है। एक मनुष्य अपनी स्त्रीको ढूँढ़ रहा था। लोगोंने पूछा—तुम्हारी स्त्रीका नाम क्या है? तो उसने कहा—फजीती। फिर पूछा कि तुम्हारा नाम क्या है? तो उसने कहा—बदमाश। लोगोंने कहा—

घबराओ मत, बड़ी पतिव्रता स्त्री है, अपने-आप आ जायगी ! कारण कि बदमाशको फजीती ( बदनामी ) अवश्य मिलती है । इसी प्रकार संसारके नाशवान् भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्यके पास दुःख अपने आप आते हैं ।

मनुष्य दुःखोंसे तो बचना चाहता है, पर दुःखोंके कारण 'काम' ( कामना ) को नहीं छोड़ता । कामनाके रहते हुए स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—'काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं' ( मानस ७ । ८९ । १ ) । भगवान् '**अनलेन, दुष्पूरेण**' पदोंसे यह बतलाते हैं कि भोग-पदार्थोंसे कामना कभी पूरी नहीं होती । ज्यों-ज्यों भोग-पदार्थ मिलते हैं, त्यों-ही-त्यों उनकी कामना बढ़ती है और ज्यों-ज्यों कामना बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों अभावका अधिक अनुभव होता है एवं अभावको मिटानेके लिये मनुष्य पाप-कर्मोंमें प्रवृत्त होता है । जैसे, धनकी कामना उत्पन्न होनेपर मनुष्य धनकी प्राप्तिमें न्याय-अन्यायका विचार नहीं करता । फिर कामना बढ़नेपर ( द्वितीयावस्थामें ) वह चोरी, डाके आदिमें भी लग जाता है । फिर और अधिक कामना बढ़नेपर ( तृतीयावस्थामें ) वह धनके लिये दूसरोंको जानसे भी मार डालता है । इस प्रकार नाशवान् सुखकी कामना करनेवाला मनुष्य अपने लोक और परलोक—दोनोंको महान् दुःखरूप बना लेता है ।

मनुष्यमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—चारोंकी इच्छा होती है । एक-दूसरेका सदुपयोग करनेपर धर्मसे अर्थकी और अर्थसे धर्मकी वृद्धि होती है । परन्तु जब धर्म और अर्थके साथ काम होता

है, तब कामसे धर्मका भी नाश होता है और अर्थका भी। यदि अर्थसे धर्म ही हो अथवा धर्मसे ही अर्थ हो, तो कामका नाश हो सकता है। काम ( कामना ) का नाश होनेपर धर्म और अर्थ—दोनों ही मुक्ति देनेवाले हो जाते हैं।

सम्बन्ध—

*किसी शत्रुको नष्ट करनेके लिये उसके रहनेके स्थानोंकी जानकारी होनी आवश्यक है। इसलिये भगवान् अगले श्लोकमें ज्ञानियोंके नित्य वैरी 'काम' के रहनेके स्थान बतलाते हैं।*

श्लोक—

**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।**
**एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्** ॥ ४० ॥

भावार्थ—

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इस कामके रहनेके स्थान कहे जाते हैं। इन्द्रियोंका अनुकूल भोगोंकी तरफ आकर्षण रहता है, मनमें चञ्चलताके सुखकी इच्छा रहती है, और बुद्धिमें सांसारिक पदार्थोंके भोग और संग्रहका निश्चय रहता है। इस प्रकार यह काम इन्द्रियों, मन और बुद्धिके द्वारा देहाभिमानी पुरुषके विवेकको ढककर उसे मोहित कर देता है। इस कारण वह परमात्मामें न लगकर नाशवान् भोग और संग्रहमें लग जाता है।

**'देहिनम्'** पदसे यह तात्पर्य निकलता है कि वास्तवमें काम उसीको मोहित करता है, जो शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानता है। अतः वस्तुतः काम माने हुए 'मैं' में ही रहता है और वहाँ काम

इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें दीखता है। यदि देहाभिमान न हो तो काम मोहित कर ही नहीं सकता।

अन्वय—

इन्द्रियाणि, मनः, बुद्धिः, अस्य, अधिष्ठानम्, उच्यते, एषः, एतैः, ज्ञानम्, आवृत्य, देहिनम्, विमोहयति ॥ ४० ॥

पद-व्याख्या—

**इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य अधिष्ठानम् उच्यते**—इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस ( काम ) के वासस्थान कहे गये हैं।

काम पाँच स्थानोंमें दीखता है—( १ ) पदार्थोंमें ( गीता ३ । ३४ ); ( २ ) इन्द्रियोंमें, ( ३ ) मनमें, ( ४ ) बुद्धिमें और ( ५ ) माने हुए अहम् ( 'मैं' ) अर्थात् कर्तामें *। इन पाँच स्थानोंमें दीखनेपर भी काम वास्तवमें माने हुए 'अहम्' ( चिज्जडग्रन्थि ) में ही रहता है। परंतु उपर्युक्त पाँच स्थानोंमें दिखायी देनेके कारण ही वे इस कामके वास-स्थान कहे जाते हैं।

समस्त क्रियाएँ शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे ही होती हैं। ये चारों कर्म करनेके साधन हैं। यदि इनमें काम रहता है तो वह पारमार्थिक कर्म नहीं होने देता। इसलिये कर्मयोगी निष्काम, निर्मम और अनासक्त होकर शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिके द्वारा अन्तः-करणकी शुद्धिके लिये कर्म करता है ( गीता ५ । ११ )।

वास्तवमें काम अहम् ( जड-चेतनके तादात्म्य ) में ही रहता है। अहम् अर्थात् 'मैं'-पन केवल माना हुआ है। मैं अमुक वर्ण,

* परमोऽस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ( गीता २ । ५९ )

आश्रम, सम्प्रदायवाला हूँ—यह केवल मान्यता है। मान्यताके सिवा इसका दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। इस माने हुए सम्बन्धमें ही कामना रहती है। कामनासे ही सब पाप होते हैं। पाप तो फल भुगताकर नष्ट हो जाते हैं, पर अहम्से कामना दूर हुए बिना नये-नये पाप होते रहते हैं। इसलिये कामना ही जीवको बाँधनेवाली है। महाभारतमें कहा है—

**कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।**
**कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥**

(शान्तिपर्व २५१। ७)

'जगत्में कामना ही एकमात्र बन्धन है, दूसरा कोई बन्धन नहीं है। जो कामनाके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।'

**एषः**—यह (काम)।

**एतैः ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् विमोहयति**—इन (इन्द्रियों, मन और बुद्धि)के द्वारा ज्ञानको ढककर देहाभिमानी पुरुषको मोहित करता है।

कामनाके कारण मनुष्यको जो करना चाहिये, वह नहीं करता और जो नहीं करना चाहिये, वह कर बैठता है। इस प्रकार कामना देहाभिमानी पुरुषको मोहित कर देती है।

कामनामें बाधा लगनेपर क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोधसे मोह (मूढ़भाव) उत्पन्न होता है। यदि कामनामें बाधा न लगे तो

लोभ उत्पन्न होता है और लोभसे भी क्रोधकी भाँति मोह उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि कामनासे पदार्थ न मिले तो 'क्रोध' उत्पन्न होता है और पदार्थ मिले तो 'लोभ' उत्पन्न होता है। उनसे फिर 'मोह' उत्पन्न होता है। कामना रजोगुणका कार्य है और मोह तमोगुणका कार्य। रजोगुण और तमोगुण पास-पास रहते हैं*। अतएव काम, क्रोध, लोभ और मोह पास-पास ही रहते हैं। काम इन्द्रियों, मन और बुद्धिके द्वारा देहाभिमानी पुरुषको मोहित ( बेहोश ) कर देता है। इस प्रकार 'काम' रजोगुणका कार्य होते हुए भी तमोगुणका कार्य 'मोह' हो जाता है।

कामना उत्पन्न होनेपर मनुष्य पहले इन्द्रियोंसे भोग भोगनेकी कामना करता है। पहले तो भोग-पदार्थ मिलते नहीं और मिल भी जायँ तो टिकते नहीं। इसलिये उन्हें किसी तरह प्राप्त करनेके लिये वह मनमें भाँति-भाँतिकी कामनाएँ करता है। बुद्धिमें उन्हें प्राप्त करनेके लिये तरह-तरहके उपाय सोचता है। इस प्रकार कामना पहले इन्द्रियोंको संयोगजन्य सुखके प्रलोभनमें लगाता है। फिर इन्द्रियाँ मनको अपनी ओर खींचती हैं और उसके बाद इन्द्रियाँ और मन मिलकर बुद्धिको भी अपनी ओर खींच लेते हैं। इस प्रकार काम देहाभिमानीके ज्ञानको ढककर इन्द्रियों, मन और बुद्धिके द्वारा उसे मोहित कर देता है तथा उसे पतनके गर्तमें डाल देता है।

---

* तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—तीनोंमें परस्पर ( क्रमशः १, १० और १०० अङ्कोंकी तरह ) दसगुनेका अन्तर है। फिर भी तमोगुण ( १ ) से रजोगुण ( १० ) समीप है और सत्त्वगुण (१००) इन दोनोंसे दूर पड़ता है।

यह सिद्धान्त है कि नौकर अच्छा हो, पर मालिक तिरस्कारपूर्वक उसे निकाल देता है तो फिर उसे अच्छा नौकर नहीं मिलेगा। ऐसे ही मालिक अच्छा हो, पर नौकर उसका तिरस्कार कर दे तो फिर उसे अच्छा मालिक नहीं मिलेगा। इसी प्रकार मनुष्य परमात्मप्राप्ति किये बिना शरीरको सांसारिक भोग और संग्रहमें ही खो देता है तो फिर उसे मनुष्यशरीर नहीं मिलेगा। अच्छी वस्तुका तिरस्कार होता है अन्तःकरण अशुद्ध होनेसे, और अन्तःकरण अशुद्ध होता है कामनासे। इसलिये सबसे पहले कामनाका नाश करना चाहिये।

'देहिनम् विमोहयति' पदोंका तात्पर्य यह है कि यह काम देहाभिमानी पुरुषको ही मोहित करता है, शरीरको 'मैं' और 'मेरा' माननेवाला ही देहाभिमानी होता है। भगवान्‌ने अपने उपदेशके आरम्भमें ही देह ( शरीर ) और देही ( शरीरी—आत्मा )का विवेचन किया है ( गीता २। ११—३० )। देह और देही दोनों पृथक्-पृथक् हैं—यह सबका अनुभव है। यह काम ज्ञानको ढककर देहाभिमानी ( देहसे अपना सम्बन्ध माननेवाले )को बाँधता है, देही ( शुद्ध स्वरूप )को नहीं। जो देहके साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता, उसे यह बाँध नहीं सकता। देहको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' माननेसे ही मनुष्य उत्पत्ति-विनाशशील जड़ वस्तुओंको महत्त्व देता है; जिससे उसमें जड़ताका राग उत्पन्न हो जाता है। राग उत्पन्न होनेपर जड़तासे सम्बन्ध हो जाता है। जड़तासे सम्बन्ध होनेपर ही कामनाकी उत्पत्ति

होती है। कामना उत्पन्न होनेपर जीव मोहित होकर संसार-बन्धनमें बँध जाता है।

सम्बन्ध—

*अब अगले तीन श्लोकोंमें भगवान् कामको मारनेका प्रकार बतलाते हुए उसे मारनेकी आज्ञा देते हैं।*

श्लोक—

**तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।**
**पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥**

भावार्थ—

इसलिये हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके अर्थात् केवल निर्वाह-बुद्धिसे अथवा साधनबुद्धिसे ही पदार्थोंका सेवन कर, भोगबुद्धिसे नहीं। इसके बाद ज्ञान ( विवेक ) और विज्ञान ( तत्त्वज्ञान )को आच्छादित करनेवाले इस महान् पापी 'काम'को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल। कारण कि यह 'काम' विवेक और तत्त्वज्ञानको ठीक-ठीक प्रकाशित नहीं होने देता और उन्हें प्रकाशित होकर कार्यरूपसे परिणत नहीं होने देता, जिससे मनुष्यका पतन हो जाता है।

अन्वय—

तस्मात्, भरतर्षभ, त्वम्, आदौ, इन्द्रियाणि, नियम्य, एनम्, ज्ञानविज्ञाननाशनम्, पाप्मानम्, ( कामम् ), हि, प्रजहि॥ ४१॥

पद-व्याख्या

तस्मात्—इसलिये।

भरतर्षभ—भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!

त्वम् आदौ इन्द्रियाणि नियम्य—तू सर्वप्रथम इन्द्रियोंका नियमन करके।

इन्द्रियोंको विषयोंमें 'भोग-बुद्धिसे प्रवृत्त न होने देना, अपितु केवल निर्वाह-बुद्धिसे अथवा साधन-बुद्धिसे प्रवृत्त होने देना ही उन्हें वशमें करना है। तात्पर्य यह कि इन्द्रियोंकी विषयोंमें रागपूर्वक प्रवृत्ति न हो और द्वेषपूर्वक निवृत्ति न हो।* रागपूर्वक प्रवृत्ति और द्वेषपूर्वक निवृत्ति होनेसे राग-द्वेष पुष्ट हो जाते हैं और न चाहते हुए भी मनुष्यको पतनकी ओर ले जाते हैं। इसलिये प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा कर्तव्य और अकर्तव्यको जाननेके लिये शास्त्र ही प्रमाण है।† शास्त्रके अनुसार कर्तव्यका पालन और अकर्तव्यका त्याग करनेसे इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं।

'काम'को मारनेके लिये सर्वप्रथम इन्द्रियोंका नियमन करनेके लिये कहनेका कारण यह है कि जबतक मनुष्य इन्द्रियोंके वशमें रहता है, तबतक उसकी दृष्टि तत्त्वकी ओर नहीं जाती; और तत्त्वकी ओर दृष्टि गये बिना अर्थात् तत्त्वका अनुभव हुए बिना 'काम'का सर्वथा नाश नहीं होता।

मनुष्यकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंसे ही होती है। इसलिये वह सर्वप्रथम इन्द्रियोंके विषयोंमें ही फँसता है, जिससे उसमें उन

---

* न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥
(गीता १८। १०)

† तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(गीता १६। २४)

विषयोंकी कामना उत्पन्न हो जाती है। कामना-सहित कर्म करनेसे मनुष्य पूरी तरह इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है और इससे उसका पतन हो जाता है। इसके विपरीत जो मनुष्य इन्द्रियोंको वशमें करके निष्काम-भावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करता है, उसका शीघ्र ही उद्धार हो जाता है।

**एनम् ज्ञानविज्ञाननाशनम्**—इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले।

'ज्ञान' पदका अर्थ शास्त्रीय ज्ञान भी लिया जाता है; जैसे—ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्मोंके अन्तर्गत '**ज्ञानम्**' पद शास्त्रीय ज्ञानके लिये ही आया है।* परंतु यहाँ प्रसङ्गके अनुसार 'ज्ञान'का अर्थ विवेक ( कर्तव्य-अकर्तव्यको पृथक्-पृथक् जानना ) लेना ही उचित प्रतीत होता है। 'विज्ञान' पदका अर्थ विशेष ज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान ( अनुभव-ज्ञान, असली ज्ञान या बोध ) है।

विवेक और तत्त्वज्ञान—दोनों ही स्वतःसिद्ध हैं। तत्त्वज्ञानका अनुभव तो सबको नहीं है, पर विवेकका अनुभव सभीको है। मनुष्यमें यह विवेक विशेषरूपसे है। अर्जुनके प्रश्न ( मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों करता है ? ) में आये '**अनिच्छन्नपि**' पदसे भी यही सिद्ध होता है कि मनुष्यमें विवेक है और इस विवेकसे ही वह पाप और पुण्य—दोनोंको जानता है और पाप नहीं करना चाहता। पाप न करनेकी इच्छा विवेकके बिना नहीं

* ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ( गीता १८।४२ )

होती। परंतु यह 'काम' उस विवेकको ढक देता है और उसे जाग्रत् नहीं होने देता।

विवेक जाग्रत् होनेसे मनुष्य भविष्यपर अर्थात् परिणामपर दृष्टि रखकर ही सब कार्य करता है। परंतु कामनासे विवेक ढक जानेके कारण परिणामकी ओर दृष्टि ही नहीं जाती। परिणामकी ओर दृष्टि न जानेसे ही वह पाप करता है।

इस प्रकार जिसका अनुभव सबको है, उस विवेकको भी जब यह 'काम' जाग्रत् नहीं होने देता, तब जिसका अनुभव सबको नहीं है, उस तत्त्वज्ञानको तो जाग्रत् होने ही कैसे देगा? इसलिये यहाँ 'काम'को ज्ञान (विवेक) और विज्ञान (बोध)—दोनोंका नाश करनेवाला बतलाया गया है।

वास्तवमें यह 'काम' ज्ञान और विज्ञानका नाश (अभाव) नहीं करता, अपितु उन दोनोंको ढक देता है, प्रकट नहीं होने देता। उन्हें ढक देनेको ही यहाँ उनका नाश करना कहा गया है। कारण कि ज्ञान-विज्ञानका कभी नाश होता ही नहीं। नाश तो वास्तवमें 'काम'का ही होता है। जिस प्रकार नेत्रोंके सामने बादल आनेपर 'बादलोंने सूर्यको ढक दिया' ऐसा कहा जाता है, पर वास्तवमें सूर्य नहीं ढका जाता, अपितु नेत्र ढके जाते हैं, उसी प्रकार 'कामनाने ज्ञान-विज्ञानको ढक दिया' ऐसा कहा तो जाता है, पर वास्तवमें ज्ञान-विज्ञान ढके नहीं जाते, अपितु बुद्धि ढकी जाती है।

**पाप्मानम् हि प्रजहि**—महान् पापी (काम)को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल।

**गी० क० २१—**

कामना सम्पूर्ण पापोंकी जड़ है । इसलिये कामना उत्पन्न होनेसे पाप होनेकी सम्भावना रहती है । आगे चलकर कामना मनुष्यके विवेकको ढककर उसे अन्धा बना देती है, जिससे उसे पाप-पुण्यका ज्ञान ही नहीं रहता और वह पापोंमें ही लग जाता है । इससे उसका महान् पतन हो जाता है । इसलिये भगवान् कामनाको महापापी बतलाकर उसे अवश्य ही मार डालनेकी आज्ञा देते हैं ।

गृहस्थ-जीवन ठीक नहीं, साधु हो जायँ, एकान्तमें चले जायँ—इस प्रकार मनुष्य कार्यको तो बदलना चाहता है, पर कारण 'कामना'को नहीं छोड़ता; उसे छोड़नेका विचार ही नहीं करता । यदि वह कामनाको छोड़ दे तो उसके सब काम अपने-आप ठीक हो जायँ । जब मनुष्य जीनेकी कामना तथा अन्य कामनाओंको रखते हुए मरता है, तब वे कामनाएँ उसके अगले जन्मका कारण बन जाती हैं । तात्पर्य यह कि जबतक मनुष्यमें कामना रहती है, तबतक वह जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ा रहता है । इस प्रकार बाँधनेके सिवा कामना और कुछ काम नहीं आती ।

जब मनुष्यका जड़-पदार्थोंकी ओर आकर्षण होता है, तभी उनकी कामना उत्पन्न होती है । कामना उत्पन्न होते ही विवेक-दृष्टि दब जाती है और इन्द्रिय-दृष्टिकी प्रधानता हो जाती है । इन्द्रियाँ मनुष्यको केवल शब्दादि विषयोंके सुख-भोगमें ही लगाती हैं । पशु-पक्षियोंकी भी प्रवृत्ति इन्द्रियोंसे मिलनेवाले सुखतक ही रहती है । परन्तु कामनासे विवेक ढक जानेके कारण मनुष्य

इन्द्रियजन्य सुखके लिये पदार्थोंकी कामना करने लगता है, और फिर पदार्थोंके लिये रुपयोंकी कामना करने लग जाता है। इतना ही नहीं, उसकी दृष्टि रुपयोंसे भी हटकर रुपयोंकी गिनती (संग्रह) में हो जाती है। फिर वह रुपयोंकी गिनती बढ़ानेमें ही लग जाता है। निर्वाहमात्रके रुपयोंकी अपेक्षा उनका संग्रह अधिक पतन करनेवाला है, और संग्रहकी अपेक्षा भी रुपयोंकी गिनती महान् पतन करनेवाली है। गिनती बढ़ानेके लिये वह झूठ, कपट, धोखा, चोरी आदि पाप-कर्मोंको भी करने लग जाता है, और गिनती बढ़नेपर उसमें अभिमान भी आ जाता है, जो आसुरी-सम्पत्तिका मूल है। इस प्रकार कामनाके कारण मनुष्य महान् पतनकी ओर चला जाता है। इसलिये भगवान् इस महान् पापी कामका अच्छी तरह नाश करनेकी आज्ञा देते हैं।

श्लोक—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

भावार्थ—

इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों) को स्थूलशरीरसे पर अर्थात् श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म कहते हैं। इन्द्रियोंसे पर मन है। मनसे भी पर बुद्धि है। बुद्धिसे भी पर काम है। वह काम 'अहम्' (जड़-चेतनके तादात्म्य) में रहता है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब जड़ हैं। इन सबसे परे 'अहम्' ( 'मैं'-पन ) है। जड़ और चेतनके तादात्म्यको ही 'अहम्' कहते हैं। 'अहम्'में जो जड़-अंश है, मूलरूपसे उसीमें ( चेतनके सम्बन्धसे ) 'काम' रहता है। परन्तु जड़से तादात्म्य अर्थात् अपना सम्बन्ध माननेके कारण वह काम चेतन ( स्वरूप ) में रहता प्रतीत होता है। वह चेतन ही अनुकूलता-प्रतिकूलताका भोक्ता बनता है।

इस प्रकार बुद्धिसे पर 'अहम्'को जानकर अपने द्वारा अपने-आपको वशमें करके अर्थात् जड़से सम्बन्ध-विच्छेद करके हे महाबाहो! तू 'अहम्'में रहनेवाले इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल।

जड़से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही 'अहंवृत्ति'का नाश हो जाता है। अहंवृत्तिका नाश होते ही उसमें मूलरूपसे रहनेवाला 'काम' भी सर्वथा नष्ट हो जाता है। कामका सर्वथा नाश होते ही सत्-स्वरूप स्वयंका साक्षात्कार हो जाता है।

अन्वय—

इन्द्रियाणि, पराणि, आहुः, इन्द्रियेभ्यः, परम्, मनः, मनसः, तु, परा, बुद्धिः, तु, यः, बुद्धेः, परतः, सः ॥४२॥

एवम्, बुद्धेः, परम्, बुद्ध्वा, आत्मना, आत्मानम्, संस्तभ्य, महाबाहो, कामरूपम्, दुरासदम्, शत्रुम्, जहि ॥४३॥

पद-व्याख्या—

**इन्द्रियाणि पराणि आहुः**—इन्द्रियोंको ( स्थूलशरीरसे अथवा विषयभोगोंसे ) पर अर्थात् श्रेष्ठ, बलवान्, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म कहते हैं।

शरीर अथवा विषयोंसे इन्द्रियाँ पर हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ज्ञान होता है, पर विषयोंके द्वारा इन्द्रियोंका ज्ञान नहीं होता। इन्द्रियाँ विषयोंके बिना भी रहती हैं, पर इन्द्रियोंके बिना विषयोंकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। विषयोंमें यह सामर्थ्य नहीं कि वे इन्द्रियोंको प्रकाशित करें, प्रत्युत इन्द्रियाँ विषयोंको प्रकाशित करती हैं। इन्द्रियाँ वही रहती हैं, पर विषय बदलते रहते हैं। इन्द्रियाँ व्यापक हैं और विषय व्याप्य हैं अर्थात् विषय इन्द्रियोंके अन्तर्गत आते हैं, पर इन्द्रियाँ विषयोंके अन्तर्गत नहीं आतीं। विषयोंकी अपेक्षा इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं। इसलिये विषयोंकी अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म हैं।

**इन्द्रियेभ्यः परम् मनः**—इन्द्रियोंसे पर मन है।

इन्द्रियाँ मनको नहीं जानतीं, पर मन सभी इन्द्रियोंको जानता है। इन्द्रियोंमें भी प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयको ही जानती है, अन्य इन्द्रियोंके विषयोंको नहीं; जैसे—कान केवल शब्दको जानते हैं, पर स्पर्श, रूप, रस और गन्धको नहीं जानते; त्वचा केवल स्पर्शको जानती है, पर शब्द, रूप, रस और गन्धको नहीं जानती; नेत्र केवल रूपको जानते हैं, पर शब्द, स्पर्श, रस और गन्धको नहीं जानते; रसना केवल रसको जानती है, पर शब्द, स्पर्श, रूप और गन्धको नहीं जानती; और नासिका केवल गन्धको जानती है, पर शब्द, स्पर्श, रूप और रसको नहीं जानती। परन्तु मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको तथा उनके विषयोंको जानता है। इसलिये मन इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म है।

मनसः तु परा बुद्धिः—मनसे भी पर बुद्धि है।

मन बुद्धिको नहीं जानता, पर बुद्धि मनको जानती है। मन कैसा है ? शान्त है या व्याकुल ? ठीक है या बेठीक ? इत्यादि बातोंको बुद्धि जानती है। इन्द्रियाँ ठीक काम करती हैं या नहीं ?—इसे भी बुद्धि जानती है। तात्पर्य यह कि बुद्धि मनको तथा उसके संकल्पोंको भी जानती है, और इन्द्रियोंको तथा उनके विषयोंको भी जानती है। इसलिये इन्द्रियोंसे पर जो मन है, उस मनसे भी बुद्धि पर ( श्रेष्ठ, बलवान्, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म ) है।

तु—और।

यः बुद्धेः परतः सः—जो बुद्धिसे भी पर है, वह ( काम ) है। बुद्धिका स्वामी 'अहम्' है, इसलिये कहता है—'मेरी बुद्धि'। बुद्धि करण है और 'अहम्' कर्ता है। करण परतन्त्र होता है, पर कर्ता स्वतन्त्र होता है। उस 'अहम्'में जो जड़-अंश है, उसमें 'काम' रहता है। जड़-अंशसे तादात्म्य होनेके कारण वह काम स्वरूप ( चेतन )में रहता प्रतीत होता है।

वास्तवमें 'अहम्'में ही 'काम' रहता है; क्योंकि वही भोगोंकी इच्छा करता है और सुख-दुःखका भोक्ता बनता है। भोक्ता, भोग और भोग्य—इन तीनोंमें सजातीयता ( जातीय एकता ) है। इनमें सजातीयता न हो तो भोक्तामें भोग्यकी कामना या आकर्षण हो ही नहीं सकता। भोक्तापनका जो प्रकाशक है, जिसके प्रकाशमें भोक्ता, भोग और भोग्य—तीनोंकी सिद्धि होती है, उस परम

प्रकाशक ( शुद्ध चेतन )में 'काम' नहीं है । 'अहम्' तक सब प्रकृतिका अंश है । उस 'अहम्'से भी आगे साक्षात् परमात्माका अंश 'स्वयं' है, जो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्——इन सबका आश्रय, आधार, कारण और प्रेरक है तथा श्रेष्ठ, बलवान्, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म है ।

जड़ ( प्रकृति ) का अंश ही सुख-दुःखरूपमें परिणत होता है अर्थात् सुख-दुःखरूप विकृति जड़में ही होती है, चेतनमें विकृति नहीं है, अपितु चेतन विकृतिका ज्ञाता है, परन्तु जड़से तादात्म्य होनेसे सुख-दुःखका भोक्ता चेतन ही बनता है अर्थात् चेतना ही सुखी-दुःखी होता है । केवल जड़में सुखी-दुःखी होना नहीं बनता । तात्पर्य यह कि 'अहम्'में जो जड़-अंश है, उसके साथ तादात्म्य कर लेनेसे चेतन भी अपनेको 'मैं भोक्ता हूँ' ऐसा मान लेता है । उस शुद्ध चेतन ( स्वरूप ) का साक्षात्कार होते ही रसबुद्धि निवृत्त हो जाती है——**'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** ( गीता २ । ५९ )——इसमें **'अस्य'** पद भोक्ता बने हुए 'अहम्'का वाचक है, और जो भोक्तापनसे निर्लिप्त तत्त्व है, उस शुद्ध-स्वरूपका वाचक **'परम्'** पद है । उसके ज्ञानसे रस अर्थात् 'काम' निवृत्त हो जाता है । कारण कि सुखके लिये ही कामना होती है और स्वरूप सहज-सुखराशि है । इसलिये स्वरूपका साक्षात्कार होनेसे 'काम' ( संयोग-जन्य सुखकी इच्छा ) सर्वदा और सर्वथा मिट जाता है ।

## मार्मिक बात——

स्थूलशरीर 'विषय' है, इन्द्रियाँ 'बहिःकरण' हैं और मन-बुद्धि 'अन्तःकरण' हैं । स्थूलशरीरसे इन्द्रियाँ पर ( श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक,

व्यापक और सूक्ष्म ) हैं तथा इन्द्रियोंसे बुद्धि पर है। बुद्धिसे भी पर 'अहम्' है, जो कर्ता है। उस 'अहम्' ( कर्ता ) में 'काम' अर्थात् लौकिक इच्छा रहती है।

अपनी सत्ता ( होनापन ) अर्थात् अपना स्वरूप चेतन, निर्विकार और सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। जब वह जड़ ( प्रकृतिजन्य शरीर )के साथ तादात्म्य कर लेता है *, तब 'अहम्' उत्पन्न होता है और स्वरूप 'कर्ता' बन जाता है। इस प्रकार कर्तामें एक जड़-अंश होता है और एक चेतन-अंश। जड़-अंशकी मुख्यतासे संसारकी ओर एवं चेतन-अंशकी मुख्यतासे परमात्माकी ओर आकर्षण होता है।† तात्पर्य यह कि उसमें जड़-अंशकी प्रधानतासे लौकिक ( संसारकी ) इच्छाएँ रहती हैं और

---

* ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

( गीता १५।७ )

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है।'

† जड़-चेतनके तादात्म्य और आकर्षणको समझनेके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है। चार कोनोंवाले किसी लोहेका अग्निसे तादात्म्य अर्थात् सम्बन्ध होनेपर लोहेमें जलानेकी शक्ति न होनेपर भी वह जलानेवाला हो जाता है। और अग्नि चार कोनोंवाली न होनेपर भी चार कोनोंवाली हो जाती है। अग्निसे तादात्म्य होनेपर भी चुम्बककी ओर लोहा ही आकर्षित होता है, अग्नि नहीं; क्योंकि चुम्बकके साथ लोहेकी सजातीयता है। अग्नि अपने सजातीय निराकार अग्नि-तत्त्वकी ओर ही आकर्षित होती है, इसलिये वह स्वतः शान्त हो जाती है। इसी प्रकार

चेतन-अंशकी प्रधानतासे पारमार्थिक (परमात्माकी) इच्छा रहती है।* जड़-अंश मिटनेवाला है, इसलिये लौकिक इच्छाएँ मिटनेवाली हैं और चेतन-अंश सदा रहनेवाला है, इसलिये पारमार्थिक इच्छा पूरी होनेवाली है। अतएव लौकिक इच्छाओं (कामनाओं)की निवृत्ति और पारमार्थिक इच्छा (संसारसे छूटनेकी इच्छा, स्वरूप-बोधकी जिज्ञासा और भगवत्प्रेमकी अभिलाषा)की पूर्ति होती है। लौकिक इच्छाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, पर टिक नहीं सकतीं; परन्तु पारमार्थिक इच्छा दब सकती है, पर मिट नहीं सकती। कारण कि लौकिक इच्छाएँ अवास्तविक और पारमार्थिक इच्छा वास्तविक है। इसलिये साधकको न तो लौकिक इच्छाओंकी पूर्तिकी आशा रखनी चाहिये और न पारमार्थिक इच्छाकी पूर्तिसे निराश ही होना चाहिये।

वस्तुतः मूलमें इच्छा एक ही है, जो अपने अंशी परमात्माकी है। परन्तु जड़के सम्बन्धसे इस इच्छाके दो भेद हो जाते हैं और मनुष्य अपनी वास्तविक इच्छाकी पूर्ति परिवर्तनशील जड़ (संसार) के द्वारा करनेके लिये जड़-पदार्थोंकी इच्छाएँ करने लगता है, जो

---

जड़ और चेतनके तादात्म्यमें जड़-अंश संसारकी ओर एवं चेतन-अंश परमात्माकी ओर आकर्षित होता है। चेतन-अंशके परमात्माकी ओर आकृष्ट होनेपर जड़-अंश छूट जाता है; क्योंकि जड़ अनित्य है। परन्तु जड़-अंशके संसारकी ओर आकृष्ट होनेपर भी चेतन-अंश नहीं छूटता; क्योंकि चेतन नित्य है।

* लौकिक इच्छा 'कामना' और पारमार्थिक इच्छा 'आवश्यकता' कहलाती है। इस दृष्टिसे कामना 'परधर्म' और आवश्यकता 'स्वधर्म' है।

उसकी भूल है। कारण कि लौकिक इच्छाएँ 'परधर्म' और पारमार्थिक इच्छा 'स्वधर्म' हैं। परन्तु साधकमें लौकिक और पारमार्थिक—दोनों इच्छाएँ रहनेसे द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। द्वन्द्व होनेसे साधकमें भजन, ध्यान, सत्सङ्ग आदिके समय तो पारमार्थिक इच्छा जाग्रत् रहती है, पर अन्य समयमें उसकी पारमार्थिक इच्छा दब जाती है और लौकिक ( भोग एवं संग्रहकी ) इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। लौकिक इच्छाओंके रहते हुए साधकमें साधन करनेका एक निश्चय स्थिर नहीं रह पाता। पारमार्थिक इच्छा जाग्रत् हुए बिना साधककी उन्नति नहीं होती। जब साधकका एकमात्र परमात्मप्राप्ति करनेका दृढ़ उद्देश्य हो जाता है, तब यह द्वन्द्व मिट जाता है और साधकमें एक पारमार्थिक इच्छा ही प्रबल रह जाती है। एक ही पारमार्थिक इच्छा प्रबल रहनेसे साधक सुगमतापूर्वक परमात्मप्राप्ति कर लेता है—**'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'** ( गीता ५। ३ )। इसलिये लौकिक और पारमार्थिक इच्छाका द्वन्द्व मिटाना साधकके लिये बहुत आवश्यक है।

शुद्ध स्वरूपमें अपने अंशी परमात्माकी ओर स्वतः एक आकर्षण या रुचि विद्यमान रहती है, जिसे 'प्रेम' कहते हैं। जब वह संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह 'प्रेम' दब जाता है और 'काम' उत्पन्न हो जाता है। जबतक 'काम' रहता है, तबतक 'प्रेम' जाग्रत नहीं होता। जबतक 'प्रेम' जाग्रत नहीं होता, तबतक 'काम'का सर्वथा नाश नहीं होता। जड़-अंशकी मुख्यतासे जिसमें सांसारिक भोगोंकी इच्छा ( काम ) रहती है, उसीमें चेतन-अंशकी मुख्यतासे परमात्माकी इच्छा भी रहती है।

अतः वास्तवमें 'काम'का निवास जड़-अंशमें ही है, पर वह भी चेतनके सम्बन्धसे ही है। चेतनका सम्बन्ध छूटते ही 'काम'का नाश हो जाता है। तात्पर्य यह कि चेतनद्वारा जड़से सम्बन्ध-विच्छेद करते ही जड़-चेतनके तादात्म्यरूप 'अहम्'का नाश हो जाता है और 'अहम्'का नाश होते ही 'काम' भी नष्ट हो जाता है।

'अहम्'में जो जड़-अंश है, उसमें 'काम' रहता है—इसकी प्रबल युक्ति यह है कि दृश्यरूपसे दीखनेवाला संसार, उसे देखनेवाली इन्द्रियाँ तथा बुद्धि और उसे देखनेवाला स्वयं भोक्ता—इन तीनोंमें जातीय ( धातुगत ) एकताके बिना भोक्ताका भोग्यकी ओर आकर्षण हो ही नहीं सकता। कारण कि आकर्षण सजातीयतामें ही होता है, विजातीयतामें नहीं; जैसे—नेत्रोंका रूपके प्रति ही आकर्षण होता है; शब्दके प्रति नहीं। यही बात सब इन्द्रियोंमें लागू होती है। बुद्धिका भी समझनेके विषय ( विवेक-विचार )में आकर्षण होता है, शब्दादि विषयोंमें नहीं ( यदि होता है तो इन्द्रियोंको साथमें लेनेसे ही होता है )। ऐसे ही 'स्वयं' ( चेतन )की परमात्मासे तात्त्विक एकता है, इसलिये 'स्वयं'का परमात्माकी ओर आकर्षण होता है। यह तात्त्विक एकता जड़-अंशका सर्वथा त्याग करनेसे अर्थात् जड़से माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद करनेसे ही अनुभवमें आती है। अनुभवमें आते ही 'प्रेम' जाग्रत् हो जाता है। प्रेममें जड़ता ( असत् )का अंश भी शेष नहीं रहता अर्थात् जड़ताका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

प्रकृतिके कार्य महत्तत्त्व ( समष्टि बुद्धि )का अत्यन्त सूक्ष्म अंश 'कारणशरीर' ही 'अहम्'का जड़-अंश है। इस कारणशरीरमें ही 'काम' रहता है। कारणशरीरके तादात्म्यसे 'काम' स्वयंमें दीखता है। तादात्म्य मिटनेपर जिसमें 'काम'का लेश भी नहीं है, ऐसे अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाता है। स्वरूपका अनुभव हो जानेपर 'काम' सर्वथा निवृत्त हो जाता है—'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'( गीता २ । ५९ )।

**एवम् बुद्धेः परम् बुद्ध्वा**—इस प्रकार बुद्धिसे पर ( 'काम' ) को जानकर।

पहले शरीरसे पर इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे पर मन, मनसे पर बुद्धि और बुद्धिसे पर 'काम'को बतलाया गया। अब उपर्युक्त पदोंमें बुद्धिसे पर 'काम' को जाननेके लिये कहनेका अभिप्राय यह है कि यह काम 'अहम्' में रहता है। अपने वास्तविक स्वरूपमें 'काम' नहीं है। यदि स्वरूपमें 'काम' होता तो कभी मिटता नहीं। नाशवान् जड़के साथ तादात्म्य कर लेनेसे ही 'काम' उत्पन्न होता है। तादात्म्यमें भी 'काम' रहता तो जड़में ही है, पर दीखता है स्वरूपमें। इसलिये बुद्धिसे परे रहनेवाले इस 'काम' को जानकर उसका नाश कर देना चाहिये।

**आत्मना आत्मानम् संस्तभ्य**—अपने द्वारा अपने-आपको वशमें करके।

बुद्धिसे परे 'अहम्' में रहनेवाले 'काम' को मारनेका उपाय है—अपने द्वारा अपने-आपको वशमें करना अर्थात् अपना सम्बन्ध

केवल अपने शुद्ध स्वरूपके साथ अथवा अपने अंशी भगवान्‌के साथ रखना, जो वास्तवमें है। छठे अध्यायके छठे श्लोकमें भी **'येनात्मैवात्मना जितः'** पदोंसे यही बात कही गयी है।

स्वरूप ( स्वयं ) साक्षात् परमात्माका अंश है और शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि संसारके अंश हैं। जब स्वरूप अपने अंशी परमात्मासे विमुख होकर प्रकृति ( संसार ) के सम्मुख हो जाता है, तब उसमें कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कामनाएँ अभावसे उत्पन्न होती हैं और अभाव संसारके सम्बन्धसे होता है; क्योंकि संसार अभावरूप ही है—**'नासतो विद्यते भावः'** ( गीता २। १६ )। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही कामनाओंका नाश हो जाता है; क्योंकि स्वरूपमें अभाव नहीं है—**'नाभावो विद्यते सतः'** ( वही )।

परमात्मासे विमुख होकर संसारसे अपना सम्बन्ध माननेपर भी जीवकी वास्तविक इच्छा ( आवश्यकता या भूख ) अपने अंशी परमात्माको प्राप्त करनेकी ही होती है। 'मैं सदा जीता रहूँ; मैं सब कुछ जान जाऊँ; मैं सदाके लिये सुखी हो जाऊँ'—इस रूपमें वह वास्तवमें सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप परमात्माकी ही इच्छा करता है, पर संसारसे सम्बन्ध माननेके कारण वह भूलसे इन इच्छाओंको संसारसे ही पूरी करना चाहता है—यही 'काम' है। इस 'काम'-की पूर्ति तो कभी हो ही नहीं सकती। इसलिये इस 'काम'का नाश तो करना ही पड़ेगा।

जिसने संसारसे अपना सम्बन्ध जोड़ा है, वही उसे तोड़ भी सकता है। इसलिये भगवान्‌ने अपने द्वारा ही संसारसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करके 'काम' को मारनेकी आज्ञा दी है।

अपने द्वारा ही अपने-आपको वशमें करनेमें कोई अभ्यास नहीं है; क्योंकि अभ्यास संसार ( शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ) की सहायतासे ही होता है। इसलिये अभ्यासमें संसारके सम्बन्धकी सहायता लेनी पड़ती है। वास्तवमें अपने स्वरूपमें स्थिति अथवा परमात्माकी प्राप्ति संसारकी सहायतासे नहीं होती, अपितु संसारके त्याग ( सम्बन्ध-विच्छेद ) से, अपने-आपसे होती है।

सैंतीसवें श्लोकसे 'काम'-विषयक जो प्रसङ्ग चला है, उसमें 'काम'को मारनेका उपाय केवल उपर्युक्त पदोंमें बतलाया गया है। यही नहीं, गीतामें जहाँ कहीं परमात्मप्राप्तिकी चर्चा आयी है, वहाँ साधकोंकी महिमा, सिद्धोंकी महिमा अथवा साध्यका स्वरूप—इनका तो विस्तृत वर्णन हुआ है, पर साधनोंका वर्णन बहुत कम हुआ है ( जैसे, १३। १८, २२, २४; १४। १९ आदि )। इसका तात्पर्य यह है कि थोड़ा-सा भी साधन साध्यकी प्राप्ति करानेमें समर्थ है।

## मार्मिक बात—

जब चेतन अपना सम्बन्ध जड़के साथ मान लेता है, तब उसमें संसार ( भोग ) की भी इच्छा होती है और परमात्माकी भी। जड़से सम्बन्ध माननेपर जीवसे यही भूल होती है कि वह सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्माकी इच्छा—अभिलाषाको संसारसे ही पूरा करनेके लिये सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा करने लगता है। परिणामस्वरूप उसकी ये दोनों ही इच्छाएँ ( स्वरूपबोधके बिना ) कभी मिटतीं नहीं।

संसारको जाननेके लिये संसारसे अलग होना और परमात्माको जाननेके लिये परमात्मासे अभिन्न होना आवश्यक है; क्योंकि

वास्तवमें 'स्वयं' की संसारसे भिन्नता और परमात्मासे अभिन्नता है। परन्तु संसारकी इच्छा करनेसे 'स्वयं' संसारसे अपनी अभिन्नता या समीपता मान लेता है, जो कभी सम्भव नहीं; और परमात्माकी इच्छा करनेसे 'स्वयं' परमात्मासे अपनी भिन्नता या दूरी ( विमुखता ) मान लेता है, पर इसकी सम्भावना ही नहीं। हाँ, सांसारिक इच्छाओंको मिटानेके लिये पारमार्थिक इच्छा करना बहुत उपयोगी है। यदि पारमार्थिक इच्छा तीव्र हो जाय तो लौकिक इच्छाएँ स्वतः मिट जाती हैं। लौकिक इच्छाएँ सर्वथा मिटनेपर पारमार्थिक इच्छा पूरी हो जाती है अर्थात् नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जाता है *। कारण कि वास्तवमें परमात्मा सदा-सर्वत्र विद्यमान हैं, पर लौकिक इच्छाएँ रहनेसे उनका अनुभव नहीं होता।

**महाबाहो**—हे महाबाहो!

---

* यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
( कठ० २। ३। १४; बृहदा० ४। ४। ७ )

'साधक' के हृदयमें स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं ( मनुष्यशरीरमें ही ) ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है।'

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥
( श्रीमद्भा० ७। १०। ९ )

'कमलनयन! जिस समय मनुष्य अपने मनमें रहनेवाली समस्त कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेता है।'

'महाबाहो' का अर्थ है—बड़ी और बलवान् भुजाओंवाला अर्थात् शूरवीर। अर्जुनको 'महाबाहो' अर्थात् शूरवीर कहकर भगवान् यह लक्ष्य कराते हैं कि तुम इस 'काम'-रूप शत्रुका दमन करनेमें समर्थ हो।

कामरूपम् दुरासदम् शत्रुम् जहि—( तू इस ) काम-रूप दुर्जय शत्रुको मार डाल।

संसारसे सम्बन्ध रखते हुए 'काम' का नाश करना बहुत कठिन है। यह 'काम' बड़ों-बड़ोंके भी विवेकको ढककर उन्हें कर्तव्यसे च्युत कर देता है, जिससे उनका पतन हो जाता है। इसलिये भगवान्ने इसे दुर्जय शत्रु कहा है।

'काम' को दुर्जय शत्रु कहनेका तात्पर्य इससे अधिक सावधान रहनेमें है, इसे दुर्जय समझकर निराश होनेमें नहीं।

किसी एक कामनाकी उत्पत्ति, पूर्ति, अपूर्ति और निवृत्ति होती है, इसलिये मात्र कामनाएँ उत्पन्न और नष्ट होनेवाली हैं। परंतु 'स्वयं' निरन्तर रहता है और कामनाओंके उत्पन्न तथा नष्ट होनेको जानता है। अतः कामनाओंसे वह सुगमतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है; क्योंकि वास्तवमें सम्बन्ध है ही नहीं। इसलिये साधकको कामनाओंसे कभी घबराना नहीं चाहिये। यदि साधकका अपने कल्याणका पक्का उद्देश्य* है, तो वह 'काम' को सुगमतापूर्वक मार सकता है।

---

* उद्देश्य या लक्ष्य सदैव अविनाशी ( चेतन-तत्त्व—परमात्मा ) का ही होता है, नाशवान् ( संसार ) का नहीं। नाशवानकी कामनाएँ ही होती

कामनाओंके त्यागमें अथवा परमात्माकी प्राप्तिमें सब स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ हैं। परन्तु कामनाओंकी पूर्तिमें कोई भी स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ नहीं है। कारण कि कामना पूरी होनेवाली है ही नहीं। परमात्माने मानव-शरीर अपनी प्राप्तिके लिये ही दिया है। अतएव कामनाका त्याग करना कठिन नहीं है। सांसारिक भोग-पदार्थोंको महत्त्व देनेके कारण ही कामनाका त्याग कठिन प्रतीत होता है।

सुख ( अनुकूलता )को मिटानेके लिये ही भगवान् समय-समयपर दुःख ( प्रतिकूलता ) भेजते हैं कि सुखकी कामना मत करो; कामना करोगे तो दुःख पाना ही पड़ेगा। सांसारिक पदार्थोंकी कामनावाला मनुष्य दुःखसे कभी बच ही नहीं सकता—यह नियम है; क्योंकि संयोगजन्य भोग ही दुःखके हेतु हैं—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** ( गीता ५ । २२ )।

'स्वयं' ( स्वरूप )में अनन्त बल है। उसकी सत्ता और बलको पाकर ही बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ सत्तावान् एवं बलवान् होते हैं। परन्तु जड़से सम्बन्ध जोड़नेके कारण वह अपने बलको भूल रहा है और अपनेको बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अधीन मान रहा है।

---

है, उद्देश्य नहीं होता। उद्देश्य वह होता है, जिसे मनुष्य निरन्तर चाहता है। चाहे शरीरके टुकड़े-टुकड़े ही क्यों न कर दिये जायँ, तो भी वह उद्देश्यको ही चाहता है। उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य होती है, पर कामनाओंकी सिद्धि नहीं होती; अपितु नाश होता है। उद्देश्य सदा एक ही रहता है, पर कामनाएँ बदलती रहती हैं।

अतएव 'काम'-रूप शत्रुको मारनेके लिये अपने-आपको जानना और अपने बलको पहचानना अति आवश्यक है।

'काम' जड़के सम्बन्धसे और जड़में ही होता है। तादात्म्य होनेसे वह स्वयंमें प्रतीत होता है। जड़का सम्बन्ध न रहे तो 'काम' है ही नहीं। अतएव यहाँ 'काम'को मारनेका तात्पर्य वस्तुतः 'काम'का सर्वथा अभाव बतलानेमें ही है। इसके विपरीत यदि 'काम' अर्थात् कामनाकी सत्ताको मानकर उसे मिटानेकी चेष्टा करें तो कामनाका मिटना कठिन है। कारण कि वास्तवमें कामनाकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। कामना उत्पन्न होती है और उत्पन्न होनेवाली वस्तु नष्ट होगी ही—यह नियम है। नयी कामना न करें तो पहलेकी कामनाएँ अपने-आप नष्ट हो जायँगी। इसलिये कामनाके मिटानेका तात्पर्य है—नयी कामना न करना *।

---

* जिस कामनामें निम्नलिखित चार बातें हों, उस कामनाकी पूर्ति कर देनी चाहिये—

( १ ) जो कामना वर्तमानमें उत्पन्न हुई हो ( जैसे, भूख लगनेपर भोजनकी कामना )।

( २ ) जिसकी पूर्तिकी साधन-सामग्री वर्तमानमें उपलब्ध हो।

( ३ ) जिसकी पूर्ति किये बिना जीवित रहना सम्भव न हो।

( ४ ) जिसकी पूर्तिसे अपना तथा दूसरोंका—किसीका भी अहित न होता हो।

—इस प्रकार शरीर-निर्वाहमात्रकी आवश्यक कामनाओंकी पूर्ति कर देनी चाहिये। आवश्यक कामनाओंको पूरा करनेसे अनावश्यक

शरीरादि सांसारिक पदार्थोंको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' माननेसे ही अपने-आपमें कमीका अनुभव होता है, पर मनुष्य भूलसे उस कमीकी पूर्ति भी सांसारिक पदार्थोंसे ही करना चाहता है। इसलिये वह उन पदार्थोंकी कामना करता है। परन्तु वास्तवमें आजतक सांसारिक पदार्थोंसे किसीकी भी कमीकी पूर्ति हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। कारण कि स्वयं अविनाशी है और पदार्थ नाशवान् हैं। स्वयं अविनाशी होकर भी नाशवान्की कामना करनेसे लाभ तो कोई होता नहीं और हानि कोई-सी भी शेष रहती नहीं। इसलिये भगवान् कामनाको शत्रु बतलाते हुए उसे मार डालनेकी आज्ञा देते हैं।

कर्मयोगके द्वारा इस कामनाका नाश सुगमतासे हो जाता है। कारण कि कर्मयोगका साधक संसारकी छोटी-से-छोटी अथवा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक क्रिया परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखकर दूसरोंके लिये ही करता है, कामनाकी पूर्तिके लिये नहीं। वह प्रत्येक क्रिया निष्कामभावसे एवं दूसरोंके हित और सुखके लिये ही करता है, अपने लिये कभी कुछ नहीं करता। उसके पास जो 'समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य' है, वह सब अपनी नहीं है, अपितु मिली हुई है और बिछुड़ जायगी। इसलिये वह उसे अपनी कभी न

---

कामनाओंके त्यागका बल आ जाता है। परन्तु आवश्यक कामनाओंकी पूर्तिका सुख नहीं लेना है; क्योंकि पूर्तिका सुख लेनेसे नयी-नयी कामनाएँ उत्पन्न होती रहेंगी, जिसका कभी अन्त नहीं आयेगा।

मानकर निःस्वार्थभावसे ( संसारकी ही मानकर ) संसारकी ही सेवामें लगा देता है। उसे पूरी-की-पूरी संसारकी सेवामें लगा देता है, अपने पास बचाकर नहीं रखता। अपना न माननेसे ही वह पूरी-की-पूरी सेवामें लगती है, अन्यथा नहीं।

कर्मयोगी अपने लिये कुछ करता ही नहीं, अपने लिये कुछ चाहता ही नहीं और अपना कुछ मानता ही नहीं। इसलिये उसमें कामनाओंका नाश सुगमतापूर्वक हो जाता है। कामनाओंका सर्वथा नाश होनेपर उसके उद्देश्यकी पूर्ति हो जाती है, और वह अपने-आपमें ही अपने-आपको पाकर कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर जो उपर्युक्त पुष्पिका दी गयी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य और भाव ही प्रकट किया गया है।

ॐ, तत्, सत्—ये तीनों सच्चिदानन्दघन परमात्माके पवित्र नाम हैं*। ये मात्र जीवोंका कल्याण करनेवाले हैं। इनका

* ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। ( गीता १७। २३ )

उच्चारण परमात्माके सम्मुख करता है और शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंके अङ्ग-वैगुण्यको मिटाता है। इसलिये गीताके अध्यायका पाठ करनेमें श्लोक, पाद और अक्षरोंके उच्चारणमें तथा उनका अर्थ समझने आदिमें जो-जो भूलें हुई हैं, उनका परिमार्जन करनेके लिये और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक भगवत्-सम्बन्धकी याद आनेके लिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें 'ॐ तत्सत्' का उच्चारण किया गया है।

स्वयं श्रीभगवान्‌के द्वारा गायी जानेके कारण इसका नाम **'श्रीमद्भगवद्गीता'** है *। यद्यपि संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार इसका नाम **'गीतम्'** होना चाहिये था, तथापि उपनिषद् होनेसे स्त्रीलिङ्ग शब्द 'गीता'का प्रयोग किया गया है।

इसमें सम्पूर्ण उपनिषदोंका सारतत्त्व संगृहीत है † और यह स्वयं भी भगवद्वाणी होनेसे उपनिषद्-स्वरूप है, इसलिये इसे **'उपनिषद्'** कहा गया है।

---

* गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥ (महा० भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भलीभाँति गान (पठन-मनन-धारण) करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि यह स्वयं पद्मनाभ भगवान् विष्णुके मुखकमलसे प्रकट हुई है।'

† सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषदें गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दुहनेवाले हैं, अर्जुन बछड़ा हैं, गीतारूप अमृत ही दूध है और श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुष ही उसका पान करनेवाले हैं।'

सगुण-निर्गुण परमात्माके परमतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है, और सगुण-निर्गुण परमात्माके साथ अपने नित्य-सम्बन्धका अनुभव करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'योगशास्त्र' है।

यह साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तप्रवर अर्जुनका संवाद है। अर्जुनने निःसंकोचभावसे बातें पूछी हैं और भगवान्‌ने उदारतापूर्वक उनका उत्तर दिया है। इन दोनोंके ही भाव इसमें हैं। इसलिये इन दोनोंके नामसे इस गीताशास्त्रकी विशेष महिमा होनेसे इसे 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' नामसे कहा गया है।

इस तीसरे अध्यायका नाम 'कर्मयोग' है; क्योंकि कर्मयोगका जितना विशद वर्णन तीसरे अध्यायमें है, उतना गीताके अन्य अध्यायोंमें नहीं है।

## तीसरे अध्यायके पद, अक्षर एवं उवाच

( १ ) इस अध्यायमें 'अथ तृतीयोऽध्यायः' के तीन, उवाचके आठ, श्लोकोंके पाँच सौ बयालीस और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ छियासठ है।

( २ ) इस अध्यायमें 'अथ तृतीयोऽध्यायः' में सात, उवाचमें छब्बीस, श्लोकोंमें एक हजार तीन सौ छिहत्तर और पुष्पिकामें पैंतालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार चार सौ चौवन है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो 'अर्जुन उवाच' और दो 'श्रीभगवानुवाच'—इस प्रकार चार उवाच हैं।

## तीसरे अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके तैंतालीस श्लोकोंमेंसे—पहले और सैंतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा ग्यारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'र-विपुला'; पाँचवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला'; उन्नीसवें, छब्बीसवें और पैंतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा आठवें और इक्कीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला'; और सातवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' और तृतीय चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'संकीर्ण-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष तैंतीस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।



# आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते ।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते ॥
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि, कामासक्तिहरा ।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि, विद्या ब्रह्म परा ॥ जय०
निश्चल-भक्ति-विधायिनि, निर्मल, मलहारी ।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी ॥ जय०
राग-द्वेष-विदारिणि, कारिणि मोद सदा ।
भव-भय-हारिणि, तारिणि, परमानन्दप्रदा ॥ जय०
आसुर-भाव-विनाशिनि, नाशिनि तम-रजनी ।
दैवी सद्गुणदायिनि, हरि-रसिका सजनी ॥ जय०
समता-त्याग सिखावनि, हरि मुखकी बानी ।
सकल-शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी ॥ जय०
दया-सुधा बरसावनि मातु ! कृपा कीजै ।
हरिपद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै ॥ जय०